पृष्ठ ४००

● प्रकाशक
श्री रतन जैन पुस्तकालय
पाथर्डी (अहमदनगर, महाराष्ट्र)

● प्रकाशन
वि० सं० २०२९, वसन्त पचमी
१९७३, फरवरी

● व्यवस्था—
सजय साहित्य सगम
दास बिल्डिंग, न० ५
बिलोचपुरा आगरा-२

● मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
राष्ट्रीय आर्ट प्रिंटर्स
मोतीलाल नेहरू रोड, आगरा-३

● मूल्य . छह रुपये मात्र

प्रकाशकीय

श्रमण सघ के द्वितीय पट्टधर परमश्रद्धेय आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० सा० के प्रवचनो का सग्रह पाठको मे लोकप्रिय होता जा रहा है, अध्यात्म-रसिक जिज्ञासुओ मे उसकी माँग बढती जा रही है—यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

आचार्य श्री की प्रवचन माला का योजनावद्ध प्रकाशन हमने गत वर्ष ही प्रारम्भ किया था। इसकी मूल प्रेरणा तो हमे जिज्ञासु पाठको से ही मिली, उसी से प्रभावित होकर आचार्य श्री के अतेवासी एव सुयोग्य शिष्य श्री कुन्दन-ऋषि जी ने प्रवचन-प्रकाशन की भावना विगत खुशालपुरा चातुर्मास मे श्रावक सघ के समक्ष व्यक्त की। वहाँ के उत्साही श्रावक सघ ने इन प्रवचनो के सकलन एव सम्पादन-प्रकाशन मे उचित उत्साह प्रदर्शित किया और यह कल्पना साकार रूप लेने लगी। अल्पसमय मे ही 'आनन्द प्रवचन' के दो भाग प्रकाशित हो गये और यह तृतीय भाग आपके समक्ष है।

प्रवचनो का सपादन बहन कमला जैन 'जीजी' ने बडी ही कुशलता तथा शीघ्रता के साथ किया है। इनके प्रकाशन मे भी अनेक सद्गृहस्थो ने सहयोग प्रदान किया है (जिनकी शुभ नामावली अगले पृष्ठो पर अकित है) साथ ही श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' ने इनको सुन्दर व शीघ्र मुद्रित कराकर पुस्तकाकार रूप दिया है। पडितरत्न श्री विजयमुनि जी शास्त्री ने इसका आदि वचन लिखकर पुस्तक के गौरव मे चार चाँद लगा दिये-है। इन सब के उदार सहयोग के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

आशा और विश्वास है कि प्रथम दो भागो की भाँति यह तृतीय भाग भी पाठको को रुचिकर व पठनीय लगेगा।

मन्त्री

श्री रतन जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

आदिवचन

परमश्रद्धेय आचार्य सम्राट पूज्यप्रवर श्री आनन्दऋषि जी महाराज से आज कौन व्यक्ति अपरिचित होगा ? उनके परिचितो को खोज निकालना कठिन नही है। लेकिन उस व्यक्ति को खोज निकालना सरल बात नही होगी, जो उनके जादू-भरे व्यक्तित्व से आज तक अपरिचित रहा हो। समग्र जैन समाज ही आज उन्हे अपना श्रद्धेय नही मानता, बल्कि जो जैन नही हैं, वे जैनो से भी अधिक तन्मयता के साथ, अपार निष्ठा के साथ, उन्हें अपना पूज्य मानते हैं, उन्हे अपना देवता मानते हैं, उन्हे अपना भगवान मानते हैं। वस्तुत आचार्य श्री अपने मे महानतम हैं।

अभी पिछले वर्ष तक मैं महाराष्ट्र मे था। महाराष्ट्र प्रान्त के नगर-नगर मे और ग्राम-ग्राम मे मैंने परिभ्रमण किया है। आचार्यश्री की जन्मभूमि और दीक्षाभूमि भी देखने का सद्भाग्य मुझे मिला। मैं यह देखकर चकित रह गया कि महाराष्ट्र की जनता के मन पर उनके जादू-भरे व्यक्तित्व की एक अमिट छाप है। वहाँ के लोग आनन्द विभोर होकर कहते हैं—"मानव जीवन का चरम लक्ष्य है आनन्द। और वह हमे मिल गया है। इस आनन्द को पाकर हम स्वय आनन्दमय चित्त मे इतने निमग्न हो चुके हैं कि अब हमे किसी अन्य आनन्द की न आकाक्षा है, और न अभिलाषा ही।" इसी को मैं व्यक्तित्व का चमत्कार कहता हूँ। यही है, जीवन की उच्चतम दशा।

आज का बुद्धिवादी व्यक्ति इस भावना को श्रद्धा का अतिरेक भी कह सकता है। परन्तु, यदि किसी मानव ने आज तक कुछ पाया है, तो यह सत्य है कि वह उसे श्रद्धा के अतिरेक मे से ही उपलब्ध हो सका है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो कुछ पाया, गौतम ने महावीर से जो कुछ पाया, तथा आनन्द ने बुद्ध से जो कुछ पाया, वह सब कुछ श्रद्धा की चरम-परिणति है। श्रद्धा-शून्य व्यक्ति को कुछ भी उपलब्ध करने की निश्चित ही असभावना है। आचार्यश्री स्वय ही श्रद्धामय पुरुष हैं। श्रद्धा ही उनका जीवन है, और श्रद्धा ही उनका प्राण है। श्रद्धा मे से श्रद्धा ही उपलब्ध हो सकती है, अश्रद्धा कभी नही।

महाराष्ट्र सतो की पावन-भूमि रहा है। महाराष्ट्र की भूमि के कण-कण मे श्रद्धा, प्रेम और सद्भाव परिव्याप्त है। यदि महाराष्ट्र का वास्तविक

परिचय पाना हो, तो आपको कम से कम वहाँ के तीन सतो का परिचय पाना ही होगा—सत ज्ञानेश्वर, सत तुकाराम, और सत समर्थरामदास। सत ज्ञानेश्वर ने गीता पर जो ज्ञानेश्वरी टीका लिखी है, वह उनकी शिक्षा का फल नही है, वह उनके अनुभव का परिणाम है। सत तुकाराम ने जो अभग छन्दो मे पद्यो की रचना की है, वह किसी स्कूल की शिक्षा नही है, वह उनके जीवन की गहराई मे से मुखरित हुआ है। सत समर्थ रामदास ने अपने दास वोध मे जो कुछ लिखा है, जो कुछ वोला है, और जो कुछ उपदेश दिया है, वह कही वाहर से नही, उनके हृदय के अन्तस्तल से ही अभिव्यक्त हुआ है। महाराष्ट्र के सतो की इस पावन-परम्परा की जीवन्त कडी है परम श्रद्धेय आचार्य सम्राट आनन्दऋषि जी महाराज। गुरु कौन हैं ? सत का लक्षण क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे अध्यात्मयोगी श्रीमद राजचन्द्र जी ने अपने आत्म-सिद्धि ग्रन्थ मे कहा था—

आत्म-ज्ञान समदर्शिता,
विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्ववाणी परमश्रुत,
सद्गुरु लक्षण योग्य ॥

आचार्य श्री इस अर्थ मे वे गुरु हैं, जिसमे समस्त लक्षण घटित हो जाते हैं। उनकी वाणी निश्चय ही अपूर्व है। उनका श्रुत निर्मल है। आत्म-ज्ञान ही उनके जीवन का लक्ष्य है। शान्त स्वभाव होने के कारण और उदार भावना के कारण समदर्शिता भी उनमे मुखरित हो उठी है। सत तुकाराम के शब्दो मे वे जव महाराष्ट्र की जनता को अपनी वाणी से मन्त्र-मुग्ध कर देते हैं, तो जनता झूम उठती है। जिन लोगो ने उनकी अमृत वाणी का पान मराठी भाषा मे किया है, वे कहा करते हैं कि जितना माधुर्य और जितना ओज, उनकी मराठी भाषा मे है, उतना अन्य भाषा मे नही। अपने प्रवचन के मध्य मे जव वे ज्ञानेश्वर की ओवी और सत तुकाराम का अभग तथा समर्थ रामदास जी का "मनाचे श्लोका" वोलते हैं तो ऐसा लगता है कि वे तीनो सत ही साक्षात् अपने सहज भाव मे और सहज स्वर मे वोल रहे हो। यही कारण है कि उनके प्रवचनो मे मराठी भाषा की कविताएँ प्रचुर मात्रा मे उपलव्ध होती हैं। जैसे—

पोटा साठी खटपड करिशी अवघा वील।
राम नाम घेता तुझी वसती दातखील ॥

पेट के लिए तो तुम हर समय खटपट करते हो। कभी भाषणवादी, कभी लोगो को भुलावा देनेवाली चटपटी बातें, और कभी धन-कुबेरो की अथवा अफसरो की खुशामद करने मे नही चूकते। किन्तु जब ईश्वर भजन करने का अथवा राम-नाम लेने का समय आता है, तो मानो तुम्हारी जबान गूंगी हो जाती है, अथवा तुम्हारे दांत एक दूसरे से चिपक जाते हैं। सत तुकाराम का एक दूसरा अभग भी पढिए और उसका आनन्द लीजिए—

द्रव्याचि या आशा तुजला दाही दिशा न पुरती।
कीर्तनाशी जाता तुझी जड़ झाली माती॥

इस धन की अभिलाषा लिए हुए तो तुम दसो दिशाओ मे जाने के लिए सदा तैयार रहते हो, यहां तक कि दस दिशाएँ भी तुम्हारे लिए पूरी नही पडती। किन्तु, धर्म की साधनारूपी एक दिशा मे जाना तुम्हारे लिए कठिन हो जाता है। सत तुकाराम अपने एक दूसरे अभग मे ससारी आत्माओ को उद्‌बोधन देते हुए कहते है कि—

"आशा-तृष्णा माया अपमानाचे बीज,
नाशिलि या पूज्य होइजे ते।"

आशा, तृष्णा और माया ये तीनो अपमान के बीज हैं। इनका नाश करने पर ही मनुष्य पूजनीय हो सकता है। वस्तुत. भारतीय सतो ने जहाँ वैराग्य-सरिता प्रवाहित की है, वहाँ उन्होंने इच्छा, तृष्णा एव माया का भी विरोध किया है। आचार्य श्री की वाणी मे, उनके अमृतमय प्रवचनो मे इस प्रकार के उद्धरण स्थान-स्थान पर मोती के समान जडित होते रहते हैं, और उनका प्रभाव श्रोताओ के मन एव मस्तिष्को पर गहरी छाप छोड जाते हैं। इसी प्रकार आचार्य श्री के प्रवचनो मे प्राकृतभाषा, सस्कृतभाषा, हिन्दी भाषा और फारसी भाषा के पद्य भी यथा-प्रसग और यथावसर सहजभाव से उनके श्री मुख से फूल जैसे झरते रहते है। यह उनके अपने प्रवचनो की एक विशेषता ही है कि वे अपने अनुभव का समन्वय अपने से पूर्व आचार्यों एव संतो की वाणी से करते जाते हैं। यही कारण है कि उनके प्रवचनो मे माधुर्य एवं गाभीर्य प्रस्फुटित होता रहता है। आचार्य श्री की प्रवचन शैली बडी अद्‌भुत है, उनकी भाषा बडी मधुर है, और उनके भाव गम्भीर होने पर भी सर्व सामान्य जनता की पकड मे आसानी से आ जाते हैं। वक्तृत्वकला की यह सबसे बडी सिद्धि एव सबसे बडी सफलता मैं मानता हूँ।

आचार्य श्री के प्रवचनो का सकलन, सपादन एव प्रकाशन होना प्रारम्भ

हो चुका है । यदि आज से बहुत वर्षों पहले यह कार्य प्रारम्भ हो गया होता तो अभी तक जनता काफी लाभान्वित हो चुकी होती । आनन्द-प्रवचन के प्रथम भाग एव द्वितीय भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है । इस तीसरे भाग मे जीवनोपयोगी तथा हृदय-स्पर्शी अनेक विषयो का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है । जैसे—क्रिया, ज्ञान और श्रद्धा । पुरुषार्थ से सिद्धि, निद्रा त्यागो, अल्प भोजन और ज्ञान साधना, मौन की महिमा, सत्सगति दुर्लभ ससारा, ज्ञान प्राप्ति का साधन विनय, तपो हि परम श्रेय , असार-ससार, स्वाध्याय परम तप, दीप से दीप जलाओ, इन्द्रियो को सही दिशा बताओ, तपश्चरण किसलिए ? विनय का सुफल, सत्य का अपूर्व बल, आत्म-साधना का मार्ग, मुक्ति का मूल श्रद्धा आदि-आदि अनेक नैतिक एव धार्मिक विषय इस तृतीय भाग मे सकलित एव सम्पादित किए गए हैं ।

आनन्द-प्रवचन के तृतीय भाग मे सपादक ने जो श्रम किया है, निश्चय ही वह सफल हो गया है । प्रकाशक ने इन प्रवचनो का प्रकाशन करके धार्मिक जनता के मानस मे सुसस्कारो का जो बीज-वपन किया है, वे अवश्य ही धन्य-वाद के पात्र है । परम स्नेही मुनिवर प० प्रवर श्री कुन्दनऋषिजी ने इतने सुन्दर प्रवचनो का सकलन कराने का जो श्रेय किया है, उसके लिए मैं परम प्रसन्न हूँ । आशा है, भविष्य मे भी वे अपने इस प्रयत्न को गतिशील रखेंगे । प्रसिद्ध साहित्यकार एव लेखक श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' के परिश्रम ने एव उनकी मुद्रण कला ने प्रस्तुत प्रकाशन मे निश्चय ही सोने मे सुगन्ध का कार्य किया है । ये सभी सहयोगी बड़े भागी हैं, इस अर्थ मे कि इन्होने एक महा-पुरुष की वाणी को सामान्य जनता तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है ।

जैन भवन
मोती कटरा, आगरा
२६-१२-७२

—विजयमुनि शास्त्री

अपनी बात

पाठको !

आपने कही पढा होगा कि स्वामी विवेकानन्द जी घूमते-घामते एक वार किसी ऐसे स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ किसी भवन का निर्माण कार्य चल रहा था । अनेको कारीगर और मजदूर अपने-अपने कार्य मे जुटे हुए थे ।

स्वामी जी कुछ देर ठहर कर यह देखते रहे । इतने मे एक व्यक्ति ईंट और पत्थर अपने मस्तक पर ढोकर लाता हुआ दिखाई दिया । विवेकानन्दजी ने कुतूहलवश उससे पूछ लिया—"भाई ! यहाँ क्या वना रहे हो तुम ?"

उस व्यक्ति ने स्वामी जी को देखा तो अपने मस्तक पर रखा हुआ ईंटो का तसला नीचे पृथ्वी पर रख दिया और हाथ जोडकर नमस्कार करते हुए अत्यन्त गद्गद् स्वर से वोला—"महाराज ! यहाँ भगवान का मन्दिर वन रहा है । वन जाने पर सैंकडो-हजारो व्यक्ति आकर देव-दर्शन करेंगे तथा भक्तिपूर्वक पूजा-पाठ करके मनवाछित फल पाएँगे । मैं भी वडा भाग्यवान हूँ कि मुझे पहले ही भगवान के इस मन्दिर के निर्माण कार्य मे अपना थोडा-सा सहयोग देने का सुअवसर मिल गया है ।"

वन्धुओ, इसी प्रकार श्रमण सघ के आचार्य सम्राट अपने सदुपदेशो के द्वारा जो आध्यात्मिक साहित्य का भडार भर रहे हैं उसका वर्तमान मे भी मुमुक्षु लाभ उठा रहे हैं और चिरकाल तक उठाते रहेगे । किन्तु इसके सृजन सम्पादन के रूप मे मुझे भी पहले ही जो लाभ मिल रहा है उसके लिये मेरे हृदय मे आन्तरिक एव असीम प्रसन्नता है ।

आपके समक्ष "आनन्द-प्रवचन" का यह तीसरा भाग आया है और मुझे परम सन्तोष है कि इससे पूर्व मेरे द्वारा सम्पादित दोनो भागो को भी आप लोगो ने पसद किया है । यही कारण है कि इस तीसरे भाग के सम्पादन मे मेरा उत्साह वढा है ।

मुझे आशा है कि इसे भी आप पसद करेंगे तथा भविष्य के लिये मुझे प्रेरणा तथा उत्साह प्रदान करेंगे।

इस तृतीय भाग के सम्पादन मे प्रकाण्ड विदुपी महासती श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' का जो सहयोग और सद् प्रेरणा मिली है उसके लिये मैं बहुत आभारी हूँ।

अन्त मे केवल इतना ही कि "आनन्द-प्रवचन" के प्रथम दोनो भागो के समान ही इस तीसरे भाग से भी पाठक अधिकाधिक लाभ उठाएँगे तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक समझूंगी।

—कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

आनन्द प्रवचन—तृतीय भाग के प्रकाशन मे उदारतापूर्वक सहयोग देने वाले सद्‌गृहस्थों की

शुभ नामावली

१००१) राजमलजी वाफना, गौतमपुरा
१००१) मानकचन्दजी राजमलजी जैन, इन्दौर
११०१) मैनाबाई जैन, देहली
५०१) सौ० चन्द्रकुवर वाई चन्दनमल जी जैन, सुजालपुर मण्डी
५०१) मुन्सीराम टेकचन्दजी जैन, देहली
५०१) फूलचन्दजी फूलफगर, औरगावाद
५०१) पृथ्वीराजजी चन्दूलाल जी बोथरा, चाकन
५०१) रामा जैन हौजरी, लुधियाना
५०१) गेनमलजी मानकचन्द जी भलगट, नारायणगांव
५०१) भिकचन्दजी चन्दनमल जी राका, खुशालपुरा
५००) पानकुंवर वाई C/o पन्नालाल जी जागडा, जालना
५०१) बिरजीवाई C/o चम्पालाल जी वैद, चन्द्रपुर
५०१) सौ० सन्तोपदेवी प्रेमसागर जी जैन, गोविन्दगढ
५०१) जमनालाल जी रामलाल जी किमती, इन्दौर
२५०) ज्ञानचन्द जी चमन लाल जी जैन, मालेर कोटला
२५०) पन्नादेवी C/o खेरातीलाल जी जैन, ,,
२५०) टेकचन्द्र जी जैन, ,,
२५०) विरुमल जी रामधारीलाल जी जैन ,,
२५०) श्रीराम जी सराफ जैन, ,,
२५०) हुकुमचन्द्र जी जैन ओसवाल, ,,
१५१) लखमीचन्द जी हस्तीमल जी ओसवाल, शाजापुर
१५०) जगन्नाथ जी सुरेन्द्र कुमार जी जैन, मालेरकोटला
१०१) गण्डाराम जी जैन ,,
२५१) जवाहरलाल जी सायरचन्द्र जी धोका, यादगीरी

विषय-सूची

करें तथा अपनी क्रियाओ के द्वारा वह ज्ञान को सफल वनाए । अन्यथा उसका प्राप्त होना न होना वरावर हो जाएगा । शास्त्रो मे कहा गया है—

"क्रियाविरहित हन्त ! ज्ञान मात्रमनर्थकम् ।"

—ज्ञानसार

अर्थात्—वह ज्ञान निरर्थक ही है जो व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि उत्तम क्रियाओ से रहित है ।

आचरण का महत्व

मनुष्य के जीवन मे आचरण का वडा भारी महत्त्व है । वही मानव महामानव वन सकता है जिसका चरित्र उच्चकोटि का हो ।

वहुत समय पहले मैंने अग्रेजी की एक पुस्तक देखी थी जिसके चारो कोनो पर चार वाक्य लिखे हुए थे । आपको भी मैं वताना चाहता हूँ कि वे वाक्य कौन-कौनसे थे और उनके द्वारा जीवन का किस प्रकार विश्लेपण किया गया था ?

पुस्तक के पहले कोने पर दिया था—"Blood is Life." खून ही जीवन है । हम जानते भी हैं कि खून का शरीर के लिए अनन्यतम महत्व है । अगर वह नही है तो शरीर का अल्पकाल के लिए टिकना भी कठिन हो जाता है । जो कुछ मनुष्य खाता है उसका पाचन होने पर रस वनता है और उसी से रक्त का और वीर्य का निर्माण होता है जो कि जीवन को टिकाने के लिए अनिवार्य है । जिस व्यक्ति के शरीर मे खून का वनना वन्द हो जाता है उसका शरीर किसी भी हालत मे अधिक दिन नही टिकता । इसलिए कहा गया है कि खून ही जीवन है ।

अव पुस्तक के दूसरे कोने पर लिखा हुआ वाक्य सुनिये । वहाँ लिखा था—"Knowledge is Life" अर्थात्—ज्ञान ही जीवन है । ज्ञान के अभाव मे जीना कोई जीना नही है । पशुओ के शरीर मे खून काफी तादाद मे होता है किन्तु उनका जीवन क्या जीवन कहला सकता है ? कठिन परिश्रम किया, विवशतापूर्वक वोझा ढोया और मिलने पर चर लिया; वस प्रतिदिन यही क्रम चलता है । तो उन शरीरो मे खून रहने पर भी क्या लाभ है उससे ? पशु के अलावा मनुष्य को भी लें तो ससार मे अनेको मूर्ख तथा अज्ञानी व्यक्ति पाये जाते हैं जो कि पशुओ के समान ही पेट भरने के लिये परिश्रम कर लेते हैं और उदरपूर्ति करके रात्रि को सोकर विता लेते हैं । ऐसे व्यक्ति धर्म-अधर्म, पाप-

पुण्य, लोक-परलोक तथा जीव-अजीव आदि किसी भी तत्त्व को समझने का प्रयत्न नही करते । अपनी आत्मा के भविष्य की चिन्ता न करते हुए धर्माराधन की ओर फटकते ही नही, किसी भी शुभ क्रिया को करने की उनकी प्रवृत्ति नही होती । यह सब क्यो होता है ? सिर्फ ज्ञान के अभाव के कारण । तो ऐसी जिन्दगी पाकर भी उसका पाना सार्थक कहलाता है क्या ? नही ! जीवन वही सफल कहलाता है जिसे ज्ञान के आलोक से आलोकित किया जाय । अर्थात् मानव को ज्ञान की प्राप्ति करके उसकी सहायता से अपनी आत्मा को जानना-पहचानना चाहिये, उसके विकास और विशुद्धि का विचार करना चाहिये तथा उसमे छिपी हुई अनन्तशक्ति और अनन्तशाति की खोज करना चाहिये, तभी वह अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक कर सकता है यानी मुक्ति-पथ पर बढ सकता है । कहा भी है—

"तपसा किल्विष हन्ति, विद्ययाऽमृतमश्नुते ।"

—मनुस्मृति

तप की साधना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान की आराधना करने से "आत्मा की अमृतता" प्राप्त होती है ।

कोई प्रतिबन्ध नहीं

इस ससार मे हम प्राय देखते हैं कि मनुष्य ज्ञान की प्राप्ति मे बहुत शीघ्र निराशा का अनुभव करने लगता है । वह धन-प्राप्ति की आशा, स्वास्थ्य लाभ की आशा और पुत्र-पौत्रादि की बढ़ोतरी की आशा का कभी त्याग नही करता किन्तु ज्ञान-प्राप्ति की आशा तनिक-सा कारण बनते ही त्याग देता है । घर-गृहस्थी का कर्तव्य-भार मस्तक पर आते ही अथवा उम्र के थोडा-सा बढते ही वह अपने आपको ज्ञान-प्राप्ति के अयोग्य समझने लगता है ।

किन्तु यह उसकी महान भूल है । ज्ञान-प्राप्ति मे समय, काल अथवा उम्र का कोई प्रतिबन्ध नही है । उसके लिये तो 'जब जागे तभी सवेरा' साबित होता है । अत जितना भी समय और जैसी भी सुविधा मिले, उसे ज्ञान का छोटे से छोटा अश भी ग्रहण करते रहना चाहिये । नीतिज्ञो का कथन भी है—

"क्षणश कणश चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।"

धनवान बनने के लिये तो एक-एक कण का भी सग्रह करे और विद्वान बनने के लिये एक-एक क्षण का भी सदुपयोग करे ।

ऐसा क्यो कहा जाता है ? इसीलिए कि सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करने पर ही

मनुष्य मुक्ति रूप सिद्धि को हासिल कर सकता है और ऐसी महान सिद्धि एक जन्म के प्रयत्न से नही, अपितु अनेक जन्मो तक प्रयत्न करने पर प्राप्त हो सकती है। जैसा कि कहा गया है

"अनेकजन्मससिद्धिस्ततो याति परा गतिम्।"

सिद्धि का द्वार अनेक जन्म-जन्मान्तरो तक प्रयत्न करने पर ही खुल पाता है।

इस कथन से स्पष्ट है कि मानव को जीवन के अन्त तक भी अगर ज्ञान-प्राप्ति का अवसर मिले तो चूकना नही चाहिये तथा किसी भी प्रकार की निराशा का अनुभव नही करना चाहिये।

आत्मा का एकमात्र साथी

जैन दर्शन के महान् ज्ञाता श्री वादिदेव सूरि के पास एक वृद्ध पुरुष ने सयम ग्रहण किया। सयम ग्रहण करने के पश्चात् श्री वादिदेव सूरि ने अपने वय प्राप्त शिष्य को ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा दी।

वृद्ध सत ने अपने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके ज्ञानाभ्यास करना प्रारम्भ किया। और वे प्रतिदिन एकात मे बैठकर कुछ न कुछ याद करने लगे।

उन्हे ऐसा करते देखकर पडौस मे रहने वाले एक व्यक्ति ने यह सोचकर कि बूढा तोता अब क्या राम-राम पढेगा, उनका उपहास करना प्रारम्भ किया। एक दिन उसने जहाँ वे वृद्ध सन्त ज्ञानाभ्यास करते थे वही पर एक मूसल लाकर जमीन मे गाड दिया और प्रतिदिन उसको पानी से सीचने लगा।

सन्त को उस व्यक्ति का यह कार्य देखकर बडा आश्चर्य हुआ। कुतूहल न दवा सकने के कारण उन्होंने एक दिन उससे पूछ लिया—"भाई, इस मूसल को सीचने से क्या लाभ होगा?"

व्यक्ति बोला—'मैं इसे इसलिये सीचता हूँ कि किसी दिन यह हरा-भरा हो जाएगा और इसमे फूल व फल लग जाएँगे।"

सत चकित हुए। बोले—"भला यह सूखी लकडी का मूसल कभी भी हरा-भरा हो सकता है?"

"क्यों नहीं, जब आप जैसे बूढे व्यक्ति भी अब विद्या प्राप्त कर सकते हैं तो इस मूसल मे फल-फूल क्यो नही लग सकते? जरूर लग सकते हैं।"

सत को यह सुनकर अपनी ज्ञान-प्राप्ति के विषय मे बडी आशका और

निराशा हुई। वे अपने गुरुजी के समीप पहुँचे और अपने प्रयत्न के विषय मे निराशा व्यक्त की।

गुरुजी ने दृढतापूर्वक कहा—"यह कैसी बात है ? मूसल जड है, परन्तु तुम चैतन्यशील हो। उसकी और तुम्हारी तुलना कैसे हो सकती है ?"

सत पुन बोले—'गुरुदेव, मैं वृद्ध जो हो गया हूँ अब कैसे ज्ञान प्राप्त कर सकता हूँ ?"

श्री वादिदेव सूरि मुस्कराये और बोले—"तुम्हारा यह शरीर बूढा हो सकता है किन्तु इसके अन्दर रही हुई आत्मा बूढी नही है। उसमे चैतन्यता का उज्ज्वल प्रकाश ज्यो का त्यो जगमगा रहा है। तुम्हे निराश होने का कोई कारण नही है। अभी तुम जितना भी ज्ञान प्राप्त कर लोगे वह तुम्हारी आत्मा का साथी बनकर सदा तुम्हारे साथ चलेगा। तुम्हारी अनन्त यात्रा का पाथेय बनकर वह तुम्हारे साथ ही रहेगा।

गुरु की बात सुनकर सत की आँखें खुल गई और उन्होने उसी क्षण से बिना किसी की परवाह किये तथा बिना तनिक भी निराशा का अनुभव किये ज्ञानार्जन मे चित्त लगाया और कुछ समय बाद ही एक महान विद्वान और दार्शनिक बन गए।

इस उदाहरण से आशय यही है कि मनुष्य को बिना किसी बाधा की परवाह किये तथा बिना उम्र बढ जाने की निराशा का अनुभव किये जीवन के अन्त तक भी ज्ञान-प्राप्ति की आकाक्षा और प्रयत्न का त्याग नही करना चाहिये। उन्हें भली-भाँति समझना चाहिये कि—

"गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधै ।"

बुद्धिमानो को वृद्धावस्था प्राप्त होने पर भी नवीन-नवीन विद्याओ को अपनी सम्पूर्ण शक्ति द्वारा सीखना चाहिये।

वस्तुत ज्ञान ही जीवन है। उसके अभाव मे मनुष्य पशु के समान है और पशुवत् जीवन का प्राप्त करना न करना समान है।

अब मैं आपको बताने जा रहा हूँ कि पुस्तक के तीसरे कोने पर क्या लिखा हुआ था ? वहाँ लिखा था—Truth is life अर्थात् सत्य ही जीवन है।

जिसने यह वाक्य लिखा होगा, उसका मतव्य यही है कि शरीर मे खून है, मस्तिष्क मे ज्ञान भी है किन्तु अगर हृदय मे सच्चाई नही है तो पूर्वोक्त

दोनो विशेषताओ के होने पर भी जीवन, जीवन नही कहलायेगा क्योकि सत्य की महिमा अनन्त है और वही धर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है। हमारे शास्त्रो मे सत्य का अद्वितीय महत्व बताते हुए कहा है—

"तं लोगम्मि सारभूय, गम्भीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरग मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततर सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहमलाओ, सुरभितरं गन्धमादणाओ।"

—प्रश्नव्याकरण सूत्र, २-२४

अर्थात्—सत्य लोक मे सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है। सुमेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है और सूर्यमण्डल से भी अधिक दैदीप्यमान है। इतना ही नही, वह शरत्कालीन आकाश से भी निर्मल और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभयुक्त है।

इस प्रकार जहाँ हमारे शास्त्रो मे सत्य का अनेक प्रकार से निरूपण करते हुए उसके अनेक अगो का तथा लक्षणो का विस्तृत विवेचन किया गया है, वहाँ सत्य को सर्वोच्च स्थान भी प्रदान किया गया है।

खेद की बात है कि आज के युग मे सत्य को कौडियो के मूल्य का बना दिया गया है। चद टको के लोभ मे ही मनुष्य अपने ईमान को व सत्य को बेच देता है। आज का शासन विधान सत्य की रक्षा नही कर पाता तथा प्रत्येक व्यक्ति रिश्वतखोरी, झूठी गवाही अथवा इसी प्रकार के असत्य एव अनीतिपूर्ण कार्य करके धनोपार्जन करने के प्रयत्न मे लगा रहता है। परिणाम यह होता है कि वह न तो सत्य को ही अपना पाता है और न ही सच्चे सुख की प्राप्ति ही कर पाता है। उसका सम्पूर्ण जीवन हाय-हाय करने मे ही व्यतीत होता है।

ऐसा क्यो हुआ ? इस विषय मे किसी विचारक ने बडी सुन्दर और अर्थ-पूर्ण कल्पना की है। उसने बताया है—

पात्र परिवर्तन

जब मनुष्य ने अपने जीवन की दीर्घयात्रा पर चलने की तैयारी की और उस पर चलने के लिये पहला ही कदम बढाया, ठीक उसी समय किसी अज्ञात शुभचिन्तक ने उसे दो पात्र दोनो हाथो मे थमा दिये। और चेतावनी दी—'देखो, अपने दाहिने हाथ मे रहे हुए पात्र की बडी सावधानी से रक्षा करना। अगर तुम ऐसा करते रहोगे तो तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन निश्चित और सुख से ओत-प्रोत रहेगा।"

अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ अत कृपा करके मुझे दीक्षा दीजिये ।"

गुरुदेव ने उससे कहा—'भाई ! दीक्षा लेना चाहते हो यह तो बहुत अच्छी बात है, मैं इससे इन्कार नही करता किन्तु साधु बनने के पश्चात् पूर्णतया अहिंसा का पालन करना पडेगा, सत्य बोलना होगा, चोरी नही करनी होगी, ब्रह्मचर्य से रहना और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना पडेगा ।"

उस व्यक्ति ने कहा—"मैं इन सबका पालन करूँगा ।" परिणाम यह हुआ कि उसे दीक्षा दे दी गई ।

किन्तु स्वाभाविक है कि कोई भी आदत जल्दी नही छूटती । एक दिन रात्रि के समय उस नवदीक्षित साधु ने अपनी पुरानी आदत के अनुसार किसी सत का रजोहरण, किसी का बिछावन, किसी की माला और किसी की पूजनी आदि अनेक वस्तुएँ इधर की उधर कर दी ।

अब हुआ क्या कि अँधेरे स्थानक मे सभी सत अपनी-अपनी आवश्यक वस्तुओ को खोजने मे परेशान होने लगे । बडा आश्चर्य हुआ कि यह गडबड कैसे हो गई ?

कारण जानने के लिये गुरु महाराज ने सभी से पूछना प्रारम्भ किया कि यह कार्य किसने किया और क्यो किया ? जब नवदीक्षित साधु से भी यह बात पूछी गई तो उसने कहा—"गुरुदेव ! यह सब मैंने ही किया है ।"

गुरुजी ने पुन प्रश्न किया—"तुमने ऐसा क्यो किया ? मैंने दीक्षा देने से पूर्व ही कहा था कि किसी की भी वस्तु बिना उसकी आज्ञा से नही उठानी होगी ।"

सत ने हाथ जोडकर कहा—"गुरुदेव ! मैंने किसी की भी चोरी नही की । एक भी वस्तु चुराकर अपने पास नही रखी । केवल आदत थी इसलिये आज इन वस्तुओ को इधर-उधर रख दिया है ।"

गुरुजी हँस पडे और बोले—"भाई । यह ठीक है कि तुमने किसी की वस्तु नही चुराई और तुम सत्य भी बोले हो किन्तु इस बात को भी ध्यान मे रखो कि दूसरे की वस्तु को भले ही चुराया न जाय पर बिना उसकी आज्ञा के हाथ भी लगाया जाय तो साधु को चोरी का दोष लगता है और उसके आचरण मे अशुद्धता आती है ।"

उस साधु को अपनी भूल समझ मे आ गई और फिर कभी भी उसने वैसा नही किया ।

बधुओ ! आप भी समझ गये होंगे कि वह सत चोरी करना बुरा समझते थे और सत्य भी बोलते थे किन्तु आचरण मे तनिक-सी असावधानी भी उनके जीवन को अशुद्ध बना रही थी जिसके लिए उन्हें सावधान होना पडा।

आशा है आपको ध्यान होगा कि हमारा आज के प्रवचन का मूल विषय क्रिया-रुचि को लेकर ही चल रहा है तथा हमे इसके महत्व को समझते हुए अपनी क्रिया अथवा आचरण की शुद्धि तथा दृढता के विषय मे समझना है।

चरित्र निर्माण

सर्व प्रथम प्रश्न यह उठता है कि चरित्र क्या है ? सक्षिप्त मे इसका उत्तर यही हो सकता है कि मनुष्य की भावनाओ और उसकी मन स्थितियो का सम्मिलित रूप ही चरित्र कहलाता है।

मनुष्य का मन भावनाओ का एक अक्षय भडार होता है। इसे सागर की उपमा दी जाय तो भी अतिशयोक्ति नही है। सागर मे जिस प्रकार प्रतिपल असख्य लहरें आती और जाती हैं, इसी प्रकार मन मे भी निरतर भावनाओ की लहरें उठती रहती हैं। उनमे कुछ शुभ और कुछ अशुभ होती हैं। यही भावनाएँ मनुष्य के चरित्र का निर्माण करती हैं। शुभ भावनाएँ उत्तम सस्कारो को बनाती हैं तथा अशुभ भावनाएँ कुसस्कारो को। व्यक्ति अगर अपनी कुभावनाओ पर काबू नही रख पाता तो उसके चित्त मे कुसस्कारो का बीज जम जाता है और वही धीरे-धीरे उसे कुकर्म करने के लिए प्रेरित करता है। और जो व्यक्ति दुर्भावनाओ के वेग मे नही बहता, उन्हे लहरो के समान आने और जाने देता है वह अपने हृदय मे शुभ भावनाओ को रोककर सुसस्कारो का निर्माण करता है तथा उनसे प्रेरणा पाकर सुकर्म करने लगता है।

ये सस्कार ही मानव के चरित्र का निर्माण करते हैं। अगर सस्कार शुभ हुए तो वह सच्चरित्र और सस्कार अशुभ हुए तो दुश्चरित्र व्यक्ति कहलाता है। कोई भी मनुष्य अपने जन्म से ही महान या निष्कृष्ट नही पैदा होता, वह शनै-शनै अपने एकत्रित किये हुए सस्कारो के बल पर ही उत्तम या अधम बनता है।

मनुस्मृति मे कहा गया है

"जन्मना जायते शूद्र. सस्काराद् द्विज उच्यते।"

जन्म से मनुष्य शूद्र ही पैदा होता है, किन्तु सस्कारो के उत्तम होने पर द्विज कहला सकता है।

कछुए के समान बनो !

एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि जिस प्रकार सागर मे लहरे अवश्यमेव उठती हैं, उन्हे उठने से रोका नही जा सकता, उसी प्रकार मन के इस अथाह समुद्र मे भी भावनाओ की तरगो को उठने से नही रोका जा सकता। इनको रोकना अथवा मन की भावनाओ पर काबू पा लेना सभव नही है। दूसरे शब्दो मे मनको मारना कठिन है।

फिर सवाल यह उठता है कि आखिर किया क्या जाय, जिससे मन की इन अशुभ भावनाओ के प्रभाव से बचा जा सके। इसका एकमात्र उपाय यही है कि मन-सागर मे उठने वाली कुभावनाओ को वे जिस प्रकार जन्म लेती है, उसी प्रकार बहते हुए निरर्थक जाने दिया जाय। जिस प्रकार कछुआ अपने सिर और पैरो को अपनी शरीर रूपी खोपडी के अन्दर कर लेता है और अनेक प्रहारो को सहकर भी उनसे प्रभावित नही होता, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपनी शुभ-भावनाओ को समेटकर अन्तरात्मा मे छिपा लेना चाहिए तथा अशुभ भावनाओ की तरगो को निरर्थक बह जाने देना चाहिए।

इसका परिणाम यह होगा कि अशुभ भावनाओ का प्रभाव मन पर अल्प-काल तक ही रहेगा। वास्तव मे देखा जाय तो चरित्र का निर्माण मन मे उठने वाली इन शुभ और अशुभ तरगो के द्वारा ही होता है। ये उठती है और उठकर पुन समाप्त भी हो जाती है। किन्तु इनकी असलियत समाप्त नही हो पाती। जिस प्रकार आग लगने पर उसे बुझा दिया जाता है पर कितना भी प्रयत्न क्यो न किया जाय उसका कुछ न कुछ चिह्न उस स्थान पर अवश्य रहता है। ठीक इसी प्रकार मन मे उठने वाली भावनाएँ भी अपनी कुछ न कुछ छाप अवश्य छोड जाती हैं। यद्यपि वे ऊपर से लक्षित नही होती किन्तु अज्ञात रूप से अपना काम करती रहती है अर्थात् मन के द्वारा शारीरिक क्रियाओ पर प्रभाव डालती है। बार-बार उठने वाली मन की लहरें जो कम या अधिक प्रभाव मन पर डालती है, वही सस्कार कहलाते है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन्ही सस्कारो के द्वारा निर्मित होता है। अगर शुभ सस्कारो की मुख्यता रही तो चरित्र उत्तम बनता है, और अशुभ सस्कारो की मुख्यता रही तो वह निम्न श्रेणी का माना जाता है। सस्कार मनुष्य के अनजाने मे ही उसके कर्मो पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक को चाहिए कि वह मन मे उठने वाली अशुभ भावनाओ का प्रभाव मन पर कम से कम पडे, इस प्रयत्न मे रहे। ऐसा करने पर उसके मन मे शुभ विचारो की प्रबलता रहेगी और वे अशुभ विचारो को दबाते हुए मनुष्य को

शुभ-कर्म या शुभ-क्रियाएँ करने के लिए प्रेरित करते रहेंगे तथा उसके चरित्र मे दृढता आ सकेगी। चारित्रिक दृढता के लिए अभ्यास की आवश्यकता अनिवार्य है। उसके अभाव मे उत्तम से उत्तम सस्कार भी अल्पकाल मे ही लोप हो जाते हैं।

असाधारण शक्ति का स्रोत—अभ्यास

अभ्यास की शक्ति का वर्णन शब्दो मे किया जाना सभव नही है। अभी मैंने आपको बताया है कि मन मे निरतर उठने वाली भावनाएँ धीरे-धीरे सस्कार बन जाती हैं और सस्कारो का समूह चरित्र के रूप मे प्रकट होता है। जब मन मे अधिक सस्कार इकट्ठे हो जाते हैं तो वे मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं। और वह स्वभाव तब कायम रहता है, जबकि मनुष्य अपने सस्कारो के अनुसार कर्म करने का प्रयत्न अथवा अभ्यास करता रहे।

ध्यान मे रखने की बात है कि मनुष्य भले ही अनेकानेक शुभ सस्कारो का धनी बन जाय किन्तु उन्हे कायम रखने के लिए अगर वह क्रिया के रूप मे उनका अभ्यास नही करेगा तो वे सस्कार उसके लिए लाभप्रद नही हो सकेंगे। अभ्यास के द्वारा कुसस्कारो को सुसस्कारो मे बदला जा सकता है तथा बुरी आदतो को अच्छी आदतो मे परिवर्तित किया जा सकता है। कोई व्यक्ति कितना भी पतित क्यो न हो, उसके लिए यह कहना कि वह कभी सुधर नही सकता, ठीक नही है क्योकि वह व्यक्ति केवल गलत अभ्यास के वशीभूत होता है और अगर उसे सत्सग मिले तथा शुभ कार्यों की प्रेरणा दी जाय तो धीरे-धीरे उन कार्यों का अभ्यास हो जाने मे वह निश्चय ही सुधारा जा सकता है। चरित्र केवल अभ्यास का प्रतीक होता है जो कि नवीन अभ्यास से पुन बदला जा सकता है।

अभ्यास मे असाधारण शक्ति निहित है किन्तु वह धीरे-धीरे प्राप्त होती है। आप लोग बडे-बडे पहलवानो को देखते हैं जो कि एक हजार दड बैठक एक बार मे लगा सकते है। किन्तु अगर उनसे आप पूछे कि आप मे इतनी शक्ति कहाँ से आई तो उत्तर यही मिलेगा कि प्रतिदिन अभ्यास करने से। पहले ही दिन हजार बैठके लगा लेना स्वस्थ से स्वस्थ व्यक्ति के लिए भी सभव नही है। वह जब प्रारम्भ करेगा दस, बीस, पच्चीस या अधिक तो पचास बैठको से भी प्रारम्भ कर लेगा पर हजार बैठके प्रतिदिन लगाने के लिए उसे बहुत दिनो तक अभ्यास करना ही पडेगा। शक्ति की परीक्षा, दिखाई देने वाले स्वस्थ शरीर मे नही अपितु अभ्यास से की जा सकती है।

प्रतियोगिता

कहा जाता है कि एक बार एक राजा और रानी अपने महल के झरोखे मे बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे तथा बाहर के सुन्दर दृश्यो का अवलोकन भी करते जा रहे थे । अचानक राजा पूछ बैठे—"रानी ? तुम्हारे शरीर मे ताकत अधिक है या मेरे शरीर मे ?"

रानी यह प्रश्न सुनकर मुस्कराई और बोली—

"इस विषय मे मैं क्या कहूँ महाराज ? आजमाइश करके देखना चाहिए ।"

"हाँ, यह बात ठीक है । देखो, महल के नीचे वह गाय का छोटा-सा बछडा है कुछ ही दिन का जन्मा हुआ । देखें हममे से कौन उसे उठाकर ऊपर लाता है ?" रानी राजा की इस बात पर सहमत हो गई ।

पहले राजा साहब नीचे गए और उस छोटे से बछडे को गोद मे उठाकर ऊपर ले आए तथा पुन ले जाकर नीचे छोड दिया । अब रानी की बारी आई । वह भी नीचे उतरी और बछडा छोटा-सा तो था ही अत वह भी उसे उठाकर ऊपर ले आई और नीचे लेजाकर छोड भी दिया ।

यह देखकर राजा बोले—"हम दोनो की ताकत समान है कोई अन्तर नही । "रानी ने कोई उत्तर नही दिया केवल हँस पडी ।

इसके बाद रानी के मन मे न जाने क्या बात आई कि वह प्रतिदिन एक बार नीचे जाती और उस बछडे को उठाकर ऊपर ले आती तथा वापिस छोड भी आती । यह क्रम बराबर एक वर्ष तक चलता रहा, रानी ने एक दिन भी बछडे को उठाकर ऊपर लाने मे नागा नही किया । बछडा अब एक वर्ष का हो चुका था ।

अब एक दिन पुन जबकि राजा ऊपर महल मे ही थे, रानी ने कहा—"महाराज ! आज हम फिर से देखें कि हम दोनो मे से किसी की ताकत घटी तो नही ?"

राजा ने उत्तर दिया—"न तो हम वृद्ध हुए हैं और न ही रोग-ग्रस्त । फिर ताकत क्यो घटेगी ? वह तो एक वर्ष पहले के समान ही होगी ।"

"फिर भी परीक्षा कर ली जाय तो क्या हर्ज है ?" रानी ने आग्रह किया ।

राजा प्रसन्नता के मूड मे तो थे ही, बोले—"अच्छी बात है ऐसा ही सही पर आज किस प्रकार हम अपनी शक्ति की परीक्षा करें ? बछडा तो बडा हो गया ?"

"वडा हो गया तो क्या हुआ ? हम उसी को उठाकर ऊपर लाने का प्रयत्न करेंगे। आपकी आज्ञा हो तो यह कार्य प्रारम्भ किया जाय ?"

"अच्छी वात है ऐसा ही सही। पर मैं मोचता हूँ कि मैं तो किसी तरह उसे उठाकर ले ही आऊँगा, असफल तुम्हे ही होना पडेगा ?" राजा ने पुरुप होने के नाते अपने वल का गर्व किया।

रानी मुस्कराई और वोली—"हाथ कगन को आरसी क्या ? अभी ही परीक्षा का परिणाम ज्ञात हो जाएगा। पहले आप उसे लाने का प्रयत्न कीजिए।"

यह सुनकर राजा महारानी को मात देने के इरादे से शीघ्रतापूर्वक नीचे उतर गए तथा वछडे को लाने की कोशिश करने लगे पर प्रथम तो वछडा अचानक ही राजा को देखकर विदकने लगा तथा इधर-उधर भागने लगा। दूसरे किसी तरह उसे पकडा तो माल भर मे उसमे काफी वोझ वढ जाने के कारण राजा उसे उठा ही नही सके। फलस्वरूप वे खाली हाथ लौटे और रानी से अपनी कठिनाई कह सुनाई।

सव कुछ सुनकर रानी वोली—"अव आप मुझे इजाजत दे तो मैं भी जाकर प्रयत्न करू ?"

रानी की वात सुनते ही महाराज जोर से हँस पडे और वोले—"वाह ! जव मैं ही उसे नही ला सका तो तुम क्या ला सकोगी ? व्यर्थ कोशिश करने से क्या लाभ है ?"

पर रानी ने किसी तरह राजा से हाँ कहलवा ली और वछडे को लाने के लिए नीचे उतर गई। वछडा रानी को नित्य देखने के कारण पहचानता था, अत तुरन्त उसके समीप आ गया। इसके अलावा वह रोज उसे उठाकर ऊपर लाती थी, उस अभ्यासवश शीघ्र ही उस दिन भी उठाकर ऊपर ले आई।

यह देखकर राजा भौचक्के मे रह गए। वोले—"वडे आश्चर्य की वात है कि जिसे मैं नही उठा सका उसी वछडे को तुम उठाकर ले आई ? इसका क्या कारण है ? क्या तुम मुझसे अधिक वलवान हो गई हो ?"

रानी हँस पडी और नम्रतापूर्वक वोली—"मैं आपसे अधिक शक्तिशाली नही हो गई हूँ महाराज ! वात केवल यह है कि मैं साल भर से इसे रोज उठाकर ऊपर लाती हूँ अत मुझे इसका वजन उठाने का अभ्यास हो गया है और आपने एक वर्ष पूर्व के उस दिन के वाद वजन उठाने का अभ्यास किया ही नही, अत आप एकाएक इसे नही उठा सके। शरीर की ताकत अभ्यास से

अनेक गुनी बढ जाती है। और अभ्यास के द्वारा कठिन से कठिन कार्य भी सभव हो जाता है।

सत तुकाराम जी ने भी अभ्यास का महत्व बताते हुए एक अभग मे कहा है —

ओले मूल भेदी, खड़काचे अंग,
अभ्यासाशीं सांग कार्य सिद्धि ॥१॥
दोरे चिराकापे पडिल्या काचणी,
अभ्यासे सेवनी विष पड़े ॥२॥

कहा गया है—किसी भी कार्य की सिद्धि अभ्यास से ही हो सकती है। ओले यानी गीली ! गीली और छोटी-सी कोमल जड मे भी अगर प्रतिदिन जल डाला जाय तो वह धीरे-धीरे इतनी ताकतवर हो जाती है कि पत्थर को भी भेद देती है।

इसी प्रकार जैसा कि हम प्राय देखते है कुए पर चलने वाले चरस की रस्सी जिस पत्थर पर से बार-बार आती और जाती है, उसे इतना घिस देती है कि पत्थर पर गहरा निशान या रास्ता बन जाता है।

यही सत तुकाराम जी ने कहा है कि कोमल रस्सी भी पुन-पुन आने और जाने के कारण पत्थर पर अपना मार्ग बना लेती है। पद्य मे आगे कहा है—

'अभ्यासे सेवनी विष पड़े।'

जिस जहर को खाने से अल्प-काल मे ही मनुष्य का प्राणात हो जाता है वही विप अभ्यासपूर्वक प्रतिदिन लेने से अमृत का कार्य करता है। यह भी कोई नवीन बात नही है। प्राय सुनने मे आता है कि अफीम का आदी व्यक्ति प्रारम्भ मे बाजरी के दाने जितनी अफीम लेता है, पर कुछ दिन बाद उसका अभ्यास हो जाने पर फिर ज्वार के दाने जितनी और उसके पश्चात् चने की दाल के बराबर और धीरे-धीरे दो आने-चार आने से बढाते-बढाते वह तोलेभर अफीम भी प्रतिदिन उदरस्थ कर लेता है। आश्चर्य की बात है कि तोलाभर अफीम खाकर वह नही मरता पर अगर अफीम न मिले तो मर जाता है। तो प्रतिदिन सेवन करने से वह उसके लिए अमृत ही हुआ न !

तो बन्धुओ, आप अभ्यास की महिमा को भली-भाँति समझ गए होगे कि इसके द्वारा किस प्रकार असभव को भी सभव बनाया जा सकता है। प्रत्येक कार्य चाहे वह अच्छा हो या बुरा, सफल तभी होता है जब कि उसके लिए

अभ्यास किया जाए। इसीलिए अगर हम अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त करके अनन्त सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं तो हमे तप, त्याग, सयम और मन पर विजय पाने का अभ्यास करना होगा। अपने ज्ञान को क्रियाओ मे उतारकर आचरण को शुद्ध और दृढ बनाना पडेगा। साधना पथ पर चलने के लिए इन दोनो की समान और अनिवार्य आवश्यकता है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषिजी महाराज ने भी कहा है —

ज्ञान क्रिया विन मोक्ष मिले नही,
श्री जिन आगम माही कही है।
एक ही चक्र से नाही चले रथ,
दो विन कारज होत नही है॥
ज्ञान है पागुलो अध क्रिया—
मिल दोनु कला करि राज ग्रही है।
कीजे विचार भली विध अमृत,
श्री जिन धर्म को सार यही है॥

हमारे आगम स्पष्ट कहते है कि जिस प्रकार रथ एक पहिये से कभी नही चलता उसमे दोनो चक्र समान रूप से आवश्यक हैं, उसी प्रकार मोक्ष मार्ग की साधना रूपी गाडी भी अपने ज्ञान और क्रिया रूपी दोनो पहियो के सहारे से ही आगे बढ सकती है। क्योकि ज्ञान प्रकाश का पुंज है किन्तु चलने मे असमर्थ है और क्रिया चलने मे समर्थ है पर मार्ग नही देख सकती। इसलिए मार्ग-द्रष्टा ज्ञान एव गति करने मे कुशल क्रिया, इन दोनो कलाओ के द्वारा मुमुक्षु को शिवपुर का साम्राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा जैन-धर्म यही कहता है।

अटूट आस्था

आत्मा को ससार मुक्त करना कोई सरल कार्य नही है। इसे सफल बनाने के लिए अन्त करण मे अटूट श्रद्धा या सम्यक् दर्शन होना चाहिए। दर्शन शब्द यहाँ श्रद्धा वाचक है, वैसे इसके कई अन्य अर्थ भी होते हैं।

दर्शन यानी देखना, दर्शन यानी नमस्कार करना, तथा दर्शन यानी सैद्धान्तिक विचार, यथा—न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शन, योगदर्शन आदि आदि। किन्तु यहाँ हम दर्शन का अर्थ श्रद्धा से ही ले रहे है।

सम्यकत्व के सडसठ बोल जो वताए गए हैं, उनमे पहला बोल है—'श्रद्धान चार ।' ये चार श्रद्धान क्या है ? अव हमे यह जानना है। विचार पूर्वक देखा जाय तो इनमे दो प्रकार की दवाएँ हैं और दो प्रकार के परहेज ।

आपको सुनकर आश्चर्य हो रहा होगा कि यह दवाइयां कैसी और परहेज कैसा ? पर यह सत्य है । शरीर के रोग को मिटाने के लिए जिस प्रकार दवा लेनी पडती है, उसी प्रकार अज्ञान और मिथ्यात्व रूपी रोग से ग्रसित होने के कारण आत्मा को पुन -पुन जन्म और मरण का कष्ट उठाना पडता है उसके निवारण के लिए भी दवा लेनी होती है तभी उससे छुटकारा मिल सकता है ।

आत्मिक रोग की औषधियां

आत्मा के रोग को मिटाने वाली औषधियो मे से प्रथम है—"परमत्थ सथवो वा" अर्थात् परमार्थ का परिचय करना। यह किस प्रकार किया जा सकता है ? नव तत्वो की जानकारी करने से। जीव क्या है ? अजीव क्या है ? पाप क्या है और पुण्य क्या है ? आश्रव किसे कहते हैं और सवर किसे ? निर्जरा कैसे होती है तथा बध और मोक्ष क्या हैं ?

जव व्यक्ति इन सवकी जानकारी भली-भांति कर लेता है तभी वह हेय और उपादेय के अन्तर को समझता है। उदाहरणस्वरूप—जब वह पाप के परिणाम और पुण्य के महत्व को तथा वध और निर्जरा के लक्षणो को जान लेगा तभी पाप-कर्मों के वध से बचने का प्रयत्न करेगा तथा पुण्योपार्जन करता हुआ पूर्व मे बधे हुए कर्मों की निर्जरा का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार परमार्थ का परिचय अथवा नौ तत्वो की जानकारी आत्मिक रोगो को दूर करने के लिए दवा सावित हुई न ? अगर इस अचूक औपधि का सेवन व्यक्ति बराबर करे तो निश्चय ही उसे आत्मा की समस्त बीमारियो से छुटकारा मिल सकता है।

अब हमे आत्मिक रोगो की दूसरी औपधि के विषय मे जानना है। ससार मे अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो घोर ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होने के कारण ज्ञान हासिल नही कर पाते और उसके अभाव मे जीव, अजीवादि तत्वो की जानकारी करने मे असमर्थ रहते हैं। बेवस होकर वे पूछ बैठते हैं—"हमारे पास ज्ञान नही है और इस वजह से हम परमार्थ का परिचय प्राप्त नही कर सकते, बुद्धिहीनता के कारण हम पाप एव पुण्यादि के विपय मे जान नही सकते तो हम क्या करें ?"

ऐसे लोगो के लिए ही दूसरी औषधि बताई है—सेवा-कार्य। कहा है—'भाई! अगर पुण्य की कमी के कारण तुम ज्ञान हासिल नही कर सकते हो तो ज्ञानी पुरुषो की सेवा करो! सेवा से भी अनन्त पुण्यो का उपार्जन हो सकता है। नौ प्रकार के पुण्योपार्जन के साधनो मे सेवा भी एक है। उसके लिए कुशाग्र बुद्धि या अगाध ज्ञान की आवश्यकता नही है। प्रत्येक व्यक्ति इस पवित्र कार्य को कर सकता है।

सेवा हृदय और आत्मा को पवित्र बनाती है तथा ज्ञान की प्राप्ति मे सहायक बनती है। सेवा का मार्ग भक्ति के मार्ग से भी महान है। गौतम बुद्ध का कथन था—'जिसे मेरी सेवा करनी है वह पीडितो की सेवा करे।' सेवा कार्य सहज नही है। तुलसीदास जी ने कहा भी है—

'सेवा धरम कठिन जग जाना।'

अर्थात्—सेवा करना बडा कठिन कार्य है। इसे करते हुए व्यक्ति को न जाने कितना अपमान, दुर्वचन, लाछन और तिरस्कार सहन करना पडता है। किन्तु अगर वह यह सब पूर्ण शान्ति और सतोषपूर्वक सहन करता है तो उसकी आत्मा निरन्तर विशुद्धता को प्राप्त होती जाती है। विपत्ति और पीडाग्रस्त प्राणियो की सेवा करना परम उत्कृष्ट धर्म है और इसे करने से अनन्त पुण्यो का संचय होता है। इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर जो प्राणी पर-सेवा को अपना मुख्य कर्त्तव्य नही मानता वह अपने जीवन का लाभ नही उठा सकता। इसलिए महापुरुष कहते हैं—

पास तेरे हैं कोई दुखिया तूने मौज उड़ाई क्या?
भूखा-प्यासा पड़ा पड़ौसी तूने रोटी खाई क्या?

आशय स्पष्ट है। इस पद्य मे स्वार्थी और विलासी व्यक्ति की भर्त्सना करते हुए कहा है—"अरे प्राणी, अगर तेरे समीप कोई अभावग्रस्त या रोग-पीडित दुःखी व्यक्ति घोर कष्टो मे से गुजर रहा है और तूने उसकी ओर ध्यान न देकर केवल अपनी ही मौज-शौक का ध्यान रखा है, अपने भोग-विलास के साधनो को जुटाने और उन्हे भोगने मे ही लगा रहा है तो तूने यह जीवन पाकर क्या किया? कुछ भी नही।"

तेरा पडौसी तन पर वस्त्र और पेट के लिए अन्न नही जुटा सका किन्तु तू प्रतिदिन नाना प्रकार के मधुर पकवान उदरस्थ करता रहा तो क्या हुआ? क्या इससे तेरी कीर्ति बढ गई? नहीं, अपना पेट तो पशु भी भर लेता है।

तूने उससे अधिक क्या किया ? अगाध ज्ञान और बुद्धि का धनी होकर तथा हृदय मे अनेको उत्तम भावनाओ का भडार रखकर भी तूने उनका उपयोग नही किया तो मानव तन पाने का तूने क्या लाभ उठाया ? यह मत भूल कि —

जीवित सफल तस्य य. परार्थोद्यत सदा ।

—ब्रह्मपुराण

उसी का जीवन सफल माना जाता है जो परोपकार मे प्रवृत्त रहता है ।

सेवा परोपकार का ही दूसरा नाम है । सेवाव्रती को निस्वार्थ भाव से सत-महात्माओ की, धर्म गुरुओ की, गुरुजनो की एव दुखी, दरिद्र और पीडितो की सेवा करनी चाहिए । जो ऐसा करते है वे वास्तव मे ही आत्मिक रोगो को नष्ट करने वाली औषधि का सेवन करते हैं तथा जन्म-मरण के दु खो से छुटकारा प्राप्त करके अनन्त सुख के अधिकारी बनते है ।

दोनों दवाओं के लिए परहेज

बधुओ, आपने जन्म-मरण के कष्टो से मुक्ति प्राप्त करने की दो औषधियो के विषय मे तो जान लिया किन्तु अब यह जानना भी आवश्यक है कि उन औषधियो के साथ परहेज कौन-कौन से रखने चाहिए ? क्योकि कोई भी दवा कारगर तभी होती है जबकि उसके अनुकूल परहेज भी रखा जाय । परहेज न रखने से दवा कभी ठीक असर नही कर पाती । परहेज और पथ्य ही दवा को शक्तिशाली बनाते हैं । सस्कृत के एक विद्वान ने तो पथ्य को दवा से भी अधिक गुणकारी बताया है । कहा है —

औषधेन विना व्याधि पथ्यादेव निवर्तते ।
न तु पथ्यविहीनस्य, भेषजाना शतैरपि ।।

श्लोक मे बताया है—बीमारी कभी-कभी बिना औषधि लिए केवल उचित परहेज और पथ्य का ध्यान रखने से भी ठीक हो सकती है, किन्तु पथ्य के अभाव मे तो सैकडो औषधियाँ लेने पर भी उसे ठीक नही किया जा सकता ।

अर्थात्—दवा नही ली पर परहेज रखा तो दो दिन बाद ही सही पर बीमारी स्वय ही ठीक हो जाएगी किन्तु दवा लेकर भी अगर परहेज सहित पथ्य का सेवन न किया तो वह दवा लेना निरर्थक होगा । इसीलिए अब हमे देखना है कि सासारिक कष्टो से निवृत्ति पाने के लिए बताई गई दोनो दवाओ के साथ परहेज कौन-कौन से बताए गए हैं ?

परहेज भी दो प्रकार के बताए गए हैं। जिनमे से प्रथम के विषय मे कहा है —

"धर्म पायने वमियो, तेनी संगत वरजे।'

धर्म को ग्रहण करके भी जिसने पुन उसे त्याग दिया हो यानी धर्म मार्ग पर चलते-चलते जो विचलित होकर पथ-भ्रष्ट हो गया हो, उसकी सगति वर्जित की गई है। धर्मभ्रष्ट व्यक्ति की सगति करने पर उसके कुछ न कुछ दोष आए विना नही रह सकते। कवि वृन्द ने भी कुसगति को अत्यन्त हानि-कारक माना है। कहा है—

आप अकारज आपनो, करत कुसगति साथ।
पांय कुल्हाड़ा देत है, मूरख अपने हाथ॥

जो व्यक्ति दुर्जनो की सगति करता है, ऐसा मानना चाहिए कि वह अपने पैरो मे कुल्हाडी मारकर अपनी ही हानि करता है।

वस्तुत सगति का असर हुए विना कदापि नही रह सकता। इसीलिए कवि वर रहीम ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं —

रहिमन उजली प्रकृति को, नहीं नीच का संग।
करिया वासन कर गहे, कारिख लागत अग॥

उजली प्रकृति अर्थात् उत्तम स्वभाव एव गुणो वाले व्यक्ति को कभी भी निकृष्ट विचारो वाले व्यक्ति की सगति नही करना चाहिए। अन्यथा जिस प्रकार पूरी सावधानी से भी कालिख लगे वर्तन को हाथ में उठाने से थोडी वहुत कालिख हाथो मे लग ही जाती है, उसी प्रकार दुर्गुणी व्यक्ति के ससर्ग मे रहने से कुछ न कुछ अवगुण सज्जन व्यक्ति मे आ जाते हैं।

यही कारण है कि हमारे धर्म-ग्रन्थ धर्मभ्रष्ट व्यक्तियो की सगति मुमुक्षु के लिए वर्जित मानते हैं। तथा उनकी सगति से परहेज करने की आज्ञा देते हैं।

दूसरा परहेज वताया गया है—"**कुतीर्थीनी संगत वरजे।**" अश्रद्धालु व्यक्ति का समागम भी निषिद्ध है। जिस व्यक्ति के हृदय मे सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म के प्रति श्रद्धा नही है वह अपने ससर्ग मे रहने वाले अन्य व्यक्ति को भी नाना प्रकार के कुतर्क करके तथा अपने वाक्जाल मे उलझा करके अश्रद्धालु वनाने का प्रयत्न करेगा तथा उसकी श्रद्धा को ढीली वना देगा। अत ऐसे व्यक्तियो की सगति से परहेज करना ही आत्मार्थी के लिए उचित है।

तो बधुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि आत्म-कल्याण के इच्छुक व्यक्ति मे क्रिया रुचि होनी चाहिए। किन्तु जैसा कि मैंने अभी बताया था, क्रिया अधी होती है और उसका मार्ग दर्शन ज्ञान और श्रद्धा ही कर सकते हैं। अत जब तक मनुष्य की श्रद्धा मजबूत नही होती उसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान नही कहलाएगा और वह क्रिया को सही मार्ग नही बता सकेगा। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति आत्मा के कष्टो का नाश करने के लिए अभी-अभी बताई गई दोनो दवाओ का सेवन करे तथा दोनो ही प्रकार के परहेजो का ध्यान रखे।

ऐसा करने पर ही उसकी आत्मा दोष-रहित बन सकेगी तथा उसकी क्रिया मे विशुद्धता एव दृढता आएगी और एक बार जब क्रिया मे शुद्धता आ जाएगी तो फिर पुन-पुन अभ्यास के द्वारा वह इतनी मजबूत हो जाएगी कि कोई भी सासारिक शक्ति उसे विचलित नही कर सकेगी। उसके उत्तम सस्कार इतने पुष्ट और प्रबल हो जाएँगे कि वे आगामी जन्मो मे भी मन को सतुलित एव शुद्ध रखने मे सहायक बनेंगे। कहा भी है —

"मनो हि जन्मान्तरसगतिज्ञम्।"

अर्थात्—आत्म प्रदेशो से अनुप्रेरित मनरूपी कोश मे ही पूर्वजन्मो के सस्कार निहित रहते हैं और वही पूर्वजन्मो की सगति का एव स्थिति का ज्ञाता होता है।

जो भव्यप्राणी इस बात को समझ लेंगे वे सदा सावधान रहकर अपने सस्कार और आचरण को विशुद्धतर बनाए हुए मुक्ति-पथ पर अग्रसर हो सकेंगे। ●

२
पुरुषार्थ से सिद्धि
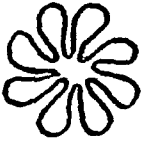
धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल हमने श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवी गाथा के विषय मे कुछ विचार किया था। उस गाथा मे क्रियारुचि किसे कहते हैं तथा क्रिया रुचि का स्वरूप क्या है ? इसका स्पष्टीकरण किया गया है। गाथा मे पहला शब्द 'दर्शन' तथा दूसरा शब्द 'ज्ञान' है। इन दोनो पर कुछ विवेचन कल किया था, और आज भी ज्ञान के विषय मे ही कुछ कहा जाएगा।

ज्ञान किसे कहते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है—

"ज्ञायते अनेन इति ज्ञान"

अर्थात्—जिससे जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसमे जानने की शक्ति हो वह ज्ञान कहलाता है।

वस्तुत ज्ञान जीव एव अजीव सभी पदार्थों की पहचान कराता है। और जब तक किसी वस्तु की पहचान नही होती उसका कोई मूल्य नही होता। उदाहरणस्वरूप एक छोटे शिशु के सामने हम चाहे अमूल्य रत्न रख दें और चाहे अफीम की ढेली। ज्ञान के अभाव मे शिशु न रत्न का महत्व जान सकता है और न ही अफीम का दोप। न वह रत्न के मूल्य से लाभ उठा सकता है और न अफीम के विनाशक प्रभाव से अपने आपको बचा सकता है। वह दोनो को समान रूप से हाथ मे लेकर खेलता है अथवा मुँह मे भरने का प्रयत्न करता है।

किन्तु एक बडा व्यक्ति ऐसा नही करता। वह दोनो के गुण और दोप को समझता हुआ उपयोग करता है। ऐसा क्यो ? इसलिये कि उसे रत्न और अफीम की पहचान होती है जो शिशु मे नही होती।

पहचान के अभाव मे सगा पुत्र भी पराया जान पडता है ।

गोबर इकट्ठा करने वाला धनवान

एक निर्धन व्यक्ति ने अपनी गरीबी से परेशान होकर अपने पुत्र को उसी गाँव के कुछ व्यक्तियो के साथ परदेश भेज दिया जो कि धन कमाने की इच्छा से जा रहे थे । कई वर्ष तक वह बालक उधर ही रहा और धीरे-धीरे वडा हो गया साथ ही व्यापार की कला मे होशियार हो जाने के कारण उसने वहुत द्रव्योपार्जन भी कर लिया ।

अनेक वर्ष वीत जाने के पश्चात् जव वह अतुल धन का स्वामी हो गया, उसने अपने गाँव लौटने का इरादा किया और अनेक नौकर-चाकरो के साथ रवाना हुआ । जिस समय वह अपने गाँव के समीप पहुँचा रात्रि हो चुकी थी चूंकि वह वचपन मे ही घर छोड गया था अत घर ढूंढने की दिक्कत के कारण पास ही वनी एक धर्मशाला मे अपने भारी लवाजमे के साथ ठहर गया । उसने विचार किया कि प्रात काल होते ही अपने घर चला जाऊँगा ।

मारे प्रसन्नता के उसे रात्रि को नीद नही आई अत प्रात काल शीघ्र उठकर नित्य-कर्म से फारिग होने के लिये धर्मशाला से वाहर निकला । वाहर आने पर देखता क्या है कि एक दीन-हीन वृद्ध व्यक्ति वडी कठिनाई से धर्मशाला के आस-पास रात्रि मे ठहरे हुए पशुओ का गोबर इकट्ठा कर रहा है । पर इसी वीच एक अन्य व्यक्ति आया और उस वृद्ध के इकट्ठे किये हुए गोबर को ले भागा । वृद्ध अत्यन्त कृशकाय और निर्वल था अत कुछ भी विरोध नही कर सका किन्तु दुख के मारे हाय-हाय करता हुआ रोने लगा ।

वास्तव मे ही ससार मे निर्वल व्यक्तियो को सभी सताते हैं, वलवानो का कोई कुछ नही विगाड पाता ।

एक गुजराती कवि ने ठीक ही कहा है —

सबला थी सहुको विए, नबला तेज न डाय ।
वाघतणो मागे नहीं, भोग भवानी माय ॥

अर्थात्—वलवान से सव डरते हैं अत निर्वल ही सताया जाता है । कोई प्रश्न करे कि ऐसा क्यो ? तो कवि एक वडा सुन्दर दृष्टान्त देकर उसे समझाता है कि और तो और, देवी भवानी भी डरके मारे शेर का भोग नही माँगती, अपितु वकरे और मुर्गे जैसे निर्वल प्राणियो का ही भोग चाहती हैं । आप लोगो मे से भी किसी ने कभी नही सुना होगा कि देवी ने कभी शेर को जिवह करके

चढाने की मॉग की हो। यह इसलिये कि शेर ताकतवर होता है अत किसकी मजाल है जो उसे पकडकर उसका वलिदान कर सके।

तो मैं यह वता रहा था कि गोवर वीनने वाले निर्वल वृद्ध का गोवर अन्य व्यक्ति छीन ले गया और वह कोई वश न चलने के कारण रो पडा। विदेश से लौटकर आने वाला युवक समीप ही खडा यह देख रहा था। पूछ वैठा—"वावा ! जरा से गोवर के छिन जाने से रोते क्यो हो ?"

वृद्ध दुखी होता हुआ बोला—"वेटा ! मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ कोई भी और काम नही कर पाता। केवल इस गोवर के कडे वनाकर वेचता हूँ और उससे मिले हुए पैसे से किसी तरह आधा पेट अन्न खा पाता हूँ। अत आज इस गोवर के छिन जाने का मतलव यह हुआ कि एक दिन मुझे और मेरी वृद्धा पत्नी को उपवास करना पडेगा।"

"क्यो क्या तुम्हारे कोई पुत्र नही है ?" युवक ने सहज भाव से प्रश्न किया।

आँसू पोछते हुए बूढे ने उत्तर दिया—"पुत्र तो मेरे है, पर वह बचपन मे ही विदेश चला गया था। योग्य वनकर धन कमायेगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जाएगी, यही सोचकर मैंने उसे भेजा था। किन्तु वर्षों हो गए उसने मेरी खोज-खवर ही नही ली। किसी के साथ समाचार आए थे कि अव्र वह खूब धनवान हो गया है और इधर आने वाला है। पर कव आएगा पता नही।"

"वावा ! तुम्हारा और तुम्हारे पुत्र का क्या नाम है ?" युवक ने उत्सुकता से पूछा।

वृद्ध ने अपना और पुत्र का नाम वताया। पर उन्हे सुनते ही युवक अपने पिता के चरणो पर गिर पडा और मिलन के हर्ष तथा पिता की दरिद्रता के दुख से आँसू वहाने लगा। नाम सुनते ही वह जान गया था कि यही मेरे पिता हैं।

वृद्ध पहले तो उस युवक का व्यवहार देखकर भौंचक्का-सा रह गया पर तुरन्त ही असली वात समझ गया और उसने अपने पुत्र को छाती से लगा लिया। अव वह लखपति वाप था।

यह था पहचान से पहले और उसके पीछे का परिणाम। जब तक वृद्ध को ज्ञान नही था कि यह युवक मेरा पुत्र है वह लाखो का स्वामी होते हुए भी थोडे से गोबर के छिन जाने से रो पडा और कुछ क्षणो के वाद ही अपने

आपको अतुल वैभव का स्वामी मानकर हँसने लगा। यह होता है ज्ञान का करिश्मा। कहा भी है।

"ज्ञान सर्वार्थसाधकम्।"

—सभी प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति मे ज्ञान सहायक होता है।'

ज्ञान प्राप्त करने पर ही व्यक्ति धर्म-क्षेत्र मे भी प्रवेश कर सकता है। जब तक उसे जीव-अजीव, पाप-पुण्य, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष आदि समस्त तत्वो की पहचान नही होगी, अर्थात् इनका ज्ञान नही होगा, तब तक वह धर्म-क्षेत्र मे अग्रसर नही हो सकेगा। अत आवश्यक है कि मनुष्य सर्व प्रथम अपने हृदय मे ज्ञान की ज्योति जलाए और उसके प्रकाश मे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढे।

उद्यम, ज्ञान प्राप्ति का साधन

ज्ञान की परिभाषा और उसका महत्व जान लेने के पश्चात् हमारे सामने प्रश्न आता है कि ज्ञान किस प्रकार हासिल किया जाय?

इस सम्बन्ध मे हमारे धर्म-शास्त्र ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह उपाय अथवा कारण बताते हैं। जिन्हे अपनाकर मनुष्य ज्ञान हासिल कर सकता है। इनमे से पहला उपाय है—उद्यम करना। वही मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो उद्यमी हो। उद्यम के अभाव मे ज्ञान तो बडी भारी चीज है, छोटी से छोटी सिद्धि भी हासिल नही हो सकती।

हम प्राय देखते हैं कि बिल्ली दूध पीती है। किन्तु क्या वह गाय-भैंस खरीद कर पालती है? नही, फिर भी दूध प्राप्त कर ही लेती है। सुबह से शाम तक वह घर-घर मे घूमती फिरती है। और इस प्रकार भटकते-भटकते कहीं न कही उसका दाव लग जाता है। तो बिल्ली दिन भर उद्यम करती है और उसके फलस्वरूप अपने इच्छित की प्राप्ति कर लेती है।

इसी प्रकार मनुष्य को भी ज्ञान रूपी दुग्ध प्राप्त करने के लिये उद्यम करना आवश्यक है, और यह भी आवश्यक है कि उसे ज्ञान जहाँ से भी प्राप्त हो सके प्राप्त करे। सस्कृत मे कहा है—

"बालादपि सुभाषित ग्राह्यम्।"

कहते हैं कि सुभाषित तो बच्चो से भी ग्रहण कर लेना चाहिये। यह विचार करना भूल है कि हम साठ वर्ष के है और बालक आठ ही वर्ष का है। भले ही वह आठ वर्ष का है किन्तु अगर उसने कही से कोई उत्तम बात सुनी

और आपको आकर वता दी तो आपको अविलम्ब उसे ग्रहण कर लेना चाहिये ।

एक दोहे मे यही वात वताई गई है—

उत्तम विद्या लीजिये, यदपि नीच पै होय ।
पड्यो अपावन ठौर पै, कचन तजत न कोय ॥

दोहे मे कहा है—मनुष्य को उत्तम वस्तु या विद्या जहां से भी प्राप्त हो, लेनी चाहिए चाहे वह किसी नीच से नीच व्यक्ति के पास ही क्यो न हो । जिस प्रकार गन्दे स्थान और गन्दगी मे पडे हुए सोने को प्रत्येक व्यक्ति तुरन्त उठा लेता है, यह सोचकर वही पडा नही रहने देता कि यह गन्दगी मे पडा है, इसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति उत्तम गुणो को अविलम्व ग्रहण करने का प्रयत्न करता है चाहे वे किसी भी जाति के व्यक्ति मे क्यो न हो ।

बोध प्राप्ति

गाधार देश के राजा सिंहरथ ने, जिसे 'निग्गई राजा' भी कहा जाता था एक पेड के ठूंठ से ही बोध प्राप्त कर लिया था । और उसके कारण अपने समस्त कर्मों का क्षय करने मे समर्थ हुए थे ।

एक वार राजा निग्गई अपने मुसाहिबो एव सेवको के साथ वन क्रीडा करने के लिए महल से रवाना हुए । शहर से वाहर उन्होंने एक आम का वृक्ष, हरे-हरे पत्तो, फूलो और फलो से लदा हुआ देखा । वृक्ष अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रहा था अत राजा सिंहरथ ने अपने घोडे पर वैठे-वैठे ही हाथ बढाकर वृक्ष से एक मजरी तोड ली और आगे बढ़ गया ।

राजा के पीछे उनका दल आ रहा था । जव दल के व्यक्तियो ने राजा को आम-मजरी तोडते हुए देखा तो उन सभी ने वृक्ष से मजरियाँ, फल या पत्ते तोडना प्रारम्भ कर दिया । परिणाम यह हुआ कि थोडी ही देर मे वह फला-फूला वृक्ष तहस-नहस होकर ठूंठ-सा दिखाई देने लगा ।

जव राजा निग्गई वनक्रीडा से लौटे तो उनकी दृष्टि पुन उस वृक्ष पर पडी । वे यह देखकर हैरान रह गए कि थोडी ही देर मे वृक्ष की क्या से क्या स्थिति हो गई ?

वृक्ष को देखते देखते राजा को विचार आया—"इस वृक्ष के समान ही शरीर की शोभा भी अनित्य है, तथा किसी भी समय नष्ट हो सकती है, फिर

मैं क्यो शरीर की शोभा बढाने का निरर्थक प्रयत्न करूँ ? अच्छा हो कि मैं अपनी आत्मा को ही सँवार लूँ जिससे लाभ ही लाभ है।"

यह विचार आते ही राजा ने उसे कार्य रूप मे परिणत करने का निश्चय कर लिया और अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया। तत्पश्चात् उन्होंने सयम मार्ग ग्रहण किया। तथा अन्त मे केवल-ज्ञान की प्राप्ति कर ससार-मुक्त हुए।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति गुण-ग्राही होता है वह प्रत्येक व्यक्ति से और व्यक्ति ही नही, अन्य समस्त पदार्थों से भी कुछ न कुछ बोध हासिल करने का प्रयत्न करता है। वह यह नही देखता कि अमुक गुण किस पात्र मे है। उसका लक्ष्य उद्यम करना होता है और उद्यम करने पर वह कभी निष्फल नही जाता, कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है।

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने भी उद्यम का बडा महत्व बताया है। कहा है—

उद्यम धर्म सदा सुखदायक,
उद्यम थी सब दु.ख मिटे है।
उद्यम ज्ञान ध्यान तप सयम,
उद्यम थी कर्म मैल छुटे है।
उद्यम थी ऋषि सिद्धि मिले सब,
उद्यम श्रेष्ठ दरिद्र घटे है।
तिलोक कहत हैं 'केवल' 'दसण',
उद्यम थी शिव मेल पटे है।

कवि का कथन है—अगर धर्म-क्षेत्र मे व्यक्ति उद्यम करे तो वह अत्यन्त सुखकर होता है और समस्त दुखो से छुटकारा दिलाने वाला साबित होता है। क्योकि उद्यम के द्वारा ही ज्ञान की वृद्धि होती है तथा ध्यान, तपस्या आदि मे अभ्यास बढता है। शास्त्रो मे वर्णन आता है कि अनेकानेक महामुनि कई-कई प्रहरो तक एक आसन से ध्यान किया करते थे। यह उद्यम से ही सभव होता है। इसी प्रकार कठिन तप भी उद्यम के अभाव मे नही किया जा सकता। अभ्यास से ही कई दिनो तथा महीनो की तपस्या की जाती है। अनेक प्रकार की सिद्धियाँ और लब्धियाँ उद्यम से प्राप्त होती हैं तथा दरिद्रो की दरिद्रता दूर होती देखी जाती है। एक छोटा सा दृष्टान्त है—

मृत सर्प के स्थान पर रत्नहार

एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धन था। यद्यपि उसके घर मे पत्नी, पुत्र व पुत्री आदि कई सदस्य थे किन्तु सभी प्रमादी थे। जैसे-तैसे मेहनत मजदूरी करके पेट तो वे भरते ही थे किन्तु धन कमाने मे कोई उत्साह और लगन से परिश्रम नही करते थे।

निर्धन व्यक्ति का पुत्र वडा हुआ और पिता ने उसका विवाह भी कर दिया। नवागत पुत्रवधू यद्यपि एक गरीव की ही कन्या थी पर वह बहुत होशियार और उद्यमप्रिय थी।

ससुराल मे आते ही जव उसने देखा कि यहाँ के व्यक्ति सव पुरुषार्थहीन हैं तो उसने अपने ससुर से कहा—"पिताजी ! ऐसे घर का काम कैसे चलेगा ? आपको धन प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करना चाहिए !"

ससुर ने जवाव दिया—"हम क्या करें ? हमारे पास पूंजी नही है। पूंजी के बिना कैसे कोई काम किया जा सकता है ?"

वहू विनयपूर्वक वोली—"पूंजी नही है तो कोई वात नही, आप अभी इतना ही करें कि जव भी घर से बाहर जायँ, खाली हाथ कभी न लौटें। जो कुछ भी आपको रास्ते मे मिले चाहे वह रेत ही क्यो न हो लेकर आयें।"

ससुर भला व्यक्ति था। उसने सोचा—'यही सही, देखें बहू की वात का क्या परिणाम निकलता है। उसने अव प्रतिदिन जो कुछ भी मार्ग मे मिलता था लाना प्रारम्भ कर दिया।

एक दिन जव वह कही से लौट रहा था, और तो कुछ नही मिला, रास्ते मे एक मरा हुआ सर्प दिखाई दिया। उसे देखकर वह आगे वढ गया पर दो चार कदम ही गया था कि वहू की वात याद आई। सोचने लगा—'मेरी वहू ने कहा था, जो कुछ भी मार्ग मे मिले ले आना।' यह ध्यान मे आते ही वह पुन लौटा और उस सर्प को उठा लाया। पर घर पर आखिर उस कलेवर का क्या उपयोग था ? अत वहू ने उसे छत पर लेजाकर एक ओर डाल दिया।

सयोगवश उसी दिन एक चील कही से रत्न जटित हार चोच मे दवाकर उडती हुई उधर से ही गुजरी। उसकी दृष्टि खून से भरे किसी पदार्थ पर पडी। आप जानते ही हैं कि गिद्ध तथा चील आदि पक्षियो को मृतक शरीर से अधिक प्रिय अन्य कोई वस्तु नही होती। अत उसने हार को वही पटक दिया और जल्दी से मृत सर्प को मुँह मे दवाकर उड गई।

वास्तव मे ही भगवान जब देता है छप्पर फाड कर देता है, पर व्यक्ति को उद्यम कभी नही छोडना चाहिए। उस निर्धन व्यक्ति के परिवार वालो ने जब मृत सर्प के बदले चील को रत्न-हार छोडकर जाते देखा तो सब प्रसन्नता से पागल हो उठे। सारी दरिद्रता कपूर के समान उड गई। ससुर ने अपनी पुत्रवधू की बहुत प्रशसा की।

किन्तु उसने केवल यही कहा—"यह सब आपके उद्यम का ही फल है। जो व्यक्ति थोडा भी उद्यम या पुरुषार्थ करता है भाग्य उसका साथ अवश्य देता है।"

एक सस्कृत भाषा के श्लोक मे कहा भी है —

यथाग्नि पवनोद्धत· सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्म समायुक्त· दैवं साधु विवर्धते॥

जिस प्रकार थोडी सी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बडी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ जाता है।

इसीलिए पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी महाराज ने कहा है—उद्यम से ही ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है, दरिद्रता मिटती है और इतना ही नही, धर्म क्षेत्र मे उद्यम करने वाला साधक तो केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त करके मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है।

इसलिए बधुओ, हमे कभी भी ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न मे प्रमाद नही करना चाहिए, तथा किसी भी कारण से निराश नही होना चाहिए। अनेक व्यक्ति थोडी सी आयु के बढते ही ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न का सर्वथा त्याग-सा ही कर देते हैं। ऐसे व्यक्तियो से अगर हम कभी पूछ लेते है—"क्यो भाई! सामायिक करते हो?"

उत्तर मिलता है—"महाराज, सामायिक के पाठ नही आते।"

हम पुन कहते हैं—'नही आते तो सीख डालो।"

पर जवाब छूटते ही मिल जाता है—"अबे काई सीखणरी टेम है महाराज?" यह लीजिये, हमी से उलटा प्रश्न हो गया। पर हम भी कच्चे नही हैं। कह देते हैं—"हाँ अब भी टाइम है रोज एक-एक शब्द भी याद करोगे तो याद हो जायगा।"

मुस्लिम जाति मे तो कहा जाता है कि जन्म लेते ही बच्चे की पढाई चालू हो जाती है और उसे कब्र मे जाने तक पढते रहना चाहिए। मैंने सुना है—एक पाश्चात्य विद्वान की अस्सी वर्ष की उम्र हो जाने के पश्चात् अर्ध-

मागधी (प्राकृत) भाषा पढने की इच्छा हुई और उसने उसे पढकर जैन दर्शन मे बहुत अच्छी जानकारी हासिल कर ली।

कहने का अभिप्राय यही है कि उम्र की परवाह किये बिना जब भी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो, मनुष्य को उसके लिए उद्यम करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। किसी विद्वान ने कहा है—

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैं ।
यद्यपि स्यान्न फलदा, सुलभा सान्यजन्मनि ॥

अर्थात्—उम्र बीत जाने पर भी बुद्धिमान मनुष्य हर तरह से विद्या को प्राप्त करे। चाहे वह इस जन्म मे फल न दे लेकिन दूसरे जन्म के लिए सुलभ हो जाती है।'

कितना महत्व बताया गया है ज्ञान का? इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे "जब जागे तभी सवेरा" मानकर चल देना चाहिए। एक सत्य प्रसग है—

शास्त्र विशारद प्रौढ कवि श्री अमीऋषि जी महाराज का एक बार अहमदनगर मे चातुर्मास हुआ। चारो ओर के लोग दर्शनार्थ आया ही करते थे। उन्ही दिनो अमरावती के समीप चान्दूर-बाजार नामक स्थान से श्री बुधमल जी राका भी सपरिवार दर्शनार्थ आए। उनकी उम्र उस समय साठ वर्ष की थी।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने उस दिन प्रवचन मे सहज ही कहा —"जो व्यक्ति यह कहता है कि हमको ज्ञान हासिल नही होता अथवा कुछ याद करे तो स्मरण नही रहता, यह गलत बात है। सामायिक अथवा प्रतिक्रमण का कोई एक-एक शब्द भी प्रतिदिन याद करे तो बारह महीने मे प्रतिक्रमण सम्पूर्ण याद हो सकता है। याद नही होता, यह कहना केवल न सीखने का बहाना मात्र है तथा बडी भारी कमजोरी है।"

प्रवचन सुनने वाले श्रोताओ मे श्री बुधमल जी राका भी बैठे थे। उनके हृदय मे यह बात बैठ गई। व्याख्यान के पश्चात् उन्होंने श्री अमीऋषि जी म० से निवेदन किया—"महाराज! मुझे नियम करवा दीजिये प्रतिदिन एक नया शब्द याद करने का। मुझे प्रतिक्रमण याद करना है।" यह नियम लेकर उन्होंने रोज एक शब्द सीखने का क्रम चालू रखा और पूरा प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लिया। जब मेरा चातुर्मास चान्दूर-बाजार मे था, मैंने देखा कि वे प्रतिदिन श्रावको को प्रतिक्रमण सुनाते थे।

वस्तुत प्रयत्न और उद्यम करने से ही मनुष्य की प्रत्येक इच्छा पूरी होती है। केवल मनोरथ करने से तो कुछ नही हो सकता। पचतन्त्र मे कहा भी है —

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैं ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगा ॥

जिस प्रकार सोये हुए सिंह के मुंह मे मृग अपने आप नही चले जाते, उसे प्रयत्न करना पडता है, उसी प्रकार केवल इच्छा मात्र से कोई कार्य सिद्ध नही होता। उसके लिए उद्यम करना पडता है।

वास्तव मे ही सफलता की कुंजी उद्यम है और उसके अभाव मे मनुष्य का जीवन पशु के समान है। किसी विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है—

"अगर तूने स्वर्ग और नरक नही देखा है तो समझ ले कि उद्यम स्वर्ग है और आलस्य नरक है।"

सर्वाधिक लाभकारी दिशा

हम देखते हैं कि इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति कर्म करता है और अपनी शक्ति के अनुसार उसमे जुट भी जाता है। किन्तु ज्ञान के अभाव मे वह यह नही समझ पाता कि कौन से कर्म उसके लिए अधिक लाभदायक साबित होंगे अर्थात् उसे किस दिशा मे उद्यम करना चाहिए। इस विषय मे हम विचार करें तो तीन प्रकार के कर्म हमारे समक्ष आते हैं। और उन्हे करने वाले तीन प्रकार के व्यक्ति, जिन्हे हम उत्तम, मध्यम और निम्न पुरुष कह सकते हैं।

निम्न श्रेणी के व्यक्ति भी कर्म करते है और उन्हे करने मे अपनी शक्ति लगाते हैं किन्तु उनके द्वारा लाभ के बदले उन्हे हानि उठानी पडती है। उदाहरण स्वरूप एक व्यक्ति चोरी करता है, डाके डालता है और हत्याएँ करके भी धन का उपार्जन करता है। इन सब कार्यों मे भी उद्यम करना आवश्यक होता है। अपराधो के कारण कानून से बचने के लिये उसे न जाने कितनी परेशानियाँ उठानी पडती हैं, कहाँ-कहाँ भटकना होता है। किन्तु उस उद्यम का परिणाम क्या होता है? अनेकानेक कर्मों का बन्धन और नरक तथा तिर्यंचादि गतियो मे नाना प्रकार के दुखो का भोगना। इसीलिये ऐसे निकृष्ट कार्यों के लिये उद्यम करना प्राणी के लिये वर्जित है। जो व्यक्ति इस प्रकार अनाचार अथवा अत्याचार करके अपना दुर्लभ जीवन समाप्त करता है उसका परलोक मे तो कोई साथ देता ही नही, अपितु इस लोक मे भी वह महान

अपयश का भागी बनता है तथा प्रत्येक व्यक्ति उसकी छाया से भी बचने का प्रयास करता है ।

शेखसादी ने ऐसे भाग्यहीन प्राणियो के लिये सत्य ही कहा है—

बद अख्तर तरज मरदुमाजार नेस्त ।
कि रोजे मुसीबत कसरा भार नेस्त ।।

—गुलिस्तां

अत्याचारी से बढकर अभागा और कोई नही है, क्योंकि विपत्ति के समय उसका कोई मित्र नही होता ।

कहने का अभिप्राय यही है कि अधम पुरुष अथवा निम्न श्रेणी के व्यक्ति भी उद्यम करते हैं और अपना समय व शक्ति कर्म करने मे व्यतीत करते हैं। किन्तु उनके उद्यम से लाभ के बदले हानि ही होती है । पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म अथवा परलोक को न मानने के कारण ऐसे व्यक्ति किसी भी कार्य से परहेज नही कर पाते और इसलिये उनका नाना प्रकार से पतन होता जाता है। कहा भी है —

विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपातः शतमुखः

—विवेक से भ्रष्ट व्यक्तियो का सैकडो प्रकार से पतन होता है । ऐसे व्यक्ति अपने अनुचित कार्यों पर परदा डालने के लिए असत्यभाषण, कपट, क्रोध, मायाचार, अत्याचार, अनाचार, पिशुनता, शठता आदि अनेकानेक दुर्गुणो के पात्र बनते है तथा उनकी आत्मा कलुषिततर बनती हुई जन्म-जन्मान्तर तक अपने कुकृत्यो का दुखद परिणाम भोगती है ।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति मध्यम श्रेणी के कहलाते हैं । ऐसे व्यक्ति परलोक के विषय मे सदिग्ध बने रहते हैं । और कदाचित् परलोक को मान भी लेते हैं तो उसे बहुत दूर मानकर अपने इसी लोक के लाभो का ध्यान रखते है । उनका उद्देश्य केवल इस लोक मे सुख से जीवन-यापन करने के लिये प्रचुर धनोपार्जन करना तथा लोगो के द्वारा सम्मान एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना ही होता है । अपना सम्पूर्ण प्रयत्न वे इसीके लिये करते हैं और उनका उद्यम इहलौकिक लाभो की प्राप्ति के लिये भी होता है । आत्मा का आगे जाकर क्या होगा उसे इस ससार-परिभ्रमण से छुटकारा कैसे मिल सकेगा इस बात की उन्हे अधिक चिन्ता नही रहती और इसीलिये त्याग, तपस्या तथा धर्माराधन की ओर उनकी रुचि नही रह पाती । साराश यही कि मध्यम श्रेणी के ऐसे

व्यक्तियो का उद्यम भी कोई शुभ फल प्रदान नही कर पाता और आत्मा की इस लम्वी यात्रा मे सहायक नही होता।

किन्तु तीसरी श्रेणी के पुरुप जिन्हे हम उत्तम पुरुप कहते है वे अपने प्रत्येक कार्य का निर्धारण केवल वर्तमान को ही लक्ष्य मे रखकर नही, अपितु भविष्य को भी सन्मुख रखकर करते है। वे आत्मज्ञान के द्वारा पाप और पुण्य के रहस्य को जानते हैं तथा अपनी ज्ञानमूर्ति चेतना की अनुभूति का आनन्द लेते हैं। उनकी देव, गुरु और धर्म मे दृढ आस्था होती है।

उत्तम पुरुष भली-भाँति जानते हैं कि जिसप्रकार तलवार की कीमत उसकी म्यान से नही होती उसीप्रकार मनुष्य जीवन की कीमत मनुष्य शरीर से नही आँकी जा सकती। तलवार का मूल्य उसके पानी से है उसी प्रकार मनुष्य-शरीर की उत्तमता आत्मा के सद्‌गुणो से तथा उसकी पवित्रता से जानी जा सकती है।

तो जो व्यक्ति आत्मा की कीमत जान लेते हैं वे प्रत्येक कार्य आत्मा को कर्म-बन्धनो से मुक्त करने के लक्ष्य को लेकर करते हैं। वे पुण्यशील पुरुष अनेकानेक पुण्यो के फलस्वरूप पाए हुए मानव-जीवन को निरर्थक नही जाने देते। उनका विश्वास होता है कि अगर पूर्वकृत पुण्य को इसी जीवन मे भोग-कर समाप्त कर दिया और नवीन पुण्य का तथा धर्म का सचय न किया तो अनन्तकाल तक उनकी आत्मा को पुन ससार-भ्रमण करना पडेगा तथा नरक, निगोद तथा तिर्यंच गति की दुस्सह और भीपण यातनाएँ भुगतनी पडेंगी। अगर मानव-जीवन रूपी यह अवसर एक वार हाथ से चला गया तो इसका फिर से प्राप्त करना कठिन ही नही वरन् असम्भव हो जायेगा। उन महा-मानवो की दृष्टि मे यह जीवन और जीवन मे भोगे जाने वाले सुख एक मधुर स्वप्न से अधिक महत्त्व नही रखते जो कि निद्रा भग होते ही विलीन हो जाते है। पूज्यपाद श्री अमीऋपि जी ने अपने एक पद्य मे वडे सुन्दर ढग से यही वात वताई है। कहा है —

एक निरधन नर देख्यो है सुपन रेन,
तामे एक धन को भडार तिन पायो है।
वाँधी है हवेली सार देश देश गाम गाम,
कीनी है दुकान अति वणज चलायो है॥

पुर मे आदरमान खमा खमा कहे सहु,
चाकर अनेक नारी सग में लुभायो है ।
जाग्यो तव निरधन मिलत न पूरो अन्न,
अमीरिख कहे ऐसो ससार कहायो है ।।

इस ससार का रूप कवि ने कैसा बताया है ? जैसे एक निर्धन व्यक्ति क्षुधा तृपा, शीत व ताप आदि से व्याकुल होता हुआ भी किसी समय स्वप्न मे देखता है कि उसे धन का एक विशाल कोश प्राप्त हो गया है और उसके द्वारा वह केवल अपने गाँव मे ही नही अपितु अनेक गाँवो और शहरो मे बडी-बडी हवेलियाँ चुनवा रहा है । वडे भारी पैमाने पर उसने दुकानें खोली हैं और व्यापार चालू कर दिया है । इतना ही नही प्रत्येक व्यक्ति से उसे आदर सम्मान मिलता है तथा नौकर-चाकरो की सेना प्रतिपल उसका हुक्म बजाने के लिये तत्पर है साथ ही रम्भा के समान सुन्दर और सर्वगुण-सम्पन्न पत्नी के साथ भोग-विलास करते हुए उसका समय व्यतीत हो रहा है ।

किन्तु उसका वह सुखमय ससार कितनी देर तक उसे खुशियाँ प्रदान करता है ? केवल नीद के टूटने तक ही तो ? निद्राभग होते ही वह अपनी घोर दरिद्रावस्था मे अपने आपको पाता है तथा पुन उससे जूझने लगता है ।

इसीलिये ज्ञानी पुरुप इस क्षणभगुर जीवन की अनित्यता को जान लेते हैं तथा समझ लेते हैं कि यह ससार स्वप्नवत् है तथा जीवन समाप्त होते ही न धन उनके साथ जाता है और अपने जिन सम्बन्धियो के लिये वह नाना प्रकार के पाप-कर्म करता है न वे ही रचमात्र भी उसके सहायक बनते हैं । साथ अगर कोई देने वाला है तो एकमात्र धर्म ही । और इसीलिये जीवन मे शुभ-कर्मो का करना आवश्यक है ।

शास्त्रो मे स्पष्ट कहा गया है —

"कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं"

अर्थात्—कर्म अपने कर्ता का ही अनुगमन करते हैं । बन्धुओ, हमे शास्त्रो के इन विधानो की ओर दृष्टिपात करते हुए सभल जाना है तथा यह विश्वास रखना है कि अपने कृतकर्मो का फल हमे ही अर्थात् हमारी आत्मा को ही भोगना पडेगा ।

अगर यह विश्वास हमारे हृदय मे जम जाता है तो निश्चय ही हमारा उद्यम सत्कर्मो मे लग सकेगा तथा हमारा मन मोह, आसक्ति और विकारो से

बचता हुआ धर्माराधन की ओर उन्मुख होगा। और तब ससार की कोई भी शक्ति सही दिशा मे किये जाने वाले हमारे उद्यम को विफल करने मे समर्थ नही हो सकेगी।

आशा है मेरे आज के कथन का साराश आप समझ गये होंगे। वह यही है कि ससार के प्रत्येक व्यक्ति का मनोरथ उद्यम करने पर ही पूर्ण हो सकता है। बिना उद्यम या पुरुषार्थ के किसी भी कार्य की पूर्ति सम्भव नही है।

किन्तु उद्यम करने से पूर्व व्यक्ति को यह निश्चय भी भली-भाँति कर लेना चाहिये कि किस दिशा मे उद्यम करने से उसकी आत्मा का कल्याण हो सकेगा। क्योकि अगर उसका प्रयास गलत दिशा मे होगा तो उस उद्यम से लाभ के बदले महान हानि उठानी पड़ेगी अर्थात् उसकी आत्मा को इस जन्म के पश्चात् भी दुखो से छुटकारा नही मिल सकेगा। आत्मा के कल्याण की सही दिशा धर्माराधन करना है और इसलिये मुमुक्षु को दान, शील, तप, भाव तथा त्याग-प्रत्याख्यान आदि शुभ क्रियाओ को दृढ और सफल बनाने मे अपनी सम्पूर्ण मानसिक एव शारीरिक शक्ति लगानी चाहिये, तभी वह मोक्ष प्राप्ति के अपने सर्वोत्कृष्ट मनोरथ को पूर्ण कर सकेगा। ●

३
निद्रा त्यागो !
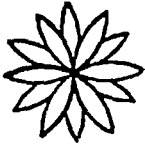
धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

हमारे विचार-विमर्श के दौरान श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवे अध्याय की पच्चीसवी गाथा चल रही है। इस गाथा मे बताया गया है कि ज्ञान की वृद्धि होगी और उसका विस्तार होगा तो आत्मा मे प्रकाश बढ सकेगा।

ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारण होते हैं। उनमे पहला कारण है उद्यम करना। उद्यम के विषय मे मैंने आपको कल विस्तृत रूप से बताया था कि ज्ञानाभिलाषी चाहे कितना भी मन्द-बुद्धि क्यो न हो, अगर वह उद्यम करता रहे अर्थात् परिश्रम करना न छोडे तो निश्चय ही ज्ञान-लाभ कर सकता है।

अब ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा कारण हमे जानना है। वह है—निद्रा का त्याग करना। निद्रा-त्याग का अर्थ यह नही है कि उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। आशय यही है कि निद्रा उतनी ही ली जाय जितनी शरीर की थकावट को मिटाने के लिए आवश्यक हो। दिनरात घटो सोते रहना समय का दुरुपयोग और ज्ञान-प्राप्ति मे कमी करना ही होता है। किसी विद्वान ने भी निद्रा की निंदा करते हुए कहा है —

"अधिक निद्रा व्याधिग्रस्त की माता, भोगी की प्रियतमा एवं आलस्य की कन्या है।"

अर्थात्—अधिक निद्रा लेने वाला व्यक्ति व्याधिग्रस्त, भोगी और आलसी हो जाता है तथा ये तीनो बातें मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति एव साधना मे बाधक बनती हैं। इसलिए नीद उतनी ही लेनी चाहिए जितनी मस्तिष्क और शरीर की थकावट मिटाकर उन्हे स्फूर्तिदायक बनाने मे अनिवार्य हो। समय पर सोना और समय पर जागना शरीर को भी स्वस्थ बनाता है तथा ज्ञान प्राप्ति मे ही सहायक बनता है।

आज हम देखते हैं कि अनेक पढे-लिखे और अमीरो के पुत्र प्रात काल आठ, नौ अथवा दस बजे तक भी सोये रहते है। देर तक जागना और देर तक सोना उनके लिए फैशन सा हो गया है। रात्रि को वे देर तक सैर-सपाटा करते है, सिनेमा देखते है अथवा ताश खेलते रहते हैं। और स्वाभाविक ही है कि रात को बारह, एक और दो बजे तक जागने के पश्चात् वे प्रात काल देर से उठते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका चित्त सदा अस्थिर और उद्विग्न बना रहता है तथा चिन्तन, मनन और आध्यात्मिकता की ओर तो उन्मुख ही नही होता। इसके लिए उन्हे समय भी नही मिलता। इन सबके लिए उपयुक्त समय केवल प्रात काल अथवा ब्राह्ममुहूर्त के पश्चात् का ही होता है पर उनका वह काल सोने मे व्यतीत होता है। फिर कब वे ज्ञानाराधन अथवा साधना कर सकते हैं ? रात्रि के पिछले प्रहर मे वही व्यक्ति जाग सकता है, जो रात्रि के प्रारम्भ मे जल्दी सो जाय। जल्दी सोने का महत्व बहुत बडा माना जाता है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन भी है —

"One hour's sleep before midnight is worth three after wards"

—जार्ज हर्बर्ट

आधी रात के पहले की एक घटे की निद्रा उसके बाद की तीन घटे की निद्रा के बराबर होती है।

लेखक के कथन का आशय यही है कि अगर व्यक्ति रात्रि के प्रारम्भ मे एक घटे भी गहरी निद्रा मे सो ले तो उसे पिछली रात्रि मे दो घटे जागने की शक्ति हासिल हो जाती है। और उस समय वह उत्साहपूर्वक ज्ञानाराधन करने के लिए तत्पर हो सकता है।

समय पर कौन सो सकता है ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु इसके उत्तर मे हम स्वय भी सहज ही सोच सकते हैं कि जो व्यक्ति अर्थोपार्जन की चिन्ता से रहित होगा, काम-भोगो की गृद्धता जिसमे नही होगी और जिसका चित्त शान्त होगा वह शीघ्र ही गहरी निद्रा के वशीभूत हो जाएगा। एक सस्कृत के विद्वान ने भी कहा है —

ब्रह्मचर्यरतेग्राम्य - सुख - निस्पृहचेतस. ।
निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वकाल नातिवर्तते ॥

अर्थात्—जो मनुष्य सदाचारी है, विषयभोग से निस्पृह है और सन्तोष से तृप्त है, उसको समय पर निद्रा आये विना नही रहती।

वस्तुत सदाचारी और धर्मात्मा पुरुष सदा समय पर सोते है और समय पर ही जागकर अपना अमूल्य समय ईश-चिन्तन एव ज्ञानाराधन मे व्यतीत करते है। उनकी दिनचर्या और रात्रिचर्या, दोनो ही नियमित और विशुद्ध होती है। तथा उन्हे आत्म-साधना के मार्ग पर अग्रसर करने मे सहायक वनती हैं। ससार का प्रत्येक महापुरुष अपने शुद्धाचरण एव नियमित चर्या के कारण ही महान कहलाया है।

जागे सो पावे और सोवे सो खोवे

युगपुरुष महात्मा गाँधी अपने जीवन का एक क्षण भी अतिरिक्त निद्रा अथवा प्रमाद मे विताना पसन्द नही करते थे। चिन्तन, मनन और प्रार्थना उनके जीवन के अविभाज्य अग थे और स्पष्ट है कि इन सबका उपयुक्त समय ब्राह्म मुहूर्त ही होता है।

गाँधी जी की सर्वप्रिय प्रार्थना भी यही थी—

उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है जो जागत है सो पावत है॥

वस्तुत प्रात काल का समय वडा महत्वपूर्ण और पवित्र होता है। इस काल मे साधक का चित्त चिन्तन, मनन तथा ध्यान आदि मे जितना एकाग्र रहता है, उतना अन्य किसी भी समय मे नही रह पाता। इसी प्रकार एक ज्ञानाभिलाषी छात्र सम्पूर्ण दिन मे जितना पाठ याद नही कर पाता उससे भी वहुत अधिक वह प्रात काल के अल्प-समय मे ही याद कर लेता है। यह प्रभाव उस शुभ समय का ही होता है।

इसलिए, प्रत्येक ज्ञान-वृद्धि के इच्छुक प्राणी को अपना प्रात कालीन अमूल्य वक्त केवल निद्रा मे व्यतीत करके नष्ट नही कर देना चाहिए। अन्यथा वाद मे केवल पश्चाताप ही हाथ आएगा। एक स्पष्टवक्ता ने कहा भी है—

सोना सोना मत करो यारो, उठकर भजो मुरार।
एक दिन ऐसा सोयगा, लम्बे पाँव पसार॥

क्या कहा है ? यही कि 'जीवन की इन अमूल्य घडियो मे क्या तू सोऊँ, सोऊँ करता रहता है ? सोने को तो एक दिन ऐसा मिलेगा कि पुन उठना

सभव ही नही होगा। अत जब तक तुझमे उठने की शक्ति है, प्रात काल उठकर प्रभु का स्मरण किया कर।"

सोया हुआ कौन रहे ?

प्रश्न बडा विचित्र है और सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि क्या प्रात-काल के वक्त भी कोई सोया हुआ रहे तो ठीक रहता है ? पर बात यह यथार्थ है। ससार मे ऐसे भी अनेक जीवो की कमी नही है जो कि अधिक से अधिक सोते रहे तो अच्छा माना जाता है।

श्री भगवती सूत्र मे वर्णन आता है कि जयन्ति नामक एक सुश्राविका ने श्री महावीर भगवान से प्रश्न किया—

"भगवन ! यह जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ ?"

देखिये, इस ससार मे प्रश्नकर्ताओ की कमी नही रही और प्रत्येक प्रकार का प्रश्न और उसका समाधान सदा होता रहा है।

तो श्राविका के प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने फरमाया—"कितने ही जीव सोते हुए अच्छे होते हैं और कितने ही जीव जागते हुए अच्छे रहते हैं।"

सुनकर आश्चर्यपूर्वक पुन पूछा गया—"भगवन्, यह कैसी बात ? सोते हुए भला कौन अच्छे रहते हैं ?"

भगवान के द्वारा उत्तर मिला—"जो जीव पातकी है, आरम्भ-परिग्रह करने वाले हैं, धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं, वे सोते ही अच्छे हैं, उनका जागना ठीक नही।"

"अच्छा भगवन् ! अब यह बताइये कि जागते हुए कौन से जीव अच्छे रहते हैं ?" पुन प्रश्न हुआ।

"धर्मात्मा पुरुष जागते हुए अच्छे हैं। क्योकि वे जागते रहेगे तो तत्व-चिंतन करेंगे, शास्त्र-स्वाध्याय करेंगे, जप-तप करेंगे और परमात्मा का भजन करेंगे। ऐसे धर्मी पुरुषो का जागता रहना अच्छा है।"

महात्मा कबीर भी कह गए हैं—

सोता साध जगाइये, करे नाम का जाप।
यह तीनो सोते भले साकत, सिंह औ सांप॥

क्या कहा है ? यही कि, साधु पुरुष को तो सोया हुआ हो तो भी जगा देना चाहिए ताकि वह उठकर प्रभु का नाम जपे पर दुष्ट, सिंह और सर्प जैसे

हिंसक प्राणी सोये हुए रहे, इसी मे सबका भला है। यद्यपि इस पद्य मे सोये रहने वाले जीवो मे मनुष्य का उल्लेख नही किया गया है पर हम जानते हैं कि हिंसक जन्तुओ की अपेक्षा क्रूर और पातकी मानव समाज के लिए अधिक भयानक और खूंखार होता है। सिंह तथा सर्प आदि जीवो की अपेक्षा भी वह प्राणियो का अधिक अहित करता है। इसलिए उसका सोया रहना अच्छा है।

उलटी गंगा

भगवत् गीता मे कहा गया है —

> **या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति सयमी।**
> **यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुने ॥**

श्लोक के भाव अत्यन्त -मार्मिक हैं। इसमे कहा है—ससार के समस्त प्राणी जब रात्रि के समय सो जाते है, उस समय सयमी पुरुष जागते हैं और जिस समय सारी दुनिया जागकर अपने दुनियादारी के प्रपचो मे लग जाती है, वे उसे रात्रि मानते हैं। अर्थात्—सयमी या मुनि रात को दिन और दिन को रात समझते हैं।

आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि ऐसा क्यो ? यह तो सरासर उलटी बात है। पर है यह सत्य। रात को दिन और दिन को रात मानना साधक की भावनाओ के कारण ही सभव है। इसका कारण यही है कि रात्रि के समय सर्वत्र शान्ति रहती है तनिक भी शोरगुल नही होता और आवागमन बन्द रहने से साधक का चित्त स्थिर बना रहता है। परिणामस्वरूप वह एकाग्र चित्त से चिंतन, मनन, तथा ध्यान आदि अपनी धार्मिक क्रियाओ को सम्पन्न करता है। और दिन के समय कोलाहलपूर्ण और अशान्त वातावरण मे इन सबको न कर पाने के कारण व्याकुलता का अनुभव करता है तथा आत्म-साधना के लिए दिन को रात्रि मानता है।

तात्पर्य यही है कि दुनियादारी मे फसे हुए लोगो के लिए रात्रि केवल रात्रि है, जिसे सोकर व्यतीत की जाती है, और दिन अर्थोपार्जन आदि अनेक प्रपचो मे पडे रहने मे समाप्त होता है। उन्हे यह विचार करने का समय ही नही मिलता कि आत्मा का भला किसमे है और उसके लिए क्या करना चाहिए। उनके चिंतन का विषय केवल यही रहता है कि दो पैसे अधिक कैसे पैदा किये जा सकते हैं ? और तो और रात को स्वप्न भी उन्हे इसी विषय के आते है। उस समय भी वे शान्ति से सो नही पाते। हाँ, धर्म क्रियाएँ करते

समय अर्थात् सामायिक प्रतिक्रमण करते वक्त या व्याख्यान सुनते वक्त अवश्य ही नीद आने लगती है। क्योकि वही वक्त उनके लिए बेकार होता है।

एक सत्य घटना है—किसी शहर मे मुनिराज धर्मोपदेश दे रहे थे। एक व्यक्ति को उपदेश सुनते-सुनते ही नीद आ गई। केवल नीद ही नही स्वप्न भी लगा। स्वप्न मे वह किसी ग्राहक को अपना माल दिखा रहा था और ग्राहक किसी कारण से लेने मे आनाकानी करता था। व्यक्ति के मुँह से स्वप्न मे दिखाई देने वाले ग्राहक के लिए निकला 'ले लो, ले लो।' पर ये शब्द उसके मुँह से इतनी जोर से निकले कि आस-पास बैठे हुए अनेक श्रोताओ ने उन्हे सुना और सब हँस पडे।

उस भाई से लोगो ने पूछा—"क्या बात है?" वह बोला—"महाराज! स्वप्न आ गया था।" तो व्याख्यान मे भी लोगो को स्वप्न आते है और उसमे वे अपनी दुकान चालू रखते है। तात्पर्य यही है कि सासारिक प्राणी जागते हुए भी सोता है और आत्मार्थी साधक सोते हुए भी जागता है। वह स्वप्न मे भी अपने कर्त्तव्य और चिंतन को नही छोडता। तभी वह सच्चा ज्ञान हासिल करता है और आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। ज्ञान प्राप्त करना बडी टेढी खीर है। उसके लिये ज्ञानार्थी को अत्यन्त सजग और सावधान रहना पडता है। दिन भर खूब पेट भर खाने और रात्रि को बेफिक्र होकर सोते रहने से ज्ञान-प्राप्ति सभव नही है।

ज्ञानार्थी के लिए

सस्कृत के एक श्लोक मे बताया गया है कि ज्ञानार्थी को किस प्रकार सयमी और नियमित जीवन बिताना चाहिए, अगर उसे ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट कामना है। इस विषय मे कहा गया है —

काक चेष्टा, बकध्यानं, शुनो निद्रा तथैव च।
अल्पाहारी त्यजेन्नारी विद्यार्थी पचलक्षण॰॥

श्लोक के अनुसार पाँच लक्षणो से युक्त विद्यार्थी ही अपने ज्ञान-प्राप्ति के लक्ष्य को पूरा कर सकता है। उसका पहला लक्षण है—'**काकचेष्टा**'। अर्थात् विद्यार्थी कौए के समान अपनी चेष्टा रखे। कौआ बडा होशियार पक्षी माना जाता है। उसकी दृष्टि बडी तेज होती है जिसका उदाहरण देते हुए कहा भी जाता है—'कौए के समान पैनी दृष्टि रखो!' अपने कार्य मे वह बडा सजग रहता है। जरा आँख चूकी, कि वस्तु ले भागता है। इसीलिये उसकी चेष्टा के समान ही ज्ञानार्थी की चेष्टा हो ऐसा विद्वान कहते है।

दूसरा लक्षण बताया है—'**बकध्यान**'। अर्थात् बगुले के समान एकाग्र होकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे लगा रहे। बगुले की धैर्यता सराहनीय होती है। वह घटो एक पैर पर मूर्तिवत् खडा रहता है। उसके शरीर मे कोई हरकत न होने के कारण मछलियाँ भ्रम मे पड जाती है और निर्भय होकर पानी मे विचरण करती है। किन्तु जिस उद्देश्य को लेकर बगुला अपने धैर्य का परिचय देता है उसकी पूर्ति के समीप होते ही वह कब चूक सकता है? मछली के समीप आते ही चट से उसे पकड लेता है। ज्ञानार्थी को भी ऐसा ही एकाग्र होकर प्रत्येक शिक्षा और प्रत्येक गुण को अविलम्ब ग्रहण कर लेना चाहिये।

तीसरी बात बताई गई है—'**शुनोनिद्रा**'। अर्थात् निद्रा कुत्ते के समान हो। हमारा आज का विषय भी यही कह रहा है कि निद्रा कम करने से ज्ञान लाभ होता है।

यह नही कि व्यक्ति ज्ञान तो हासिल करने की इच्छा रखे किन्तु रात्रि को सोया तो प्रात काल तक खर्राटे भरता रहे और दोपहर को खाना खाकर लेटे तो फिर शाम को ही उठे। ऐसा करने पर तो ज्ञान-प्राप्ति की कामना असफलता के गहरे समुद्र मे विलीन हो जाएगी। अत आवश्यक है कि जिस प्रकार कुत्ता तनिक-सी पैर की आहट होते ही जाग जाता है, सजग हो जाता है। इसी प्रकार विद्यार्थी भी बिना हिलाने-डुलाने और आवाजें लगाने पर भी समय होते ही सजग होकर ज्ञानाभ्यास मे लग जाय और कम से कम निद्रा लेकर अधिक से अधिक ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न करे।

अब विद्यार्थी का चौथा लक्षण आता है—'**अल्पाहार**'। आप सोचेंगे आहार का ज्ञान-प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है? भूखे पेट तो किसी भी कार्य मे मन नही लगता फिर पढाई जैसा कार्य खाए बिना कैसे होगा?

यह सत्य है कि बिना आहार किये पढने मे भी मन नही लग सकता अत भोजन करना अनिवार्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि आवश्यकता से अधिक खाने से शरीर पर आलस्य छा जाता है और अधिक निद्रा आती है। हम देखते हैं कि पेट भर जाने पर भी अगर कोई स्वादिष्ट वस्तु सामने आ जाती है तो मनुष्य उसे अवश्य खा लेता है तथा दाल, सब्जी या चटनी के स्वादिष्ट बनने पर अपनी खुराक पूरी हो जाने पर भी दो फुलके अधिक उदरस्थ करता है। और कही जीमनवार आदि मे जाने पर तो पूछना ही क्या है? ठूँस-ठूँस कर खाये बिना रहा ही नही जाता। किन्तु इसके फलस्वरूप आलस्य और निद्रा मन व मस्तिष्क को घेरे बिना नही रहते तथा ज्ञानार्जन मे बाधा पडती

है। इसीलिये श्लोक मे विद्यार्थी को अल्पाहार करने का विधान है। अगर भूख से कुछ कम खाया जाय तो अधिक निद्रा नही आती तथा शरीर मे स्फूर्ति वनी रहती है। जिसके कारण ज्ञानाभ्यास मे मन लगता है।

पाँचवाँ लक्षण है—**'नारी-त्याग'**। जब तक विद्यार्थी ज्ञानाभ्यास करे, तब तक उसे पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। विवाह से पहले बुद्धि मे जितनी सरलता और पवित्रता रहती है वह विवाह हो जाने के पश्चात् नही रहती क्योकि विवाह के पश्चात् मन अनेकानेक विचारो और चिन्ताओ से भर जाता है। मैं यह नही कहता कि विवाह हो जाने के पश्चात् ज्ञान प्राप्त किया ही नही जा सकता, केवल यही कहता हूँ कि उसे उतनी शीघ्रता से और एकाग्रता से नही सीखा जा सकता, जितना कि विवाहावस्था से पूर्व मे सीखा जाता है। कवीर का कथन है—

चलो-चलो सव कोई कहै, पहुँचे बिरला कोय।
यक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय॥

इनका आशय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तम लक्ष्य की ओर चलता हुआ आगे वढो, आगे बढो, कहता है लेकिन वहाँ तक कोई विरला व्यक्ति ही पहुँच पाता है। क्योकि एक धन, और दूसरी नारी, इनका आकर्षण उसे वाँधने का प्रयत्न करता है। ज्ञान-प्राप्ति भी मानव का एक पवित्र और अत्युत्तम लक्ष्य है अत उसे प्राप्त करने के लिये भी मनुष्य को भोग-विलास का त्याग करना चाहिये अन्यथा लक्ष्य-सिद्धि होनी कठिन हो जाएगी।

निद्रा के प्रकार

निद्रा के दो प्रकार माने गये है। एक द्रव्य-निद्रा तथा दूसरी भाव-निद्रा।

द्रव्य-निद्रा के विपय मे मैं अभी तक वहुत कुछ वता चुका हूँ और यह भी वता चुका हूँ कि उसकी अति से ज्ञानाभ्यास मे किस प्रकार वाधा पडती है।

अब हमे लेना है भाव-निद्रा को। एक वात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि द्रव्य-निद्रा मे सोया हुआ व्यक्ति तो हिला-डुलाकर, झझोडकर या पानी डालकर भी किसी तरह जगाया जा सकता है। किन्तु भाव-निद्रा मे सोए हुए व्यक्ति को जगाना वडा कठिन होता है।

आपको जानने की उत्सुकता होगी कि आखिर भाव-निद्रा क्या है जिसमे पडा हुआ व्यक्ति जल्दी से जाग भी नही पाता। भाव-निद्रा है मनुष्य की क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेप तथा प्रमाद और मिथ्यात्व आदि मे पडे रहने की

अवस्था । जब मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर ये विकृतियाँ हावी हो जाती हैं तो वह आत्मा के हानि-लाभ पर विचार ही नही कर पाता। भाव-निद्रा मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि मे बाधा तो पहुँचाती ही है साथ ही रहे हुए ज्ञान पर भी मूढता या जडता का ऐसा आवरण डाल देती है कि उसका कोई उपयोग वह नही कर पाता। उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान अथवा अज्ञान कहलाता है।

मिथ्यात्व से परिपूर्ण चित्तवाले मिथ्यादृष्टि पुरुप का ज्ञान अज्ञान क्यो कहलाता है इसके चार कारण एक श्लोक मे बताए गए है। कहा है—

सदसद विसेसणाओ,
भवहेऊ जहिच्छिओवलभाओ ।
नाण फलाभावाओ,
मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

पहला कारण है—मिथ्यादृष्टि को सत्-असत् का विवेक नही होता। वह जीव को अजीव तथा अजीव को जीव कह देता है, बहन को माता या पत्नी कहने लगता है। रस्सी को सर्प समझकर दूर भागता है या सर्प को रस्सी समझकर उठाने का प्रयत्न करता है। जब वह पागल व्यक्ति ऐसा करता है, तब उसका ज्ञान यद्यपि बुद्धिमान व्यक्ति के ज्ञान के समान ही सत्य प्रतीत होता है किन्तु उसे सम्यक्ज्ञानी नही कहा जा सकता। एक बात और भी ध्यान मे रखने की है कि मन की तरगो के वशीभूत होकर जब मिथ्याज्ञानी व्यक्ति अपनी बहन को बहन भी मान लेता है तब भी उसकी निर्णयोचित बुद्धि के अभाव के कारण उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान नहीं कहलाता। विवेक के अभाव मे उसका तथ्यज्ञान भी प्रमाणभूत नही माना जा सकता।

दूसरी बात यह है कि वही ज्ञान, ज्ञान कहलाता है जो आत्मा के अनादि-कालीन भव-बन्धनो को नष्ट कर उसे मुक्ति प्रदान करता है। जैसा कि कहा गया है—

"सा विद्या या विमुक्तये ।"

—वही विद्या अथवा ज्ञान, ज्ञान है जो मुक्ति दिला सकती है।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान आत्मा को जन्म-मरण मे मुक्त तो कर ही नही पाता। अपितु उसे अधिक बढाता है। अत वह मिथ्याज्ञान या अज्ञान कहलाता है।

तीसरी बात यह बताई गई है कि मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उसकी इच्छा पर

अवलम्बित होता है। उसके मन को जसा अच्छा लगता है, वह वैसा ही मान लेता है तथा लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी धारणा को नही बदलता। वह अपनी प्रत्येक गलती को छिपाने के लिये नित्य नई गलतियाँ किया करता है।

मिथ्यादृष्टि का ज्ञान इसलिए भी अज्ञान कहलाता है कि वह ज्ञान के फल को कभी प्राप्त नही कर पाता। ज्ञान का फल है पापपूर्ण कार्यों से विरत हो जाना तथा आत्म-कल्याणकारी कार्यों मे लग जाना। किन्तु मिथ्यादृष्टि प्राणी ऐसा नही कर पाता वह पापकार्यों मे अधिकाधिक लिप्त होता जाता है तथा पतन के मार्ग पर बढता है। ऐसी स्थिति मे उसका ज्ञान सम्यक्ज्ञान कैसे कहला सकता है ?

पूज्यपाद श्री अमी ऋषिजी महाराज ने भी मिथ्यादृष्टि के लक्षण बताते हुए कहा है—

करम आधीन मूढ विकल अनादिहु से,
भयो न प्रकाश ज्ञान, आतम परम को।
जो जो पुद्गल के सयोग दिशा चेतन की,
स्नेही निज मानत न मानत भरम को।।
ज्ञानादिक गुण से जो होय के विमुख रहे,
जाणे पुद्गल रूप आतम धरम को।
ऐसो घट विभाव अज्ञान बसी रह्यो ताके,
कहे अमीरिख वश वढे है करम को।।

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी मूढता के कारण अनादि काल से कर्मों के वश मे पडा हुआ सदा विकलता का अनुभव करता रहा है। उसकी आत्मा मे कभी भी ज्ञान का आलोक नही हुआ। वाह्य पदार्थों के सयोग से होने वाले क्षणिक सुख और दु ख को ही वह आत्मा का सुख-दुख मानता रहा है तथा आत्मिक गुणो से विमुख वना रहा है। आत्मा मे इस प्रकार की विभाव दशा वनी रहने के कारण उसकी कर्म परम्परा समाप्त होने के वजाय वढती चली जा रही है।

वाह्य पदार्थों के सयोग से सुख और उनके वियोग से दुख का अनुभव करना मूढता है। कभी-कभी तो इसका परिणाम अत्यन्त भयकर और महान् कर्मवन्धन का कारण वनता है। उदाहरणस्वरूप—पूना मे एक वार एक

गरीव व्यक्ति ने हिम्मत करके रेस मे दाँव लगा दिया। भाग्यवश उसका घोडा जीत गया और उस दरिद्र को पन्द्रह हजार नकद रुपये मिल गए।

जीवन मे उसने हजारो तो क्या सैकडो रुपये भी कभी एक साथ नही देखे थे। अत. पन्द्रह हजार रुपयो का ढेर देखकर वह खुशी के मारे बावला सा हो गया और—"इतने सारे रुपये ।" ये शब्द मुँह से निकालते-निकालते ही खत्म हो गया।

एक और उदाहरण ठाणाग सूत्र मे आया है कि एक अवधिज्ञानी मुनि को अवधिज्ञान हो जाने के कारण मर्यादित प्रत्येक स्थान की वस्तुएँ दिखाई देने लगी। उस ज्ञान के कारण उन्होंने देखा कि एक स्थान पर अपार धन छिपा पडा है। यह मालूम होते ही उनके मन मे आया—"अरे, इतना सारा धन । वस, यह विचार आना था कि उनका अवधिज्ञान लोप हो गया।

ऐसा होता है सासारिक धन-धान्य का आकर्षण। यद्यपि मुनि समस्त धन और परिग्रह मात्र का त्याग कर चुके थे किन्तु केवल धन को देखकर जो कौतूहल उन्हे हुआ, उतने से ही महान् प्रयत्नो से प्राप्त हुआ अमूल्य ज्ञान उनका नष्ट हो गया।

इसीलिए महापुरुष कहते है—सासारिक सुख प्राप्त होने पर गर्व से फूलो मत, और दु ख प्राप्त होने पर व्याकुल मत होओ! ऐसा जो कर पाते है वे महापुरुष विरले ही मिलते हैं। सस्कृत भाषा मे श्लोक कहा गया है—

सपदि यस्य न हर्षो
विपदि विषादो रणे च धीरत्वं।
त भुवनत्रय तिलक,
जनयति जननी सुतं विरलम्॥

अर्थात्—सम्पत्ति प्राप्त होने पर जिसे खुशी नही होती, विपत्ति आने पर खेद नही होता तथा सग्राम मे जाने पर जो भयभीत नही होता, ऐसे त्रिभुवन प्रसिद्ध पुत्र को जन्म देने वाली माता बिरली ही होती है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य राग-द्वेष के वशीभूत क्यो होता है? मोह और ममता के वन्धन मे पडकर अपने पैरो पर आप ही कुल्हाडी क्यो मारता है? उत्तर इसका यही है—'भाव-निद्रा का त्याग न कर सकने के कारण।' राग, द्वेष, मोह, क्रोध और कषायादि का अनुभव करना ही भाव-निद्रा है। जब तक इसका त्याग न किया जाएगा प्राणी सच्चा ज्ञान हासिल नही कर सकेगा और उसकी मोक्ष-प्राप्ति की कामना अपूर्ण रहेगी।

मेरे आज के कथन का साराश यही है कि निद्रा चाहे द्रव्य-निद्रा हो या भाव-निद्रा दोनो ही ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक हैं। अत' इनका त्याग करना ही कल्याणकर है।

ज्यो-ज्यो इसमे कमी की जाएगी, त्यो-त्यो मनुष्य की आत्मा मे ज्ञान का नैसर्गिक प्रकाश बढता जाएगा और वह प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करता हुआ आत्मिक गुणो को प्रकाशित करेगा। इस विशाल विश्व मे केवल-ज्ञान ही मन के विकारो को नष्ट करके आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप मे लाने की क्षमता रखता है तथा उसको अपने लक्ष्य की ओर बढाता है। कहा भी है—

ज्ञानेन कुरुते यत्नं यत्नेन प्राप्यते महत्।

ज्ञान की प्रेरणा से ही प्रयत्न आत्म-विकास के मार्ग मे गति करता है और उसी के परिणामस्वरूप परमात्मरूप महान् फल की प्राप्ति हुआ करती है।

इसलिये बन्धुओ! हमे निद्रा का त्याग करते हुए सदा सजग रहना है तथा ज्ञान रूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति करके अक्षय सुख का उपार्जन करना है। इस मानव जीवन का एक-एक क्षण दुर्लभ और अमूल्य है। निद्रा के बहाने अगर इन्हें खो दिया तो हमारी मुक्ति की कामना निराशा के अतल सागर मे विलीन हो जाएगी और अनन्तकाल तक हमे पुन संसार-भ्रमण करना पडेगा तथा जन्म, जरा और मृत्यु के असह्य कष्टो को भोगना होगा। अत बुद्धिमानी इसी मे है कि हम दोनो प्रकार की निद्राओ का यथाशक्य त्याग करके जीवन के अमूल्य क्षणो का सदुपयोग करे तथा अपने अभीष्ट की ओर बढें। ●

४
अल्प भोजन और ज्ञानार्जन
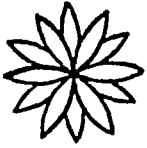
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आजकल हम श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय की पच्चीसवी गाथा के विषय मे विचार कर रहे हैं। इस गाथा मे क्रिया रुचि के स्वरूप की व्याख्या की गई है।

गाथा मे पहला शब्द दर्शन आया है। दर्शन का अर्थ है श्रद्धान्। श्रद्धा को दृढ वनाने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसे क्रियारुचि कहा गया है। दूसरा शब्द गाथा मे आया है 'ज्ञान'। ज्ञानप्राप्ति के लिए अभ्यास करना भी क्रिया रुचि ही है। जव तक मनुष्य की अभिरुचि ज्ञान की ओर नही होगी, ज्ञान प्राप्त नही हो सकेगा, और ज्ञान के अभाव मे आत्मा का कल्याण सम्भव नही होगा। इसीलिये हम ज्ञान के विषय मे विस्तृत विचार कर रहे हैं। ज्ञान आत्मा का निजी गुण है तथा वही आत्मा को ससार मुक्त करने की शक्ति रखता है। अन्य किसी भी वस्तु मे वह महान् क्षमता नही है। इसकी महत्ता के विषय मे जो कुछ भी कहा जाय, कम है। फिर भी विद्वान् अपने शब्दो मे इसके महत्व को वताने का प्रयत्न करते हैं। एक श्लोक मे कहा गया है —

तमो धुनीते कुरुते प्रकाशं,
शम विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
तनोति धर्म विधुनोति पाप,
ज्ञान न कि कि कुरुते नराणाम्॥

वताया गया है कि एकमात्र ज्ञान ही अज्ञान रूपी अधकार का नाश करके आत्मा मे अपना पवित्र प्रकाश फैलाता है तथा उसके समस्त निजी गुणो को आलोकित करता है।

ज्ञान ही आत्मिक गुणो को नष्ट करने वाले क्रोध को मिटाकर उसके स्थान पर सम-भाव को प्रतिष्ठित करता है तथा पापो को दूर करके आत्मा मे धर्म की स्थापना करता है ।

अन्त मे सक्षेप मे यही कहा गया है कि ज्ञान मनुष्य के लिये क्या-क्या नही करता ? अर्थात् सभी कुछ वह करता है जो आत्मा के लिये कल्याणकारी है ।

इस ससार मे ज्ञानी और अज्ञानी, दोनो प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं । ज्ञानी पुरुप वे होते हैं जो अपने विवेक और विशुद्ध विचारो के द्वारा अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण नियत्रण रखते हैं तथा ज्ञान के आलोक मे आत्म-मुक्ति के मार्ग को खोज निकालते हैं ।

किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इसके विपरीत होते हैं । वे विषय-भोगो को उपादेय मानते है और उन्हे भोग न पाने पर भी भोगने की उत्कट लालसा रखने के कारण निरन्तर कर्म-वन्धन करते रहते हैं तथा अन्त मे अकाम मरण को प्राप्त होकर पुन -पुन जन्म-मरण करते रहते हैं ।

इसीलिये ज्ञानी और अज्ञानी मे अन्तर वताते हुए कहा गया है—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ वहुयाइं वास कोड़ीहिं ।
त नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसास मित्तेण ॥

अर्थात्—जिन कर्मों को क्षय करने मे अज्ञानी करोडो वर्ष व्यतीत करता है, उन्ही कर्मों को ज्ञानी एक श्वास मात्र के काल मे ही नष्ट कर डालता है ।

वन्धुओ ! ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया मे कितना अन्तर है ? ज्ञान का महात्म्य कितना जवर्दस्त है ? इसीलिये तो हमारे धर्म-ग्रन्थ तथा धर्मात्मा पुरुप सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति पर वल देते है । कहते हैं—अपने मन और मस्तिष्क की समस्त शक्ति लगाकर भी ज्ञान हासिल करो । ज्ञान हासिल करने के लिये वे अनेक उपाय भी वताते है जो कि ग्यारह भागो मे विभक्त किये गए है । उनमे प्रथम है—उद्यम करना तथा दूसरा है—निद्रा कम करना । इन दो के विषय मे हम काफी कह चुके है और आज तीसरे पर प्रकाश डालना है । ज्ञान प्राप्ति का तीसरा उपाय है—ऊनोदरी करना । ऊनोदरी को हमारे यहाँ तप भी माना गया है ।

ऊनोदरी क्या है ?

ऊनोदरी का अर्थ है—कम खाना। आप सोचेंगे कि थोडा-सा कम खाना भी क्या तपस्या कहलायेगी ? दो कौर (कवल) भोजन मे कम खा लिये तो कौन-सा तीर मार लिया जाएगा ?

पर वन्धुओ, हमे इस विषय को तनिक गहराई से सोचना और समझना है। यह सही है कि खुराक मे दो-चार कौर कम खाने से कोई अन्तर नही पडता। किन्तु अन्तर पडता है खाने के पीछे रही हुई लालसा के कम होने से। आप जानते ही होंगे कि कर्मों का वन्धन कार्य करने की अपेक्षा उसके पीछे रही हुई भावना से अधिक होता है।

एक बार मैंने आपको वताया था कि मुनि प्रसन्नचन्द्र जी को ध्यान मे बैठे हुए ही अपने राजकुमार पर आक्रमण करने वाले शत्रुओ को मार डालने का विचार आया। इस विचार के आते ही केवल भावना से ही शत्रुओ से युद्ध करने के कारण उन्हे सातवे नरक का वन्ध पडने का अवसर आ गया था, किन्तु कुछ क्षण पश्चात् ही जव उनका हाथ अपने मस्तक पर गया तो उन्हे अपनी मुनिवृत्ति का ध्यान आया और कुछ क्षणो पहले ही उदित हुई भावनाओ पर घोर पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप की भावना आते ही उन्हे केवलज्ञान हो गया।

यह सव चमत्कार केवल भावनाओ का ही था। उन्होंने शत्रुओ से युद्ध किया नही था किन्तु मात्र विचारो से ही सातवे नरक का और उन भावनाओ के स्थान पर पुन पश्चाताप की भावनाओ के पैदा होते ही मोक्ष का मार्ग पाया।

तो मैं आपको वता यह रहा था कि भोजन मे दो ग्रास कम खाने का महत्त्व अधिक नही है, महत्त्व है खाद्य पदार्थों के प्रति रही हुई आसक्ति के कम होने का। आसक्ति और लालसा का कम होना ही वास्तव मे आतरिक तप है।

तपस्या और आत्मशुद्धि

हमारे जैनागमो मे तपश्चर्या का वडा भारी महत्व और विशद वर्णन किया गया है तथा आत्म-शुद्धि के साधनो मे तप का स्थान सर्वोपरि माना गया है। तपश्चरण साधना का प्रमुख पथ है। यह आन्तरिक (आभ्यतर) और वाह्य दो

भेदो मे विभाजित है। प्रत्येक साधक तभी अपनी आत्मा को शुद्ध बना सकता है जवकि उसका जीवन तपोमय बने।

तपस्या के द्वारा आत्मा का समस्त कलुष उसी प्रकार धुल जाता है जिस प्रकार आप साबुन के द्वारा अपने वस्त्रो को धो डालते हैं। दूसरे शब्दो मे, जिस प्रकार अग्नि मे तपकर स्वर्ण निष्कलुष हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या की आग मे आत्मा का समग्र मैल भी भस्म हो जाता है तथा आत्मा अपनी सहज ज्योति को प्राप्त कर लेती है। तपस्या से मनुष्य अपनी उच्च से उच्च अभिलाषा को पूर्ण कर सकता है। कहा भी है—

यद दूरंयद् दुराराध्यं,
यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्य,
तपो हि दुरतिक्रमम्॥

जो वस्तु अत्यन्त दूर होती है, जिसकी आराधना करना अत्यन्त कठिन दिखाई देती है, तथा जो हमारी दृष्टि से बहुत ऊँचाई पर जान पडती है और उसे प्राप्त करना हमारी क्षमता से परे मालूम होता है। वह वस्तु भी तप के द्वारा हमारे लिए साध्य हो जाती है, तपस्या सम्पूर्ण दूरी और ऊँचाई को समाप्त करके हमे उस वस्तु की प्राप्ति करा देती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि तप का प्रभाव अबाध्य और अप्रतिहत होता है। वह अपने मार्ग मे आने वाली प्रवल से प्रबल बाधाओ को भी अल्प काल मे ही नष्ट कर देता है तथा देव एव दानवो को अपने समक्ष झुका लेता है।

ऊनोदरी भी बारह प्रकार के तपो मे से एक है, जो मन और रसनाइन्द्रिय पर नियन्त्रण करके भावनाओ और विचारो को आसक्ति तथा लालसा से रहित बनाता हुआ आत्मा को शुद्ध करता है।

आहार का प्रयोजन

हम जानते हैं कि भोजन का प्रयोजन शरीर के निर्वाह के लिए आवश्यक है। ससार के प्रत्येक प्राणी का शरीर नैसर्गिक रूप से ही इस प्रकार का बना हुआ है कि आहार के अभाव मे वह अधिक काल तक नही टिक सकता। इसलिए शरीर के प्रति रहे हुए ममत्व का परित्याग कर देने पर भी बडे-बडे महर्षियो को, मुनियो को तथा योगी और तपस्वियो को भी शरीर यात्रा का निर्वाह करने के लिए आहार लेना जरूरी होता है।

किन्तु आज मानव यह भूल गया है कि इस शरीर का प्रयोजन केवल आत्म साधना मे सहायक होना ही है। चूंकि शरीर के अभाव मे कोई भी धर्म क्रिया, साधना या कर्मवन्धनो को काटने का प्रयत्न नही किया जा सकता अतएव इसे टिके रहने मात्र के लिए ही खुराक देनी पडती है। शरीर साध्य नही है, यह किसी अन्य एक उत्तमोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

खेद की वात है कि आज का व्यक्ति इस वात को नही समझता। वह तो इस शरीर को अधिक से अधिक सुख पहुँचाना अपना लक्ष्य मानता है और भोजन को उसका सर्वोपरि उत्तम साधन। परिणाम यह हुआ है कि वह उदर मे अच्छे से अच्छा पौष्टिक आहार पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न मे वह भक्ष्याभक्ष्य का विचार नही करता तथा मास एव मदिरा आदि निकृष्ट पदार्थों का सेवन भी नि सकोच करता चला जाता है। जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर वह अधिक से अधिक खाकर अपने शरीर को पुष्ट करना चाहता है तथा ऊनोदरी किस चीज का नाम है, इसे जानने का भी प्रयत्न नही करता।

किन्तु इसका परिणाम क्या होता है ? यही कि, अधिक ठूंस-ठूंसकर खाने से शरीर मे स्फूर्ति नही रहती, प्रमाद छाया रहता है और उसके कारण आध्यात्म-साधना गूलर का फूल वनी रहती है। मास मदिरा आदि का सेवन करने से तथा अधिक खाने से बुद्धि का ह्रास तो होता ही है, चित्त की समस्त वृत्तियाँ भी दूपित हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य चाहे कि वह ज्ञानार्जन करे, तो क्या यह सभव है ? कदापि नही। ज्ञान की साधना ऐसी सरल वस्तु नही है, जिसे इच्छा करते ही साध लिया जाय। उसके लिए वडा परिश्रम, वडी सावधानी और भारी त्याग की आवश्यकता रहती है। आहार के कुछ भाग का त्याग करना अर्थात् ऊनोदरी करना भी उसी का एक अग है। अगर मनुष्य भोजन के प्रति अपनी गृद्धता तथा गहरी अभिरुचि को कम करे तो वह ज्ञान हासिल करने मे कुछ कदम आगे वढ सकता है। क्योकि अधिक खाने से निद्रा अधिक आती है तथा निद्रा की अधिकता के कारण जैसा कि मैंने कल वताया था, जीवन का वहुत-सा अमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है।

आशय मेरा यही है कि मनुष्य अगर केवल शरीर टिकाने का उद्देश्य रखते हुए कम खाए या शुद्ध और निरासक्त भावनाओ के साथ ऊनोदरी तप करे तो अप्रत्यक्ष मे तप के उत्तम प्रभाव से तथा प्रत्यक्ष मे अधिक खाने से प्रमाद और निद्रा की जो वृद्धि होती है उसकी कमी से अपनी बुद्धि को निर्मल,

चित्त को प्रसन्न तथा शरीर को स्फूर्तिमय रख सकेगा तथा ज्ञानाभ्यास मे प्रगति कर सकेगा। खाद्य-वस्तुओ की ओर से उसकी रुचि हट जाएगी तथा ज्ञानार्जन की ओर अभिरुचि बढेगी।

सुख प्राप्ति का रहस्य

हकीम लुकमान से किसी ने पूछा—"हकीमजी! हमे आप ऐसे गुर बताइये कि जिनकी सहायता से हम सदा सुखी रह सकें। क्या आपकी हकीमी मे ऐसे नुस्खे नही हैं?"

लुकमान ने चट से उत्तर दिया—"हैं क्यो नही? अभी बता देता हूँ। देखो! अगर तुम्हे सदा सुखी रहना है तो केवल तीन बातो का पालन करो। पहली— **'कम खाओ'**! दूसरी—**'गम खाओ'**। और तीसरी है—**'नम जाओ**।"

हकीम लुकमान की तीनो बातें बडी महत्त्वपूर्ण हैं। पहली बात उन्होने कही—कम खाओ। ऐसा क्यो? इसलिये कि, मनुष्य अगर कम खाएगा तो वह अनेक बीमारियो से बचा रहेगा। अधिक खाने से अजीर्ण होता है और अजीर्ण से कई बीमारियाँ शरीर मे उत्पन्न हो जाती हैं। इसके विपरीत अगर खुराक से कम खाया जाय तो कई बीमारियाँ बिना इलाज किये भी मिट जाती हैं।

आज के युग मे तो कदम-कदम पर अस्पताल हैं, हजारो डॉक्टर हैं और नाना प्रकार की दवाइयाँ गोलियाँ और इन्जेक्शन हैं, जिन्हें लेते-लेते मनुष्य शारीरिक दृष्टि से तो परेशान होता ही है, धन की दृष्टि से भी कभी-कभी तो दिवालिया हो जाता है। किन्तु प्राचीन काल मे जबकि डॉक्टर नही के बराबर ही होते थे, वैद्य ही लोगो की बीमारियो का इलाज करते थे और उनका सर्वोत्तम नुस्खा होता था, बीमार को लघन करवाना। लघन करवाने का अर्थ है—आवश्यकतानुसार मरीज को कई-कई दिन तक खाने को नही देना। परिणाम भी इसका कम चमत्कारिक नही होता था। लघन के फलस्वरूप असाध्य बीमारियाँ भी नष्ट हो जाया करती थी तथा जिस प्रकार अग्नि मे तपाने पर मैल जल जाने से सोना शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपवास की अग्नि मे रोग भस्म हो जाता था तथा शरीर कुन्दन के समान दमकने लग जाता था। लघन के पश्चात् व्यक्ति अपने आपको पूर्ण स्वस्थ और रोग रहित पाता था।

लुकमान की दूसरी बात थी—'गम खाओ।' आज अगर आपको कोई दो-शब्द ऊँचे-नीचे बोल दे तो आप उछल पडते हैं। चाहे आप उस समय स्थानक मे सतो के समक्ष ही क्यो न खडे हो। बिना सत या गुरु का लिहाज किये ही उस समय ईट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु परिणाम क्या होता है ? यही कि तू-तू मैं-मैं से लेकर गाली-गलौज की नौबत आ जाती है।

पर अगर कहने वाले व्यक्ति की बातो को सुनकर भी आप उनका कोई उत्तर न दें तो ? तो बात बढेगी नही, और लडाई झगडे की नौबत ही नही आएगी। उलटे कहने वाले की कटु बातें या गालियाँ उसके पास ही रह जाएँगी। जैसा कि सीधी-साधी भाषा मे कहा गया है—

दीधा गाली एक है, पलट्यां होय अनेक।
जो गाली देवे नहीं, तो रहे एक की एक॥

सर्वोत्तम उत्तर मौन

एक महात्मा सदा अपने ज्ञान-ध्यान एव तप-सयम आदि की साधना मे लगे रहते थे। उन्हे इस बात की तनिक भी परवाह नही थी कि दुनिया उनके विषय मे क्या कहती है ? लोग स्तुति करे या निन्दा, अच्छा कहे या बुरा, इसका तनिक भी खयाल उनके मन मे नही था।

एक बार विचरण करते हुए वे किसी गाँव मे जा पहुँचे। वहाँ के लोग महात्मा जी की साधना एव धार्मिक क्रियाएँ देखकर बहुत आकर्षित हुए तथा प्रतिदिन उनके उपदेशो को सुनने के लिए आने लगे।

उसी गाँव मे दो श्रेष्ठि भी रहते थे और दोनो मित्र थे। एक दिन एक ने दूसरे से कहा—"मित्र! सुना है कि हमारे गाँव मे एक बडे ही पहुँचे हुए महात्मा पधारे हैं क्यो न आज चलकर उनका सत्सग किया जाय ?"

दूसरा श्रीमत बोला—"मुझे किसी साधु-सत पर आस्था नही है। ये सब कमा नही सकते अत पेट भरने के लिए ही साधु का बाना पहन लेते है। व्यर्थ उनके पास जाकर समय नष्ट करने से क्या लाभ है ?"

सतो की निन्दा सुनकर प्रथम व्यक्ति बडा क्षुब्ध हुआ किन्तु किसी प्रकार अपने मित्र को राह पर लाने के विचार से उसकी कही हुई बातो पर ध्यान न देता हुआ जबर्दस्ती उसे अपने साथ ले चला। दूसरा मित्र भी अपने मित्र की बात न टालने के कारण ही साथ हो लिया।

प्रवचन प्रारम्भ हो गया था अत दोनो चुपचाप जाकर श्रोताओं के साथ वैठ गए। पहला मित्र तल्लीनता पूर्वक उपदेश सुनने लगा किन्तु दूसरा महात्मा को किसी प्रकार नीचा दिखाने की उधेड-बुन मे लगा रहा। कुछ देर पश्चात् प्रवचन समाप्त हुआ और लोग उठकर अपने-अपने घर चल दिये। मौका मिल गया और साधु-निन्दक श्रेष्ठि ने महात्मा की सहनशीलता की परीक्षा लेने के लिए उनसे कहा—

"क्यो महाराज! दुनियादारी के कर्त्तव्य निभाते नही बने क्या इसीलिए आपने साधुपना लिया है?"

सत ने सेठ की वात सुनी पर कोई उत्तर नही दिया, केवल मुस्कुराते रहे। इस पर सेठ को वडा वुरा लगा और उसने दूसरा तीर छोडा—"हम ससारी लोगो को कितनी महनत करनी पडती है? कितना पसीना वहाना पडता है? तव कही उदरपूर्ति होती है। किन्तु साधु तो बस हराम का खाते है।"

महात्मा जी की मुद्रा पूर्ववत रही। उन्होंने इस बात का भी कोई उत्तर नही दिया। सेठ इसे अपना अपमान समझकर आग-ववूला हो उठा और क्रोधित होकर वोल पडा—"हराम का माल खाने से तो मर जाना अच्छा।"

पर सत के लिए तो ये कटु बाते चिकने घडे पर पडे हुए पानी के समान सावित हुई। न उन्हें क्रोध आया और न ही कोई कडवा उत्तर उनके मुँह से निकला। वे सोचने लगे—"इस भोले व्यक्ति ने अपनी समझ से ठीक ही कहा है। इसकी दृष्टि इस ससार के बाहर नही जाती तो इसका क्या दोष है? अगर यह जान लेता कि इस ससार से परे भी कुछ है और उसके लिए भी कमाई करनी पडती है तो यह समझ जाता कि हम सासारिक कमाई नही करते तो क्या हुआ? आध्यात्मिक कमाई तो करते हैं। और लोगो का जो खाते है उसे उपदेश के रूप मे व्याज सहित लौटा भी देते हैं अत वह हराम का खाना तो नही हुआ। और जव हराम का खाते नही हैं तो फिर शर्मिन्दगी किस वात की? वैसे मरना एक दिन वास्तव मे ही है। इस वात को कहने मे हर्ज ही क्या है?"

इस प्रकार महात्मा जी तो अपने विचारो मे खोये हुए थे और उधर सेठ सत को इतनी कटु वातो को सुनाने के वाद भी मौन देखकर सोच रहा था—"आश्चर्य है कि ऐसी कडवी वाते सुनकर भी सत के चेहरे पर एक भी शिकन

नही आई । वास्तव मे ही साधु असीम समता के धारी होते हैं । धिक्कार है मुझे, जो मैं साधुओ के प्रति इतने हीन भाव रखता हूँ और अभी भी मैंने इन महात्मा को ऐसी कटु बाते कही है ।" यह विचार करते-करते ही सेठ को महान् पश्चाताप हुआ और वह महात्मा जी के चरणो पर लोटता हुआ बोला— "भगवन ! मैं बडा पापी हूँ । महान भूल की है मैंने, क्षमा कीजिये ।"

सेठ के पश्चाताप पूर्ण उद्गार सुनकर अब सत मद-मद मुस्कराते हुए बोले—"मित्र ! तुम्हारा कोई दोप नही है । तुमने जो कुछ भी कहा वह किसी दृष्टि से तो ठीक ही है ।"

"मुझे शर्मिन्दा मत कीजिये महाराज ! मैंने आपको अत्यन्त कटु और असह्य शब्द कहे हैं किन्तु फिर भी आप मुझे मित्र कह रहे हैं ।"

देखो भाई ! महात्माजी बोले—"दो मित्र थे । उनमे से एक परदेश गया और वहाँ उसने अनेक नई-नई वस्तुएँ देखी । उनमे से एक बहुत बढिया चीज वह अपने मित्र के लिये खरीदकर लाया । और अपने गाँव मे आने के बाद उसने वह वस्तु मित्र के सामने रख दी । किन्तु पहला मित्र अपरिग्रह व्रत का धारी था अत उसने उस कीमती वस्तु को ग्रहण करने से प्रेम सहित इन्कार कर दिया ।"

"अब तुम्ही बताओ कि जब मित्र ने उस वस्तु को लेने के लिये इन्कार कर दिया तो वह किसके पास रही ? जो लाया था उसके पास ही रही न ? बस इसी प्रकार तुम मेरे लिए कुछ लाए । किन्तु मुझे उसकी जरूरत नही थी । अत मैंने उसे ग्रहण नही किया । तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही रही मेरा उससे क्या बिगडा बताओ ?"

महात्मा की बात सुनकर सेठ और भी पानी-पानी हो गया तथा उनका सच्चा प्रशसक बनकर अपने घर को लौटा । यह परिणाम था गम खाने का ।

हकीम लुकमान की तीसरी हिदायत थी—"नम जाओ !" नमना अर्थात् नम्रता रखना भी जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम नुस्खा है। जो व्यक्ति नम्र होता है वह अपनी किसी भी कामना को पूरी करने मे असफल नही होता । नम्रता मे अद्वितीय शक्ति होती है । एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

"It was pride that changed angles in to devils , It is humility that makes men as angels."

—आगस्टाइन

अभिमानवश देवता दानव बन जाते हैं और नम्रता से मानव देवता।

वस्तुत अभिमान मनुष्य को नीचे गिराता है किन्तु नम्रता उसे ऊँचाई की ओर ले जाती है। महात्मा आगस्टाइन से ही एक बार किसी ने यह पूछ लिया—"धर्म का सर्वप्रथम लक्षण क्या है ?" उन्होंने उत्तर दिया—

"धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और किंवहुना सभी लक्षण केवल विनय मे ही निहित है।"

सस्कृत के एक आचार्य ने भी नम्रता का महत्व बताते हुए एक श्लोक मे कहा है —

विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं बिना।
सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन बिना कुत ॥

अर्थात्—जिस मनुष्य के जीवन मे विनय का अभाव है, उसके सभी व्रत विनष्ट हो जाते हैं। जैसे पानी के अभाव मे कमल नही ठहर सकते, उसी प्रकार विनय के विना कोई व्रत और नियम जीवन मे टिक नही पाता।

अधिक क्या कहा जाय नम्रता समस्त सद्गुणो का शिरोमणि है। नम्रता से ही सब प्रकार का ज्ञान और सर्व कलाएँ सीखी जा सकती है क्योकि नम्र छात्र अपने क्रोधी से क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेता है जबकि अविनयी शिष्य शात स्वभावी गुरु को भी क्रोधी बना देता है। स्पष्ट है कि ज्ञान हासिल करने वाले शिष्य को अत्यन्त नम्र स्वभाव का होना चाहिये।

आज के युग मे हम देखते है कि स्कूलो और कालेजो के विद्यार्थी इतने उद्दड और उच्छृङ्खल होते हैं कि उनके शिक्षक उन्हे भूलें करने पर और बराबर विषय तैयार न करने पर भी कोई सजा नही दे सकते अन्यथा उन्हे स्वय ही सजा भोगने को बाध्य होना पडता है। पर ऐसी अविनीतता के कारण क्या छात्र कभी ज्ञानी बन सकते हैं ? नही, जिसे हम सच्चा ज्ञान और उत्तम सस्कार कहते है, वह सब अविनीत छात्रो से कोसो दूर चले जाते हैं। परिणाम यही होता है कि ज्ञान के अभाव मे उनका जीवन दोषो और विपत्तियो से परिपूर्ण बना रहता है तथा जन्म-मरण की शृ खला बढती जाती है।

तो बधुओ, मैं बता यह रहा था कि प्रत्येक आत्म-हितैषी व्यक्ति को सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और इसके लिये उसे ज्ञान-प्राप्ति

के समस्त उपायो को भली-भाँति समझकर उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करना चाहिये । जैसा कि मैंने अभी बताया है, ऊनोदरी भी ज्ञान-प्राप्ति का एक उपाय है ।

भूख से कम खाने से प्रथम तो खाद्य पदार्थों पर से आसक्ति कम होती है, दूसरे निद्रा एव प्रमाद मे भी कमी हो जाती है और तभी व्यक्ति स्वस्थ मन एव स्वस्थ शरीर से ज्ञानाभ्यास कर सकता है। कम खाना अर्थात् ऊनोदरी करना, जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से तप है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन मे सहायक भी है। हमे दोनो ही दृष्टियो से महत्वपूर्ण मानकर उसे अपनाना चाहिये ।

●

५

मौन की महिमा

धर्मप्रेमी बधुओ, माताओ एव बहनो !
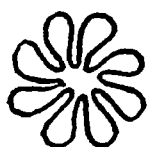
हमारा विषय ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणो को लेकर चल रहा है। पहले हमने इनमे से तीसरे कारण 'ऊनोदरी' पर स्पष्टीकरण किया था। आज अल्प बोलने से किस प्रकार ज्ञान अधिक हासिल किया जा सकता है, इस पर विचार करेंगे।

अल्प यानी थोडा। थोडा बोलने को सस्कृत मे मित-भाषण कहते है। मित भाषण करने का अर्थ है—मर्यादित बोलना। उचित और आवश्यक बोलना अत्यन्त लाभकारी है। वह किस प्रकार ? यही मैं बताने जा रहा हूँ।

जिह्वा किस लिये ?

ससार मे प्रश्नकर्त्ताओ की कमी नही है। कोई यह भी प्रश्न कर सकता है कि भगवान ने जीभ बोलने के लिये ही दी है, फिर उसका उपयोग क्यो न करे ?

बात सही है, मैं भी इसे मानता हूँ। इस विराट विश्व मे अनन्तानन्त प्राणी हैं। जो एकेन्द्रिय है उन्हे केवल स्पर्शेन्द्रिय मिली है, अन्य इन्द्रियाँ नही। और जिनके दो इन्द्रियाँ हैं उन्हे जिह्वा इन्द्रिय मिली तो है पर स्पष्ट और सार्थक बोलने की शक्ति नही मिली। इसी प्रकार तीन एव चार इन्द्रियो वाले प्राणी भी स्पष्ट बोलने मे असमर्थ रहते हैं। यहाँ तक कि समस्त पचेन्द्रिय प्राणी भी तो स्पष्ट बोल नही पाते। हम देखते हैं विशालकाय हाथी, घोडे, शेर आदि जो पचेन्द्रिय हैं वे भी मनुष्य की भाँति सार्थक वचनो का उच्चारण नही कर सकते। विचारो का आदान-प्रदान कर सकने की क्षमता केवल मनुष्य मे ही है। इससे साबित होता है कि असख्य और अनन्त जन्मो मे भ्रमण करने के पश्चात् जीव को केवल मानव योनि मे ही प्रबल पुण्योदय से स्पष्ट, सार्थक और व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता प्राप्त होती है। इसे प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बडा भारी मूल्य पुण्य के रूप मे देना पडता है।

किन्तु इस भारी कीमत देकर पाई हुई बहुमूल्य वस्तु को क्या हमे व्यर्थ ही जाने देना चाहिये ? क्या उस चुकाई हुई कीमत से पुन कुछ वसूल नही करना चाहिये । कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को स्वीकार नही करेगा । विवेकवान व्यक्ति निश्चय ही अपनी अमूल्य जिह्वाशक्ति से पुण्य के रूप मे नवीन सचय करेगा । और वह तभी होगा जबकि वह बहुत सोच-विचार कर वाणी का उपयोग करेगा तथा अनावश्यक और निरर्थक बोलने के बजाय मौन रहेगा।

पूज्यपाद मुनिश्री अमीऋषि जी महाराज ने सच्चे गुरु के लक्षण बताते हुए कहा है —

मौन करी रहे नही आश्रव के वेण कहे,
सवर के काज मृदु वचन उच्चारे है ।
बोलत है प्रथम विचारी निज हिये माहिं,
जीव दया युत उपदेश विसतारे है ।
आगम के वेण एन, माने सुखदेन येन,
माने मिथ्या केन चित्त ऐसी विध धारे है ।
कहे अमीरिख मुनि ऐसे मौनधारी होय,
तारण तरण सोही सुगुरु हमारे है ।

कितनी सुन्दर बात है ? कहा है—अनर्गल और कटुवचन बोलकर कर्मों का बधन करने के बजाय जो मौन रहते हैं, केवल निर्जरा की दृष्टि से मधुर वचनो का उच्चारण करते है, पहले विवेकपूर्वक विचार करने के पश्चात् ही बोलते हैं, जीव दया का पालन किया जाय इस हेतु उपदेश देते हैं तथा आगम के वचनो को ही सत्य एव सुखदायी मानते हैं । स्वय कभी मिथ्या भाषण नही करते तथा मिथ्या भाषण करने की अपेक्षा मौन रहना अधिक पसद करते हैं ऐसे अपने आपको तथा औरो को भी भव-सागर से पार उतारने की क्षमता रखने वाले ही हमारे सच्चे गुरु कहला सकते हैं ।

सिक्खो के धर्मग्रन्थ मे भी कहा है —

जित बोलिये पति पाईए सो बोल्या परवाण ।
फिक्का बोल विगुच्चणा सुन मूर्ख मन अजान ॥

—(श्रीराग म० १)

अर्थात्—ऐसी वाणी ही बोलने योग्य है, जिससे मनुष्य सम्मान पाये । हे मूर्ख और अज्ञानी मन ! कटुवचन बोलकर अपमानित मत हो ।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने वचनो का उपयोग वडी सावधानी से करता है। वह पूरा ध्यान रखता है कि उसके वचनो से किसी भी व्यक्ति को चोट न पहुँचे और न ही उसके कथन का तिरस्कार ही हो। वाणी के महत्व को जान लेने के कारण वह व्यर्थ वकवाद से वचता है, निरर्थक तर्क-वितर्क और वितडा-वाद से परे रहता है तथा अनुचित हठ, छल या किसी को धोखे मे डालने वाले शव्द नही कहता। दूसरो को सन्ताप देने से उसे स्वय कष्ट होता है इसलिये उसकी वाणी मे अहकार या कर्कशता नही होती। अपितु उसकी वाणी के समान ही उसका हृदय भी कोमल और करुणा की भावना से परिपूरित होता है। सुन्दर हृदय वाले की वाणी भी उसी के अनुरूप होती है। दूसरे शव्दो मे वाणी एक दर्पण के समान होती है जिस पर मनुष्य के अन्तस्तल का प्रतिविव पडता है।

वाणी का विवेचन करते हुए एक विद्वान ने वडे सुन्दर भाव प्रकट किये है —

The first, ingredient in conversation is truth, The next, good sense, the third, good humour, and the forth, wit

—सर डब्लू टेम्पिल

वातचीत का पहला अश है सत्य, द्वितीय सुन्दर समझ-वूझ, तृतीय सुन्दर विनोद और चतुर्थ वाक्चातुर्य।

वस्तुत वाणी की महिमा अवर्णनीय है केवल उसका सदुपयोग करने वाला व्यक्ति ही उसे समझ पाता है। हमारे शास्त्रकारो ने भापा के सम्यक् प्रयोग पर वहुत जोर दिया है। उनका कथन है कि कटु, कठोर या असत्य भाषा का प्रयोग करने की अपेक्षा मौन रहना ही उत्तम है। भाषा पर नियत्रण न होने पर कभी-कभी वडा भयकर परिणाम सामने आता है। अर्थात्—वाद-विवाद, तूतू-मैंमैं, घोरसघर्ष और महाभारत ठन जाने की भी नौवत आ जाती है। किन्तु अगर व्यक्ति मौन का अवलवन ले लेता है तो वडे-वडे सघर्ष भी क्षण भर मे समाप्त हो जाते हैं।

मौन का महत्व

मौन का प्रथम तो शरीर से ही वडा भारी सवध होता है। जो व्यक्ति कम वोलते है, उनके मस्तिष्क की शक्ति कम व्यय होती है और वह शक्ति ज्ञान प्राप्ति मे सहायक वनती है। अधिक वोलने वाले का दिमाग अधिक तथा निरर्थक वातें करने मे थक जाता है और थके हुए दिमाग से ज्ञानार्जन जैसा

होना चाहिये, सभव नही होता। दूसरे, अधिक बोलने पर अथवा अधिक वाद-विवाद करने पर अधिकतर व्यक्ति चिढने लगता है तथा आवेश मे आकर क्रोधित भी हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उसकी बुद्धि मलिन हो जाती है और मलिन बुद्धि ज्ञान को ग्रहण करने मे समर्थ नही हो पाती। ऐसा क्यो होता है, यह गीता के एक श्लोक से जाना जा सकता है। उसमे बताया है—

क्रोधाद्भवति समोह समोहात्स्मृतिविभ्रम।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशाद्प्रणश्यति॥

क्रोध से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वय नष्ट हो जाता है।

प्राणी के स्वय नष्ट होने से यहाँ यह अभिप्राय नही है कि उसका शरीर नष्ट हो जाता है अथवा वह मर जाता है। अपितु क्रोध से उत्पन्न मूढता के कारण क्रमश शक्ति एव बुद्धि का नाश हो जाने के कारण उसमे हिताहित का ज्ञान नही रहता, विवेक समाप्त हो जाता है और इस सबका परिणाम यही होता है कि व्यक्ति अज्ञान के अधकार मे भटककर आत्म-मुक्ति के मार्ग को नही खोज पाता। एक उदाहरण से भी स्पष्ट होता है कि क्रोध किस प्रकार साधक के मार्ग मे बाधक बनता है।

आत्म-शुद्धि

एक वैष्णव सन्त के पास एक साधक आया और बोला—"गुरुदेव! मुझे आत्म साक्षात्कार का कोई उपाय बताइये।"

सत ने कहा—"वत्स! तुम एक वर्ष तक अमुक मन्त्र का जाप एकान्त मे पूर्ण मौन रहकर करना तथा जप करते हुए जब वर्ष पूरा हो जाय उस दिन स्नान करके मेरे पास आना। तभी मैं तुम्हें आत्म-साक्षात्कार का उपाय बता सकूंगा।"

साधक सत की आज्ञानुसार किसी एकान्त स्थान मे चला गया और एक वर्ष तक मौन रहकर उनके बताए हुए मन्त्र का जप करता रहा। समय पूरा होने पर वह सत के आश्रम की ओर चल दिया।

इधर जब सत को साधक के आने का समाचार मिला तो उसने आश्रम मे बुहारी लगाने वाली हरिजन स्त्री से कह दिया कि जब साधक गगा स्नान

करके यहाँ आए तो उसके शरीर पर अपनी झाड़ू से थोडा-सा कचरा डाल देना।

भगिन ने वैसा ही किया। अर्थात् जब साधक आश्रम के मुख्य द्वार से प्रविष्ट होने लगा, उसने झाड़ू से कुछ कचरा साधक के शरीर पर गिरा दिया।

यह देखते ही साधक आग-बबूला हो गया और मारे क्रोध के उस स्त्री को मारने के लिए दौडा। स्त्री किसी तरह जान बचाकर भाग गई और साधक भी उसे न पा सकने के कारण पुन नदी पर स्नान करके आश्रम मे आया।

सत के समक्ष आकर उसने कहा—"गुरुदेव ! मैं एक वर्ष तक आपके बताए हुए मन्त्र का जाप करता रहा हूँ। अब आप मुझे आत्म-साक्षात्कार का उपाय बताइये।"

सत बोले—"भाई ! अभी तो तुम सर्प के समान क्रोधित होते हो। फिर से एकान्त मे जाकर मौन-भाव से उसी मन्त्र का जप करो और तब आत्म-साक्षात्कार का उपाय जानने के लिए आना।"

साधक को यह सुनकर बडा बुरा लगा किन्तु उसे सत की बात पर विश्वास था और उसे आत्म-साक्षात्कार करने की लगन थी अत चुपचाप चल दिया और पुन जप करने लगा।

जब इसी प्रकार दूसरा वर्ष पूरा हुआ तो वह बडी उत्सुकता से गगास्नान करके सत के आश्रम की ओर चला। किन्तु सत को तो उसकी पूरी परीक्षा लेनी थी अत उन्होंने उस हरिजन स्त्री को फिर से कचरा-कूडा साधक पर डालने के लिए कह दिया।

स्त्री ने भी वैसा ही किया तथा अपनी झाड़ू साधक के पैरो से तनिक छुआ दी। साधक यह देखकर पिछली बार की तरह मारने तो नही दौडा किन्तु झल्ला गया और कुछ कटु शब्द भगिन को कह दिये।

उसके पश्चात् पुन नहाकर लौटने पर उसने सत से अपनी प्रार्थना दोहराई। सत बोले—"बेटा ! अभी तुममे आत्म-साक्षात्कार करने की योग्यता पूरी नही आई है। एक बार और जाकर उसी मन्त्र का जप एक वर्ष तक करो। मुझे आशा है कि इस बार तुम अवश्य सफल हो जाओगे।"

साधक को गुरु की बात सुनकर आश्चर्य हुआ और कुछ निराशा भी।

किन्तु उसने कोई उत्तर नही दिया तथा मन मे कुछ विचारता हुआ शाति से अपने स्थान पर लौट आया तथा मन्त्र का जप करने मे तल्लीन हो गया। पूर्ण मौन रहकर जप करते हुए उसने तीसरा वर्ष भी समाप्त किया और स्नान करके सत के आश्रम की ओर आया।

इस वार भी भगिन वही थी और उसका कार्य भी वैसा ही था। अब की वार तो उसने कचरे से भरी हुई अपनी टोकरी ही साधक पर उडेल दी। किन्तु साधक इस वार पूर्णतया वदल चुका था। उसने तनिक भी क्रोध किये विना दोनो हाथ जोडकर उस अछूत स्त्री से कहा—"मां! तुमने मुझ पर वडा उपकार किया है। तुम तीन वर्ष से मेरे अन्त करण मे छिपे हुए क्रोध रूपी शत्रु का नाश करने के महान् प्रयत्न मे लगी रही हो। तुम्हारी इसी कृपा के कारण मैं उसे जीत सका हूँ।"

इस बार जब साधक सत के समीप पहुँचकर उनके चरणो मे नत हुआ तो उन्होने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया और वोले—"वेटा! अब तुम आत्म-साक्षात्कार का उपाय जानने के योग्य हो गए हो। तीन वर्ष के मौन-जाप ने ही तुम्हारे क्रोध का नाश किया तथा तुम्हारी आत्मा को शुद्ध बनाया है। अब तुम मुझसे जो भी ज्ञान लोगे उसे सार्थक कर सकोगे।"

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि मौन मे कितनी शक्ति है। मौन रहकर मन्त्र का जप करने से ही साधक के क्रोध का नाश हुआ, अन्त करण विशुद्ध बना और ज्ञान प्राप्ति की क्षमता पैदा हुई। इसीलिए ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह कारणो में से मौन भी एक कारण माना जाता है।

राजस्थानी भाषा के एक दोहे मे भी क्रोध के नाश का सहज उपाय कवि कुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज के द्वारा वताया गया है—

जाण रो अजाण लीजे, तत लीजे ताणी।
आगलो अगन होवे तो आप होजे पाणी।

कितना सरल उपाय है? कहा है—अगर हम किसी व्यक्ति के स्वभाव को जानते हैं कि वह शीघ्र आवेश मे आ जाता है, क्रोध करता है तथा कटु वचनो का प्रयोग करने मे भी नही हिचकिचाता तो उसके वचनो से तर्क-वितर्क से अथवा अनावश्यक प्रलाप मे से भी कोई उपयोगी शिक्षा, अर्थात् सार तत्त्व निकलता हो तो हमे मौन रहकर ग्रहण कर लेना चाहिए और उसकी अन्य सब वातो को जानते हुए भी अनजान सा वनकर उपेक्षित कर देनी चाहिए।

इसके अलावा अगर उत्तर देना आवश्यक हो तो कहने वाले की कटु बातो का भी मृदुतापूर्वक उत्तर देकर उसके क्रोध को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। दोहे मे इसी बात को दूसरे शब्दो मे कहा है कि अगर सामने वाला व्यक्ति क्रोध की अग्नि से जल रहा हो तो हमे मधुर वचन रूपी शीतल जल से उसकी क्रोधाग्नि को शात करना चाहिए। अगर हम कहने वाले के कटु-शब्दो का उसी प्रकार उत्तर नही देंगे तो आखिर उसका क्रोध कब तक ठहरेगा ? निश्चय ही उसका क्रोध अल्प-समय मे ही उसके लिए पश्चाताप का कारण बन जाएगा और वह आपको अपना हितैषी मानकर स्वय आपका हितैषी और मित्र बन जाएगा।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी विवेकपूर्वक बोली जाने वाली वाणी का महत्व बताया है—

बोली से आदर और जग मे सुयश होय,
बोली से सकल जन मित्र हो रहत है।
बोली से अनेक विध भोजन मधुर मिले,
बोली से खावत मार गाली भी सहत है।
बोली से है खाड और बोली से पैजार त्यार,
बोली से तो जाय मूढ कैद ही सहत है।
अमीरिख कहे भवि बोली है रतनसार,
सुगुणी विवेकी बोल तोल के कहत है।

पद्य मे बताया गया है कि किस प्रकार उसके उपयोग से परस्पर पूर्णतया विरोधी फल निकलते है। एक ओर जहाँ मधुर वचनो से व्यक्ति को ससार मे आदर और सुयश प्राप्त होता है, प्रत्येक व्यक्ति उसका मित्र बन जाता है तथा किसी के यहाँ पहुँचने पर उसे हार्दिक स्वागत-सत्कार और भोजन-पान प्राप्त होता है, दूसरी ओर उसी वाणी का कटुतापूर्वक प्रयोग करने से व्यक्ति को अनादर एव अपयश की प्राप्ति होती है, अनेक बार गालियाँ और मार भी खानी पडती है। इतना ही नही, अपने कठोर वचनो के कारण उस मूढ को कारागृह की हवा भी खानी पड जाती है।

इसलिए विवेकी पुरुप अपने वचनो को रत्नवत मानकर बडी समझबूझ सहित उन्हें उपयोग मे लाते है अन्यथा मौन रहते है। एक नीतिवान शर्राफ के समान वे अपने वचनो का मोल करते हैं। वे न तो दूसरो का ही नुकसान करना चाहते हैं और न अपना। वे बराबर तौल करते हैं, बराबर देते है और

बरावर ही लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शब्दो को भी तौलकर मुख से निकालते है ताकि उनसे दूसरो को हानि न पहुँचे और उनके भी कर्मों का बन्धन न हो।

सफलता के सूत्र

पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी म० के विषय मे आप जानते ही होंगे। जोकि एक उच्चकोटि के सत एव महान् कवि भी थे। इन्होंने केवल दस वर्ष की अल्पावस्था मे दीक्षा ग्रहण की तथा उसके पश्चात् छब्बीस वर्ष तक सयम का पालन किया। किन्तु कुल छत्तीस वर्ष की उम्र मे ही उन्होने अनेक महान् कार्य सम्पन्न किये। उत्तमोत्तम काव्य-रचना की, अनेक कलापूर्ण वस्तुओ का निर्माण किया, सत्रह शास्त्र कण्ठस्थ किये और अत्यधिक धर्म-प्रचार किया। अपने जीवन के अन्तिम चार वर्षों मे तो उन्होने इतने अधिक गाँवो मे विचरण करते हुए धर्म-प्रचार किया, जितना वर्षों तक विचरण करते हुए भी कोई नही कर पाता। वे जहाँ-जहाँ भी जाते, उपदेश तो देते ही थे, उस स्थान और वातावरण को लेकर कविताओ की रचना भी करते थे।

इतना सब वे कैसे कर पाए? तभी, जबकि व्यर्थ के वार्तालाप तथा वाद-विवाद आदि से बचते रहे। अगर अपनी दिमागी शक्ति को उन्होंने अनावश्यक बातो मे व्यय कर दिया होता तो यह सब कदापि सभव नही था। वे कहते थे—

करोड बात की वार्ता, सकल ग्रन्थ को सार।
दया, दान दम आतमा, तिलोक कहे उर धार॥

अर्थात्—करोड बातो की बात और समस्त ग्रन्थो का एकमात्र सार इतना ही है कि दया का पालन करो, दान दो तथा आत्मा पर यानी इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखो। अगर व्यक्ति इतना ही समझ ले और उसे अमल मे लाए तो आत्म-कल्याण करने मे समर्थ हो सकता है।

आत्म-मुक्ति रूपी सिद्धि की सफलता का पहला सूत्र है दया का पालन करना। हमारा जैन धर्म तो दया अथवा अहिंसा की भित्ति पर टिका हुआ ही है, ससार के अन्य सभी धर्म भी अहिंसा पर बहुत जोर देते हैं। ध्यान मे रखने की बात है कि प्रत्येक धर्म आत्मशाति और विश्वशाति के पवित्रतम उद्देश्य को लेकर ही स्थापित किया गया है और यह उच्चतम उद्देश्य अहिंसा या दया के अभाव मे पूरा नही हो सकता। मनुष्य के मन मे दया की जो स्वर्गीय

भावना पाई जाती है, वह अहिंसा की ही अमूल्य देन है। अगर ससार के प्राणियो के हृदयो मे से यह भावना विलीन हो जाए तो ससार की स्थिति कैसी हो जाय, इसकी कल्पना करना भी भयावह लगता है। सभवत नरक जिसे कहा जाता है वही इस पृथ्वी पर प्रत्यक्ष दिखाई देने लग जाय। इसीलिए हमारे शास्त्र और सत महापुरुष बार-बार दया का पालन करने पर जोर देते हैं।

एक फारसी कवि ने भी यही कहा है—

मवाश दरपै आजार हरचि खाही कुन।
कि दर तरीकते या गैर अजी गुनाहे नेस्त॥

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू और जो चाहे कर, किन्तु किसी को दुख न दे। क्योकि हमारे धर्म मे इसके अतिरिक्त दूसरा कोई पाप नही है।

सफलता का दूसरा सूत्र है—दान देना। जिस व्यक्ति के हृदय मे दया की भावना होगी, उसकी प्रवृत्ति दान देने की ओर अवश्य बढेगी। क्योकि दया अभावग्रस्त प्राणी पर आती है और उसके अभाव को पूरा करने की इच्छा होने पर दान दिया जाता है 'दीयते इति दान।' जो दिया जाय वह दान है।

दान का बडा भारी महत्व होता है, इसे धर्ममय जीवन का मुख्य अग अथवा धर्म का प्रमुख द्वार कहा जाता है। कहा भी है —

नास्ति दानात् पर मित्रमिह लोके परत्र च।

इस लोक और परलोक मे, सर्वत्र ही दान के समान दूसरा मित्र नही है।

ऐसा क्यो कहा गया है ? इसलिए कि इस लोक मे दान देने से जीव को परलोक मे भी अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। धन-वैभव तथा अन्य समस्त भौतिक पदार्थ तो प्राणी को काल का ग्रास होते ही छोड देने पडते हैं, किन्तु दान देकर जो पुण्य कमाया जाता है वह उसके साथ परलोक मे भी जाता है। उसका किमी प्रकार भी नष्ट होना सभव नही होता।

एक कवि का कथन भी यही है —

करले जो करना है अभी कल का भरोसा कुछ नही,
सच्चा खज़ाना पुण्य का, काम तेरे आएगा।
पिछली कमाई खा चला, आगे को भी करले जमा,
न यौवन का मानकर सग नही कुछ जाएगा।

पद्य मे मानव को चेतावनी दी गई है—'अपने धन अथवा यौवन का तनिक भी गर्व मत कर। देह छूटते ही यह सब तेरी आत्मा से विलग होने वाला है। इसके अलावा, जीवन का एक क्षण का भी भरोसा नही है कि पानी के बुलबुले के समान यह कब मिटने वाला है। अत पूर्वकृत पुण्यो के उदय से जो मानव-पर्याय रूपी सुअवसर तुझे मिल गया है इस पूंजी से अगले जन्म के लिए भी पुण्य का सचय कर। केवल सचित किये हुए पुण्य का कोष ही तेरे साथ जाएगा और तुझे लाभ पहुँचाएगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को मुक्त-हस्त से दान करना चाहिए। हमारे भारत की पावन भूमि पर तो सदा से ही अत्यन्त विशाल हृदय वाले दानी महापुरुषो का जन्म होता रहा है। जिन्होंने अपने प्राण चाहे त्याग दिये किन्तु याचक को कभी द्वार से निराश नही लौटाया। राजा कर्ण के पास स्वय इन्द्र ब्राह्मण के वेश मे आए और उनसे कवच तथा कुण्डल दान मे मांगे। कर्ण जानते थे कि कवच और कुण्डल दे देने पर उनकी मृत्यु निश्चित है। वे यह भी जानते थे कि उन्हे मारने के लिए ही ये वस्तुएँ मांगी जा रही हैं और याचक स्वय इन्द्र हैं जो वेश परिवर्तन करके आए हैं। लेकिन तब भी मन मे मलाल लाए बिना उन्होने उसी क्षण कवच और कुण्डल इन्द्र को बिना हिचकिचाहट के प्रदान कर दिये।

यह है हमारी भारतीय सस्कृति, जिसमे दया, दान एव परोपकार आदि अनेक सद्गुण समाये हुए हैं। सच्चे महापुरुष इन बातो से कभी मुँह नही मोडते चाहे इनके लिए उन्हे अपने प्राण ही क्यो न न्यौछावर करने पड़ें। वे भली-भाँति जानते हैं कि ससार के व्यक्ति तो मानव की किसी भी प्रकार की उन्नति को सहन नही कर सकते। प्रत्येक स्थिति मे निंदा व अप्रशसा करने के लिए उधार खाये बैठे रहते हैं। धर्म-क्रिया करने वाले को ढोंगी तथा साधु बन जाने वाले को भी पुरुषार्थहीन, निकम्मा और कायर कहने से नही चूकते। अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति से निष्कारण वैर रखना मनुष्य का स्वभाव है। और केवल मनुष्य ही नही वह अन्य निर्दोष प्राणियो को भी कष्ट पहुँचाने मे आगा-पीछा नही सोचता। एक श्लोक मे कहा गया है —

मृग मीन सज्जनानां, तृण जल संतोष विहित वृत्तीनाम्।
लुब्धक, धीवर, पिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

कहते हैं— मृग या हरिण जो कि घास खाता है, जगल मे रहता है, कभी

किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नही देता, कोई भी नुकसान नही पहुँचाता उसके पीछे भी मनुष्य धनुष-बाण लिए शिकारी बनकर घूमता रहता है।

इसी प्रकार बेचारी मछली जो कि अपने आस-पास रहे हुए थोडे या अधिक पानी मे ही तैरती रहती है, अपने उसी ससार मे मगन होकर घूमती है। यह मनुष्य ही धीवर के रूप मे कॉटे डालकर उसे फँसाने के लिए बैठ जाता है।

तीसरा नम्बर है सज्जन पुरुषो का। सज्जन अथवा सत-जन भी किसी प्राणी को कष्ट, दुख या हानि तो पहुँचाते ही नही हैं, उलटे उनकी भलाई और परोपकार मे रत रहते हैं, सन्मार्ग से भटके हुओ को मार्ग दर्शन करते है तथा अपनी हानि सहकर भी औरो को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। जैसा कि कहा गया है —

विप्रियमप्याकर्ण्य ब्रूते प्रियमेव सर्वदा सुजन ।
सारं पिबति पयोधेर्वर्षत्यम्भोधरो मधरम् ॥

जिस प्रकार समुद्र का खारा जल पीकर भी बादल मीठा जल ही बरसाता है, उसी प्रकार सज्जन औरो की कटुवाणी सुनकर भी सदा मधुर शब्द ही बोलता है।

कहा जाता है कि एक बार हजरत अली नमाज पढ रहे थे। अचानक एक दुष्ट व्यक्ति वहाँ आया और उसने अपनी तलवार उन पर वार करने के लिए उठाई।

तलवार उनकी गर्दन पर पडती उससे पहले ही अन्य नमाज पढने वाले व्यक्तियो ने उस घातक व्यक्ति को पकड लिया उसे रस्सी से बाँधकर हजरत अली के सम्मुख उपस्थित किया।

उसी समय एक भक्त उनके लिए शरबत का गिलास लेकर आया और उसे पी लेने की प्रार्थना करने लगा। अली ने एक बार गिलास की ओर देखा तथा दूसरी बार बँधे हुए अपराधी की ओर। अपराधी की ओर वही करुण दृष्टि से देखते हुए वे बोले—"भाई! शरबत का यह गिलास इस दुखी को दे दो, दौड-धूप करने से बेचारा बहुत थक गया होगा।"

तो ऐसे सतो के पीछे भी दुष्ट व्यक्ति लगे ही रहते है। उनकी निंदा, अपमान और हत्या करने तक से पीछे नही हटते।

अब हमे समस्त ग्रन्थो के सार-तत्व की तीसरी बात आत्म-दमन को लेना है, जिसका उल्लेख श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने किया है।

जो साधक आध्यात्मिक साधना करना चाहता है उसे सतत अभ्यास के द्वारा अपनी इन्द्रियो पर नियन्त्रण करना चाहिए तथा मन की गति का बडी बारीकी से अध्ययन करते हुए उसे वश मे रखने का प्रयत्न करना चाहिए। इन्द्रियो का स्वामी मन है और अगर उसे वश मे कर लिया जाय तो इन्द्रियो पर सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है। किन्तु मन को वश मे करना ही बडा कठिन होता है, क्योकि वह अत्यन्त धृष्ट होता है। और इसीलिए उसका निग्रह कर लेने पर भी वह पुन-पुन' अपनी चपलता के कारण नियन्त्रण से बाहर होने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि उसे वश मे करने वाला व्यक्ति अगर कमजोर हो तो स्वय ही उसके वश मे हो जाता है।

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।

—उत्तराध्ययन सूत्र

हमारे जैनागमो मे मन को एक दुष्ट घोडे की उपमा दी गई है। उसके विषय मे कहा गया है कि जिस प्रकार दुष्ट घोडा अपने सवार के नियन्त्रण से बाहर हो जाता है तथा लगाम खीची जाने पर भी और वेग से दौडता है, उसी प्रकार मन को ज्यो-ज्यो नियन्त्रण मे रखने का प्रयत्न किया जाता है त्यो-त्यो वह तेजी से विषयो की ओर उन्मुख होता है।

एक उर्दू के कवि ने कहा है —

अस्प हो आजाद सरपट कैद होता है सवार।
अस्प हो मुतलिकइना हैरान होता है सवार॥
इन्द्रियो के घोड़े छूटे बाग डोरी तोड कर।
वह मरा, वह गिर पड़ा असवार सिर मुँह फोड़कर॥
जाने मन आजाद करना चाहते हो अस्प को।
कर रहे आजाद क्यो हो आस्ती के साँप को॥

अस्प का अर्थ है अश्व। कवि के कहने का अभिप्राय यह है कि वश मे न आया हुआ मन अपने स्वामी को एक दुष्ट घोडे के समान महान सकट मे डाल देता है अत इस मन रूपी आस्तीन के साँप को प्रारम्भ से ही नियन्त्रण मे रखो, इसे तनिक भी छूट मत दो।

जो व्यक्ति ऐसा करेगा वही अपने मन एव इन्द्रियो पर नियन्त्रण रख सकेगा और दूसरे शब्दो मे आत्म-दमन कर सकेगा। किन्तु ऐसा होगा कब ? जबकि वह सच्चा ज्ञान हासिल करेगा तथा उसके द्वारा अपनी आध्यात्मिक साधना को मजबूत बनाएगा। निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही यह दुस्तर कार्य सम्पन्न किया जा सकेगा।

तो बधुओ ! यह स्पष्ट है कि सच्ची साधना ज्ञान के द्वारा ही सभव हो सकती है। ज्ञान के अभाव मे आध्यात्मिक साधना करने का प्रयत्न करने वाला व्यक्ति कभी भी अपने उद्देश्य मे सफलता हासिल नही कर सकता। इसलिये आत्म-हितैपी व्यक्ति को सर्वप्रथम ज्ञानार्जन का प्रयास करना चाहिये, और ज्ञानार्जन के लिये मुख्य शर्त यही है कि ज्ञानार्थी अपनी सम्पूर्ण शक्ति इसी उद्देश्य की पूर्ति मे लगाए तथा निरर्थक बातचीत और बकवास मे उसे व्यय न करे।

जो व्यक्ति कम से कम बात करेगा वही ज्ञान प्राप्ति मे अपना अधिक से अधिक समय और शक्ति लगाकर उसकी भली-भाँति आराधना कर सकेगा। कबीर ने कहा है—

वाद विवादे विष घना, बोले बहुत उपाध।
मौन गहे सबकी सहै, सुमिरै नाम अगाध।

वस्तुत अधिक बोलने से नाना प्रकार की परेशानियाँ सामने आती हैं और विवाद अधिक बढ जाने पर कटुता रूपी विष उत्पन्न हुए बिना नही रहता। इसलिये सबसे उत्तम यही है कि अधिक से अधिक मौन रहकर ज्ञानाभ्यास किया जाय ताकि उसे सच्चे अर्थों में प्राप्त किया जा सके। एक पश्चात्य विद्वान ने मौन की महत्ता बताते हुए कहा है —

Silence is more eloquent than words

—कार्लाइल

मौन मे शब्दो की अपेक्षा अधिक वाक्शक्ति रहती है।

इसलिये प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति को अधिक से अधिक मौन रहकर ज्ञानादि गुणो का सचय करना चाहिये। अधिक बोलने से दिमाग कम-जोर होता है, स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और तीसरा नुकसान यह होता है कि निरर्थक बातचीत और वाद-विवाद मे बहुतसा समय व्यर्थ चला जाता है फलत व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि मे पूरा समय नही

लगा पाता। तथा इसके विपरीत अल्पभाषी मनुष्य अधिक से अधिक समय तक मौन रहने के कारण अपने अमूल्य समय की बचत कर लेता है तथा अपने आध्यात्मिक कार्यों को करने की क्षमता बढाता है।

अधिक से अधिक मौन रहने पर ही मन एकाग्रतापूर्वक समाधि मे स्थिर रह सकता है। और इसका पुन पुन अभ्यास हो जाने पर उसकी चपलता समाप्त होती है। इसे ही मन पर विजय प्राप्त करना कहा जाता है। मौन केवल वाणी का ही नही, अपितु मन का भी होता है। और मन को विषयो की ओर उन्मुख होने से रोकना ही इसका मौन कहलाता है। ध्यान मे रखने की बात है कि वचन का मौन तो इच्छा करते ही सभव हो सकता है किन्तु मन की दौड अहर्निश जारी रहने के कारण उसे शात रखना बडा कठिन होता है और मस्तिष्क के बार-बार प्रेरणा देने पर भी वह इधर-उधर चला जाता है। इसलिये वाणी के मौन के साथ-साथ मन के मौन का भी प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करने पर ही आत्म-कल्याण का इच्छुक व्यक्ति अधिक से अधिक ज्ञान लाभ कर सकता है तथा अपनी साधना को उच्चतर बनाता हुआ अपने निर्दिष्ट लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

६
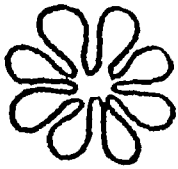
सत्सगति दुर्लभ ससारा !

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

हमारा विपय ज्ञान प्राप्ति के कारणो को लेकर चल रहा है। ज्ञान प्राप्ति के ग्यारह कारण है, जिनमे से कल चौथे कारण 'मौन' का विवेचन किया गया था। आज हम पाँचवें कारण के विपय मे विचार-विमर्श करेंगे।

ज्ञान प्राप्ति मे पाँचवाँ कारण है—पडित पुरुपो की सगति। पडित पुरुपो की सगति कहा जाय अथवा सत्सगति कहा जाय, एक ही वात है। हम देखते ही है कि छात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने शिक्षक के पास जाता है और साधक अपने गुरु के समीप रहकर ज्ञानाभ्यास करता है। दोनो का ध्येय एक ही है और वह है ज्ञान प्राप्त करना। अगर शिक्षक और गुरु ज्ञानी हैं तो वे ज्ञानाभिलापी को सच्चे अर्थों मे ज्ञानवान वनाएँगे। और इसीलिये ज्ञान प्राप्ति मे पडित पुरुपो की सगति मुख्य कारण मानी गई है। इतना ही नही जीवन का सर्वाङ्गीण विकास भी सत्सगति से ही हो सकता है यह वात निर्विवाद सत्य है।

सत्सग और जीवन-निर्माण

कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही विद्वत्ता, वीरता, अथवा कोई अन्य उल्लेखनीय योग्यता लेकर नही आता। वह आगे जाकर जो कुछ भी वनता है केवल सगति से ही वनता है। विद्वत्कुल मे जन्म लेने वाला शिशु अगर कुसगति मे पड जाय तो चोर, डाकू, जुआरी और शरावी वन जाता है तथा हीन कुल मे जन्म लेने वाला वालक सुसगति पाकर महा विद्वान और साधु-पुरुप वनकर ससार मे लोगो का श्रद्धा पात्र वनता है। एक श्लोक मे कहा गया है —

असज्जन सज्जन सङ्गिसङ्गात्
करोति दु साध्यमपीह लोके।
पुष्पाश्रया शम्भुजटाधिरुढा
पिपीलिका चुम्वति चन्द्रविम्वम् ॥

असज्जन भी सज्जनो की सगति से इस ससार मे दु साध्य काम कर डालते हैं। फूलो के सहारे चीटी शकर की जटा पर बैठ कर चन्द्रमा का चुम्बन लेने पहुँच जाती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्सगति से न हो सकने वाला काम भी सहज और सभव हो जाता है। अगर व्यक्ति सदा श्रेष्ठ पुरुषो की सगति मे रहे तो अज्ञान, अहकार आदि अनेक दुर्गुण तो उसके नष्ट होते ही है उसे आत्म-मुक्ति के सच्चे मार्ग की पहचान भी होती है जिसको पाकर वह अपने मानव जीवन को सार्थक कर सकता है।

श्री भर्तृहरि ने भी सत्सगति का बडा भारी महत्त्व बताते हुए कहा है —

जाड्यधियो हरति सिञ्चति वाचि सत्य—
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति।
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति—
सत्सगति कथय किन्न करोति पुसाम्॥

—नीति शतक

सत्सगति बुद्धि की जडता को नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सीचती है, मान बढाती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है, ससार मे यश फैलाती है। सत्सगति मनुष्य का कौनसा उपकार नही करती ?

कितना महात्म्य है सत्सगति का अर्थात् सज्जन पुरुषो का ? प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो ? इतना अधिक महत्त्व सत-समागम को किसलिये दिया गया है ? यही मैं आपको बताने जा रहा हूँ।

सत्सगति से लाभ

सज्जन पुरुषो के समागम से पहला और सर्वोत्तम लाभ यह है कि वे शत्रु और मित्र दोनो से ही समान व्यवहार करते हैं। वे सदा दूसरो का हित ही करते हैं कभी भी किसी अन्य की चाहे वह उनका कट्टर वैरी ही क्यो न हो, हानि नही करते, उसके अहित की भावना हृदय मे भी नही लाते। इससे स्पष्ट है कि किन्ही कारणो से, सबब से अगर वे किसी का हित न कर पाएँ तो भी उनके द्वारा अहित होने का भय नही रहता।

आपको क्षमा नहीं करूंगा

महात्मा गाँधी जब दक्षिण अफ्रीका मे थे, उनकी एक इन्जीनियर केलन बैंक से जो कि जर्मनी के रहने वाले थे, मित्रता हुई। केलन बैंक गाँधीजी के सद्गुणो

से अत्यत प्रभावित हुए और उनके सपर्क से स्वय भी बडे सीधे-सावे ढग से रहने लगे। वे अधिकतर गाँधीजी के साथ ही रहा करते थे तथा प्रतिदिन उनके साथ भ्रमणार्थ जाया करते थे।

एक वार उन्हें मालूम पडा कि कुछ व्यक्ति वापू की हत्या करने का विचार कर रहे है और इसके लिये पड्यन्त्र रच रहे हैं। यह मालूम होते ही वे सतर्क हो गए और एक पिस्तौल हर वक्त अपने कोट की जेव मे रखने लगे।

एक दिन जव दोनो मित्र घूमने जा रहे थे, गाँधीजी को सन्देह हुआ और उन्होंने केलन वैंक की कोट की जेव मे हाथ डालकर उसमे से पिस्तौल निकाल लिया। तथा आश्चर्य से बोले—"क्या महात्मा टालस्टाय के शिष्य भी पिस्तौल जैसी हिंसक वस्तु अपने पास रखते है ?"

"अगर जरूरत हो तो रखने मे क्या हर्ज है ?" वैंक ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

"किन्तु अभी ऐसी कौन सी जरूरत इसे रखने की आ पडी है ?" वापू ने पुन प्रश्न किया।

"वात यह है कि मुझे विश्वस्त सूत्रो से मालूम हुआ है कि कुछ व्यक्ति आपकी हत्या करने का पड्यन्त्र रच रहे हैं। अत आपकी सुरक्षा के लिये मैं इसे हर समय अपने पास रखता हूँ।" वैंक का उत्तर था।

सुनकर गाँधीजी आवेश मे आकर वोले—"मित्र, आप मेरी रक्षा करेंगे ? यह असभव है। वैसे यह आत्मा अमर है, इसे कोई नही मार सकता। दूसरे हम अहिंसा के सिद्धात को मानने वाले हैं अत हमे अहिंसा पर ही निर्भर रहना चाहिये, हिंसा पर नही। यह शरीर तो एक न एक दिन नष्ट होना ही है पर इसके लिये आप किन्ही गरीवो का खून कर देंगे तो वह मैं सहन नही कर सकूँगा। अगर आप मेरे हितैषी मित्र हैं तो इसी समय यह पिस्तौल फैंक दीजिये। भले ही कोई मुझे मारना चाहता हो, पर अगर आपने मेरे कारण किसी को भी मारा तो मैं आपको कभी क्षमा नही करूँगा।"

मिस्टर केलन वैंक ने गाँधीजी की यह वात सुनकर अत्यत लज्जित होते हुए उसी समय उनसे अपनी भूल के लिये क्षमा माँगी।

इस उदाहरण से सावित हो जाता है कि सज्जन पुरुष अपने दुश्मन ही नही अपने हत्यारे का भी अहित कभी नही चाहते। और इस प्रकार अगर उनसे लाभ की सभावना न भी हो तो हानि तो कभी होती ही नही।

सज्जनो की सगति से दूसरा लाभ बौद्धिक विकास के रूप मे होता है। सतो का अनुभव ज्ञान बडा भारी होता है अत उनके मार्ग-दर्शन से बिगडता हुआ काम भी बन जाता है। सच्चे सत भले ही जबान से शिक्षा न दें पर उनके आचरण से भी मनुष्य को मूक शिक्षा मिलती रहती है तथा जीवन सत्पथ पर बढता है। केवल किताबी ज्ञान ही मनुष्य को ऊँचा नही उठा सकता जब तक कि उसका आचरण भी ज्ञानमय न हो जाय। तथा इसके लिये सत समागम आवश्यक है। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जिनका असर जबान से कहने पर नही होता अपितु बुद्धिमत्ता से क्रियात्मक रूप द्वारा समझाने से होता है। एक उदाहरण से यह बात समझ मे आ जाएगी।

खेतो मे पानी पहुँचा रहा हूँ

एक बार एक सत घूमते-घामते गगा के किनारे जा पहुँचे। वहाँ पर वे बडे मनोयोग पूर्वक लोगो के क्रिया कलाप देखने लगे। एक स्थान पर उन्होंने देखा कि कुछ भक्त अपने लोटो मे जल भरकर और दोनो हाथो से उन्हे ऊपर उठाकर अपना मस्तक झुकाते हुए पुन जल मे छोड रहे हैं।

सन्त ने उनसे पूछा—"तुम लोग यह क्या कर रहे हो ?"

"सूर्य को जल चढा रहे हैं महाराज !" भक्तो ने उत्तर दिया और पुन अपने कार्य मे लग गये।

उन अनुभवी और ज्ञानी सन्त ने यह देखा तो उन्हे उद्‌बोधन देने का विचार किया। किन्तु साथ ही सोचा कि जबान से कहने पर शायद ये लोग समझेंगे नही और बिगड पडेंगे अत दूसरा रास्ता अपनाया। वह रास्ता क्या था ?

सन्त उन भक्तो के समक्ष ही कुछ और दूर धारा की तरफ गए तथा अपने कमडल मे जल भर-भरकर जल्दी-जल्दी सूर्य से विपरीत दिशा मे फेंकने लगे।

अन्य लोगो ने तथा सूर्य को जल चढाने वाले भक्तो ने जब उनके इस अजीब कृत्य को देखा तो चकित होकर कहने लगे—"महाराज ! यह आप क्या कर रहे हैं ? सूर्य को जल न चढाकर किधर जल फेंक रहे हैं ?"

सत ने बडी गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—"भाई, मैं बडी दूर से आया हूँ। मेरे देश मे जल का बडा अभाव रहता है और यहाँ इसकी कमी नही है। अत मैंने विचार किया है कि क्यो न अपने देश के सूखे पडे खेतो मे यहाँ से जल पहुँचा दूं ? मुझे सूर्य को जल नही चढाना है अपने देश के खेतो मे पहुँचाना

है और वे इसी दिशा मे हैं । अगर मैं उन्हे यहाँ से जल पहुँचा दूंगा तो वे सब हरे-भरे हो जाएँगे ।"

सत की वात सुनकर वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति और भक्त लोग हँस पडे । वोले—"लगता है कि आपका दिमाग तपस्या करते रहने के कारण कुछ फिर गया है । भला मोचिये तो सही कि यहाँ से आपका उछाला हुआ जल आपके देश के खेतो मे कैसे पहुँच सकेगा ? और इतनी दूर से किस प्रकार उन्हे हरा-भरा कर मकेगा ?"

सत मुस्कुराते हुए वोले—"मेरा दिमाग तो विलकुल ठीक काम रहा है । और इमीलिये मुझे विचार आया है कि जव आपके द्वारा दिया हुआ जल इस पृथ्वी लोक से सूर्य लोक तक पहुँच सकता है तो फिर मेरा देश तो सूर्यलोक से वहुत पास है अत यह जल निश्चय ही वहाँ तक पहुँच जाएगा ।"

सत की वात सुनकर सव स्तब्ध रह गए और उनकी समझ मे सत की वात आ गई कि जहाँ कारण है वही उसका कार्य भी हो सकता है । ऐसा नही कि कारण तो कही है और कार्य कही अन्यत्र हो जाए । वे यह भी समझ गए कि जव भौतिक क्षेत्र मे भी कार्य और कारण का यह नियम है तो आध्यात्मिक क्षेत्र मे तो यह सभव ही कैसे हो सकता है ? आत्मा का कार्य मोक्ष है और उसके कारण मम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एव सम्यक्चरित्र आदि हैं । और इस प्रकार जवकि मोक्ष आत्मा मे ही है, उसके कारण भी आत्मा मे ही हैं फिर उमका उपाय वाहर कैसे होगा ? ऐमा तो कदापि नही होगा कि आत्मा कही हो, मोक्ष कही हो और उसकी प्राप्ति का उपाय कही और हो ।

जव सत की क्रिया से और उनके ममझाने से भक्त लोगो के हृदय मे उनकी वात उतर गई तो वे सव उनके सामने नतमस्तक होगए और उनके प्रति अत्यत कृतज्ञ हुए ।

ऐसा क्यो हुआ ? उन सत की अल्प सगति के कारण ही । हाँ, विना वचन से कहे जाने पर भी उनकी रहस्यमयी क्रिया से नासमझ लोगो की वुद्धि ने क्रातिकारी मोड लिया और उनका वौद्धिक विकाम सही दिशा मे हुआ । सज्जनो की सगति मे इमी प्रकार लाभ हुआ करता है ।

तीमरा लाभ मत्मगति से यह होता है कि मनुष्य के मन के अनेक रोग मिट जाते हैं । मन के रोग क्या होते हैं इम विषय मे जानने की आपको उत्सुकता होगी । यद्यपि वे आपसे छिपे नही हैं, आज सभी प्राणी इन रोगो मे

शील सतोष क्षमा चित्त धीरज,
पातक से नित राखत न्यारे।
डारत दु ख भवोभव के रिख,
अमृत सगत उत्तम धारे॥

कवि ने मनुष्य को उद्बोधन दिया है कि "सदा उत्साह और उमग के साथ उत्तम पुरुषो की सगति करो और उनकी सगति से हृदय के भावो को निर्मल बनाते हुए विपय-विकारो का त्याग करो।"

"सत्सगति से तुम्हारा ज्ञान बढेगा तथा भगवान के वचनो का पालन हो सकेगा। इस सबसे बढकर तो यह होगा कि तुम्हारे हृदय मे घर किये हुए अज्ञान का लोप होगा एव कुबुद्धि जड-मूल से नष्ट हो जाएगी।"

"तुम्हारे हृदय मे शील, सतोप, क्षमा, धैर्य आदि अनेक सद्‌गुणो का उदय होगा जोकि तुम्हारी आत्मा को पापो से दूर रखेगा तथा भव-भव के दु खो से छुटकारा दिलायेगा। इसलिए हे प्राणी ! तुम उत्तम पुरुषो की सगति करो।"

वस्तुत सत जनो की सगति से हृदय मे रहे हुए अवगुणो का नाश होता है तथा सद्‌गुणो का आविर्भाव हो जाता है।

अब सत्सगति का पाँचवाँ लाभ क्या है, हमे यह देखना है। यह लाभ है मन मे असीम शाति की स्थापना होना। जो व्यक्ति सज्जनो की सगति करता है उसके मन मे अपार शाति सदा बनी रहती है। क्योकि सज्जनो की सगति करने वाले व्यक्ति की कोई निंदा नही करता और उसे किसी प्रकार की लज्जा या शर्म का अनुभव नही होता। सत जनो की सगति करने वाला व्यक्ति अगर बुरा हो तब भी लोग उसे भला कहते है तथा बुरे व्यक्ति की सगति करने वाले अच्छे व्यक्ति को भी दुनिया बुरा ही मानने लगती है। कहा भी है —

सत सगत के बास सो, अवगुन हू छिपि जात।
अहिर धाम मदिरा पिवै, दूध जानिये तात॥
असत संग के वास सों, गुन अवगुन है जात।
दूध पिवै कलवार घर, मदिरा सर्वाहि बुझात॥

—विदुर

कितनी सुन्दर बात कही गई है ? कहा है—सज्जनो के समीप निवास करने से व्यक्ति मे अगर अवगुण होते हैं तो भी वे छिप जाते हैं। जिस प्रकार

कोई व्यक्ति अहीर के घर बैठकर मदिरा पीता है तो भी लोग यही मानते हैं कि वह दूध पी रहा है।

और इसके विपरीत दुर्जनो के साथ रहने वाले व्यक्ति के सद्‌गुणो को भी दुनियाँ दुर्गुण ही मानती है। यथा कलवार के यहाँ बैठकर व्यक्ति अगर वास्तव मे दूध ही पीता हो तो भी लोग कहते हैं कि मदिरा पी रहा है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है—

"Tell me with whom thou art found and I will tell thee who thou art"

—गेटे

अर्थात्—मुझे बताइये आपके सगी-साथी कौन हैं और मैं बता दूंगा कि आप कौन हैं।

कहने का अभिप्राय् यही है कि दुनियाँ किसी भी व्यक्ति के साथियो को देखकर ही उस व्यक्ति के चरित्र का अन्दाज लगाती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सदा भले और सज्जन व्यक्तियो के सहवास मे ही रहना चाहिए। इससे पहला लाभ तो यही होगा कि लोग उसे बुरा नही बताएँगे, उसकी निंदा नही करेंगे। तथा दूसरा लाभ यह है कि अगर उसमे अवगुण होंगे भी तो सज्जन व्यक्ति के साथ रहने से वे धीरे-धीरे नष्ट हो जाएँगे और उनके स्थान पर सुन्दर एव आत्म-कल्याणकारी सुगुणो की स्थापना होगी। इसका परिणाम यह होगा कि उस व्यक्ति के मन मे अपूर्व शाति बनी रहेगी। सज्जन व्यक्ति का केवल उपदेश ही शिक्षा नही देता अपितु उसका प्रत्येक कार्य एव प्रतिक्षण की दिनचर्या भी सतत शिक्षा देती है तथा ज्ञान मे वृद्धि करती है।

एक श्लोक मे भी यही बात कही गई है—

परिचरितव्या सन्तो, यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि॥

सज्जनो की उपासना करनी चाहिये, चाहे वे उपदेश न भी देते हो, क्योंकि जो उनके निजी वार्तालाप हैं वही सदुपदेश हो जाते है।

इस प्रकार सत्सगति मे व्यक्ति को अनेक लाभ होते हैं। सबमे बडा लाभ तो यही है कि सज्जनो की सगति करने से वह दुर्जनो के संग से बच जाता

है। भले ही व्यक्ति सत-जनो का उपदेश न सुने किन्तु समीप रहकर उनकी दिनचर्या का अवलोकन करते हुए भी धीरे-धीरे उनके सद्गुणो का अनुकरण करने लगता है। और यही हाल दुर्जनो की सगति से होता है। न चाहने पर भी शनै-शनै वह दुर्गुणो की ओर उन्मुख हुए विना नही रह पाता। तभी कबीर ने कहा है —

काजर की कोठरी मे कैसो हूँ सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

वस्तुत काजल से भरी हुई कोठरी मे प्रवेश करते समय मनुष्य नहीं चाहेगा कि उसके शरीर या कपडो पर तनिक भी कालिख लगे। किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी कोई न कोई काली रेखा या धब्बा उस पर लगे बिना नही रहेगा।

ठीक यही हाल दुर्जनो की सगति करने पर होता है कि लाख मन को नियन्त्रण मे रखने पर भी वह दुर्गुणो की ओर जाए विना नही रहता। उनके सहवास से लाभ रच-मात्र भी नही होता केवल हानि ही पल्ले पडती है। दुर्जन व्यक्ति सख्या मे अनेक होकर भी किसी व्यक्ति का भला नही कर सकते क्योकि वे स्वय ही आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर करने का मार्ग नही खोज पाते। तभी कहा जाता है—

"शतमप्यन्धानां न पश्यति।"

सौ अधे मिलकर भी देख नही पाते।

किन्तु इसके विपरीत सत-पुरुष भले ही अकेला हो, वह स्वय अपने लिये उत्तम मार्ग खोज लेता है तथा अन्य असख्य व्यक्तियो को भी मार्ग सुझाता है। चदन के समान वह अत्यल्प मात्रा मे होकर भी मनुष्य के मन को आह्लाद से भर देता है, जबकि गाडी भर लकडी भी इस कार्य को सम्पन्न नही कर सकती। किसी ने यही कहा है—

चदन की चुटकी भली, गाड़ी भरा न काठ।

इसलिए बधुओ, भले ही थोडे समय के लिए की जाय किन्तु सगति सत्-पुरुषो की ही करनी चाहिए उससे हमे जो भी लाभ होगा वह हमारे जीवन को उन्नति के पथ पर कई कदम आगे बढा सकेगा। मैंने एक दृष्टान्त पढा था—

त्रुटि सुधार

एक बार भगवान महावीर के समवशरण मे देवता, विद्याधर एव साधारण मनुष्य सभी आए थे। वैताढ्य पर्वत के अगले हिस्से मे विद्याधर रहते हैं, अपनी विद्या के बल पर ही वे अपने कार्य सम्पन्न करते हैं अत उन्हे विद्याधर कहा जाता है।

तो एक विद्याधर जब भगवान के दर्शन करने के पश्चात् अपने निवास-स्थान को लौटने लगा, उसने अपने विमान को चलाने के लिए मन्त्र पढा। सयोगवश वह मन्त्र के कुछ अक्षरो को भूल गया और उसका विमान एक अगुल भी ऊँचा नही उठ सका। बार-बार मन्त्र पढने पर भी विमान को न उठते देख वह बहुत परेशान हुआ।

विद्याधर की इस परेशानी को महाराजा श्रेणिक के पुत्र एव मत्री अभयकुमार ने देखा तो भगवान से पूछा—"देव, विद्याधर की परेशानी का क्या कारण है?"

भगवान ने उत्तर दिया—"इसके मन्त्र पढने मे कुछ गलती हो रही है। यह मन्त्र के कुछ शब्दो को भूल गया है अत विमान को चला नही सकता।"

यह देखकर अभयकुमार विद्याधर के समीप आए और बोले—"भाई क्या बात है?"

"विमान उठ नही रहा है।" विद्याधर ने सक्षिप्त उत्तर किया।

"आप कौन सा मन्त्र पढ रहे हैं इसे उठाने के लिए?" अभयकुमार ने पुन पूछा।

"वह तो मैं पढ ही रहा हूँ अब आपको क्या-क्या बताऊँ।" विद्याधर ने रुखाई से कहा।

"पर बताने मे आपका क्या नुकसान है? सभव है मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।"

अभयकुमार के आग्रह और अपनी परेशानी को देखते हुए विद्याधर ने मन्त्र अभयकुमार को सुनाया। अभयकुमार बडे बुद्धिमान और सभी विद्याओ के धनी थे। उन्होंने फौरन मन्त्र मे रही हुई त्रुटि या कमी को पूरा कर दिया और उसके अनुसार पढने पर उस विद्याधर का विमान क्षणभर मे चल दिया।

इस उदाहरण से आशय यही है कि अभयकुमार जैसे सत्पुरुष के कुछ क्षणो के सम्पर्क से ही विद्याधर को कितना लाभ हुआ ? दूसरे यह शिक्षा भी औरो को मिली कि किसी भी मन्त्र अथवा पाठ का उच्चारण करते समय उसके शब्दो को शुद्ध बोलना चाहिए, अक्षर न अधिक और न ही कम बोले जाने चाहिए । आप लोग भी जब प्रतिक्रमण करते हैं तो उस समय ज्ञान के चौदह अतिचार बोलते हुए कहते हैं—हीणक्खर, अच्चक्खर, अर्थात् कम या अधिक अक्षर बोला हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कड ।

तो जिस प्रकार महापण्डित अभयकुमार की क्षणिक सगति से विद्याधर के मन्त्र-ज्ञान की न्यूनता पूर्ण हुई, उसी प्रकार सत जनो की एव गुरु की सगति करने से मुमुक्षु प्राणी के ज्ञान मे रही हुई न्यूनताओ की तथा त्रुटियो की भूलें ठीक होती हैं तथा ज्ञान मे निरन्तर वृद्धि होती है जिसकी सहायता से वह अपनी साधना को सबल बनाता है ।

ध्यान मे रखने की बात है कि मनुष्य किताबी ज्ञान कितना भी हासिल करले, बडे-बडे ग्रन्थो को कण्ठस्थ करके विद्वानो की श्रेणी मे अपने आपको समझने लग जाय, फिर भी वह ज्ञानी नही कहला सकता । क्योकि उसका ज्ञान तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद करके लोगो को प्रभावित करने तथा भौतिक उपलब्धियो को प्राप्त करने के काम ही आता है । वह ज्ञान उसकी आत्मा को कर्म-मुक्त करने मे सहायक नही बनता । सच्चा ज्ञान वही है जो आत्मा को शुद्धि की ओर बढाता है तथा शनै-शनै उसे भव-भ्रमण से छुटकारा दिलाता है । और ऐसा ज्ञान जिसे हम सम्यक्-ज्ञान कहते हैं सत-जनो के सम्पर्क से ही हासिल हो सकता है । सत अथवा सच्चे गुरु जो कि विशुद्ध सम्यक् दृष्टि के धारी होते हैं, वीतराग की वाणी पर अटूट विश्वास रखते हैं, विषय-विकारो से अलिप्त रहते हैं तथा त्याग और तपस्या के द्वारा निरन्तर कर्मों की निर्जरा करते हुए साधना पथ पर बढते हैं, वे ही सच्चे ज्ञानी कहलाते हैं तथा उन्ही की सगति से अन्य प्राणी भी ज्ञान-वृद्धि करते हुए अपनी आत्मा को शुद्धि की ओर ले जा सकते हैं ।

सच्चे सत अथवा गुरु की पहिचान कराते हुए पूज्य पाद श्री अमीऋषि जी म० कहते हैं —

सर्व जग जाल ससार अनित्य—
विचारी सुजान तजे सुख सारे ।
गहे शिवमार्ग विराग रहे,
जग-राग दहे अघ-दाग निवारे ॥

करे नहिं नेह कभौ तन ते,
तप सजम से निज काज सुधारे।
तजे वनिता धन-धाम अमीरिख,
सत्य वही गुरुदेव हमारे॥

क्या कहा है कवि ने ? यह नही कि सारे शास्त्रो को पढ लेने वाले, अनेक धर्म-ग्रन्थो को कण्ठस्थ कर लेने वाले तथा अनेको विद्याओ को जानने वाले हमारे गुरु है।

कवि ने स्पष्ट कहा है—'जो इस जगत को जगल समझते हैं तथा समस्त सासारिक पदार्थों को अनित्य मानकर इनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक और झूठे सुखो की कामना नही करते, उन्हे तिलाञ्जलि दे देते हैं। तथा अपने शरीर से रच मात्र भी स्नेह न रखते हुए विरक्त होकर अपने पापो का नाश करने के लिए साधना का मार्ग ग्रहण करते हैं। और जो निरन्तर अपनी इन्द्रियो पर तथा मन पर सयम रखते हुए त्याग-तपस्यापूर्वक धर्माराधन करते हैं, इतना ही नही अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार एव धन-वैभव पर से सम्पूर्ण ममत्व हटा लेते हैं वे ही सच्चे मायने मे हमारे गुरु हैं। और ऐसे गुरु विरले ही होते हैं। कहा भी है —

"गुरवो विरला सति, शिष्य सतापहारका।"

ऐसे गुरु विरले ही मिलते हैं जो कि अपने शिष्यो के कपाय-जनित कष्टो को और जन्म मरण रूप सताप को मिटाने मे मार्ग-दर्शन करते है।

तो बधुओ ! इसीलिए कहा गया है कि सत्सगति करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सन्मार्ग प्राप्त होता है। सत जनो की सगति करने से सदा लाभ ही होता है, हानि की समावना नही रहती। भले ही व्यक्ति ऐसी आत्माओ की सगति अधिक न कर सके फिर भी उसे जहाँ तक बने प्रयत्न करना चाहिए। कभी-कभी तो क्षण भर का सत्सग भी जीवन को ऐसा मोड दे देता है कि जीवन भर की कमाई व्यक्ति को उस अल्पकाल मे ही हो जाती है।

ब्रह्माण्ड की परिक्रमा

कहा जाता है कि एक बार देवताओ मे इस बात के लिए बडा झगडा हुआ कि सबमे प्रथम पूज्य कौन है ? बहुत काल तक वाद-विवाद करने पर भी जब इसका कोई हल नही निकला तो सर्व सम्मति से निश्चय किया गया

कि समस्त ब्रह्माण्ड की जो कोई पहले परिक्रमा करके आ जाय वही सर्वप्रथम पूज्य माना जाएगा ।

यह निश्चय होते ही सब देवता अपने-अपने वाहनो पर सवार होकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने के लिए रवाना हो गए ।

किन्तु गणेश जी बडी चिन्ता मे पडे, क्योकि उनका वाहन चूहा था । उस पर सवार होकर वे कब ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौटते ? बडे भारी असमजस मे पडे हुए वे मन मारे एक स्थान पर बैठ गए और अपनी समस्या का हल कैसे हो इस पर विचार करने लगे । किन्तु बहुत देर तक सोचने पर भी उन्हे कोई रास्ता सुझाई नही दिया अत वे अत्यन्त दुखी हो गए ।

अकस्मात् ही उधर से नारद ऋषि गुजरे । ज्योही गणेश जी की दृष्टि उन पर पडी वे नारद जी के समीप आए । गणेश जी को बहुत ही उदास देखकर नारद ने पूछा—"आप आज किस चिन्ता मे पडे हैं ?"

"क्या बताऊँ देव ! आज मैं बडी परेशानी मे हूँ । देवताओ मे कौन पूज्य है ? इस बात को साबित करने के लिए सब देवता अपने-अपने शीघ्रगामी वाहनो पर सवार होकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने चल दिये हैं । पर मैं इस चूहे पर चढ़कर कैसे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करूँ ? कृपा करके आप ही कोई उपाय बताइये !" गणेश जी ने नारद से प्रार्थना की ।

नारदजी बडे ज्ञानी और तीव्र बुद्धि के थे । कुछ पल मे ही बोले—"आप राम का नाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिये ! राम नाम मे तो अखिल ब्रह्माण्ड निहित है । चिन्ता किस बात की ?"

बस फिर क्या था । गणेश जी ने चट-पट राम का नाम पृथ्वी पर लिखकर उसकी परिक्रमा करली । परिणामस्वरूप उन्हे सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके आने वाला और सर्वोपरि पूज्य माना गया । कहा भी जाता है—

महिमा जासु जान गनराऊ,
प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ।

इस उदाहरण से साबित होता है कि गणेश जी नारदमुनि की अल्प सगति से ही देवताओ मे प्रथम पूज्य बन गये तथा एक उपाय को बता देने के कारण ही नारद जी ने गणेश जी के गुरुपद को प्राप्त कर लिया ।

करे नहिं नेह कभौ तन ते,
तप सजम से निज काज सुधारे।
तजे वनिता धन-धाम अमीरिख,
सत्य वही गुरुदेव हमारे॥

क्या कहा है कवि ने ? यह नही कि सारे शास्त्रो को पढ लेने वाले, अनेक धर्म-ग्रन्थो को कण्ठस्थ कर लेने वाले तथा अनेको विद्याओ को जानने वाले हमारे गुरु है।

कवि ने स्पष्ट कहा है—'जो इस जगत को जगल समझते हैं तथा समस्त सासारिक पदार्थों को अनित्य मानकर इनसे प्राप्त होने वाले क्षणिक और झूठे सुखो की कामना नही करते, उन्हे तिलाञ्जलि दे देते हैं। तथा अपने शरीर से रच मात्र भी स्नेह न रखते हुए विरक्त होकर अपने पापो का नाश करने के लिए साधना का मार्ग ग्रहण करते हैं। और जो निरन्तर अपनी इन्द्रियो पर तथा मन पर सयम रखते हुए त्याग-तपस्यापूर्वक धर्माराधन करते हैं इतना ही नही अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार एव धन-वैभव पर से सम्पूर्ण ममत्व हटा लेते हैं वे ही सच्चे मायने मे हमारे गुरु हैं। और ऐसे गुरु विरले ही होते हैं। कहा भी है —

"गुरवो विरला सति, शिष्य संतापहारका।"

ऐसे गुरु विरले ही मिलते हैं जो कि अपने शिष्यो के कषाय-जनित कष्टो को और जन्म मरण रूप सताप को मिटाने मे मार्ग-दर्शन करते हैं।

तो वधुओ! इसीलिए कहा गया है कि सत्सगति करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सन्मार्ग प्राप्त होता है। सत जनो की सगति करने से सदा लाभ ही होता है, हानि की सभावना नही रहती। भले ही व्यक्ति ऐसी आत्माओ की सगति अधिक न कर सके फिर भी उसे जहाँ तक बने प्रयत्न करना चाहिए। कभी-कभी तो क्षण भर का सत्सग भी जीवन को ऐसा मोड दे देता है कि जीवन भर की कमाई व्यक्ति को उस अल्पकाल मे ही हो जाती है।

ब्रह्माण्ड की परिक्रमा

कहा जाता है कि एक वार देवताओ मे इस वात के लिए वडा झगडा हुआ कि सवमे प्रथम पूज्य कौन है ? वहुत काल तक वाद-विवाद करने पर भी जव इसका कोई हल नही निकला तो सर्व सम्मति से निश्चय किया गया

समस्त ब्रह्माण्ड की जो कोई पहले परिक्रमा करके आ जाय वही सर्वप्रथम
ज्य माना जाएगा ।

यह निश्चय होते ही सब देवता अपने-अपने वाहनो पर सवार होकर
ह्माण्ड की परिक्रमा करने के लिए रवाना हो गए ।

किन्तु गणेश जी बडी चिन्ता मे पडे, क्योकि उनका वाहन चूहा था । उस
पर सवार होकर वे कब ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौटते ? बडे भारी असम-
जस मे पडे हुए वे मन मारे एक स्थान पर बैठ गए और अपनी समस्या का
हल कैसे हो इस पर विचार करने लगे । किन्तु बहुत देर तक सोचने पर भी
उन्हे कोई रास्ता सुझाई नही दिया अत वे अत्यन्त दुखी हो गए ।

अकस्मात् ही उधर से नारद ऋषि गुजरे । ज्योही गणेश जी की दृष्टि
उन पर पडी वे नारद जी के समीप आए । गणेश जी को बहुत ही उदास देख-
कर नारद ने पूछा—"आप आज किस चिन्ता मे पडे हैं ?"

"क्या बताऊँ देव ! आज मैं वडी परेशानी मे हूँ । देवताओ मे कौन पूज्य
है ? इस बात को सावित करने के लिए सब देवता अपने-अपने शीघ्रगामी
वाहनो पर सवार होकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करने चल दिये हैं । पर मैं इस
चूहे पर चढकर कैसे ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करूँ ? कृपा करके आप ही कोई
उपाय बताइये !" गणेश जी ने नारद से प्रार्थना की ।

नारदजी बडे ज्ञानी और तीव्र बुद्धि के थे । कुछ पल मे ही वोले—"आप
राम का नाम लिखकर उसकी परिक्रमा कर लीजिये ! राम नाम मे तो अखिल
ब्रह्माण्ड निहित है । चिन्ता किस बात की ?"

बस फिर क्या था । गणेश जी ने चट-पट राम का नाम पृथ्वी पर लिख-
कर उसकी परिक्रमा करली । परिणामस्वरूप उन्हे सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड की
परिक्रमा करके आने वाला और सर्वोपरि पूज्य माना गया । कहा भी जाता
है—

महिमा जासु जान गनराऊ,
प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ।

इस उदाहरण से सावित होता है कि गणेश जी नारदमुनि की अल्प
सगति से ही देवताओ मे प्रथम पूज्य वन गये तथा एक उपाय को वता देने के
कारण ही नारद जी ने गणेश जी के गुरुपद को प्राप्त कर लिया ।

तो वन्धुओ, इसीलिए आपको भी सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि अल्प-काल के लिए ही सही' पर सत-समागम अवश्य करें। कौन जानता है कि किस क्षण मन की गति करवट वदल ले और गुरु का एक शब्द भी आपके जीवन को सार्थक वना दे।

सत-जीवन और एक साधारण व्यक्ति के जीवन मे महान अन्तर होता है। विरले व्यक्ति ही अपनी वासनाओ और भोगलिप्साओ पर विजय प्राप्त करके आत्म-साधना के पथ पर चल सकते है। ससार के कार्य तो तनिक बुद्धिवल, मनोवल या शारीरिक बल से सम्पन्न कर लिये जा सकते है किन्तु आत्म-उत्थान का कार्य सहज ही सभव नही होता। उसके लिए महापुरुषो को त्याग, तपस्या, सहनशीलता, समभाव, शाति, निरासक्ति तथा सतोष आदि की कठिन कसौटियो पर खरा उतरना होता है। पूर्ण एकाग्रचित्त से उन्हे चारित्र धर्म एव सयम का पालन करना पडता है। कहा भी है —

अहीवेगंत दिट्ठीए, चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १६-३६

अर्थात्—सर्प की एकाग्रदृष्टि की तरह एकाग्र मन रखते हुए चरित्र पालन अत्यन्त दुष्कर है। दूसरे शब्दो मे लोहे के चनो को चबाने के समान सयम पालना अत्यन्त ही कठिन है।

वस्तुत सत-जीवन अत्यन्त दुष्कर किन्तु महामहिम भी होता है। इसलिए व्यक्ति को उनके जीवन से ज्ञान पाने के लिए उनकी सगति करना चाहिए तथा उनके सदुपदेश एव आचरण से अपने आत्म-कल्याण का मार्ग पाना चाहिए। सत्सगति से ही ज्ञान प्राप्ति सभव है और ज्ञान प्राप्ति से कर्म नाश करते हुए मुक्ति। अत जिसे मुक्ति की अभिलाषा है, उसे सत्सगति का महत्व समझकर उसके द्वारा अपनी ज्ञान वृद्धि करनी चाहिए। ●

७
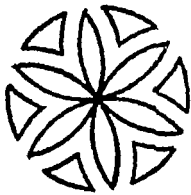
ज्ञान प्राप्ति का साधनः विनय

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कल हमने ज्ञान प्राप्ति के पाँचवें कारण 'पडित पुरुषो की सगति' के विषय मे प्रवचन किया था। आज छठे कारण विनय को लेना है।

व्याकरण शास्त्र के अनुसार विनय शब्द मे 'वि' उपसर्ग है। उपसर्ग बाईस होते हैं जिनमे से 'वि' एक है। विनय शब्द मे से 'वि' को हटा दिया जाय तो नय रह जाता है। नय शब्द का अर्थ भी आपको जानना चाहिये। 'निञ' एक धातु है इसका अर्थ है प्राप्ति करना। इसी से नय बनता है और उसका अर्थ भी प्राप्ति करना होता है। अब रहा 'वि' उपसर्ग। इसे नय के पहले लगा देने से विनय हो जाता है तथा अर्थ निकलता है—विशेष रीति से।

विनय के लिये भगवान ने चार मूल सूत्र कहे हैं—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नदी सूत्र एव अनुयोगद्वार सूत्र।

जानने की जिज्ञासा होती है कि इन चारो सूत्रो को ही मूल सूत्र क्यो कहा गया है जबकि और भी अनेक सूत्र विद्यमान हैं ?

इसका समाधान यही है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये चारो जो कि मोक्ष के मुख्य साधन है इनका विवेचन इन चारो शास्त्रो मे किया गया है। अत इन चारो मूल सूत्रो का गभीर अध्ययन करके मुमुक्षु प्राणी मोक्ष के ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप रूप साधनो को अपना सकता है।

'नन्दी सूत्र' मे ज्ञान का विशद वर्णन है। यह भी कहा जा सकता है कि इस सूत्र मे ज्ञान का जितना अधिक स्पष्टीकरण है, उतना अन्य किसी भी सूत्र मे नही है।

ज्ञान के पश्चात् दर्शन आता है। दर्शन यानी श्रद्धा। दूसरे सूत्र 'अनुयोग द्वार' मे श्रद्धा की दृढता के विषय मे बताया गया है तथा हमारे सिद्धान्तो की क्या मान्यताएँ हैं ? सात नय क्या है, उनका स्वरूप क्या है इन सभी का स्पष्टीकरण भी इसी सूत्र मे किया गया है।

मोक्ष का तीसरा साधन चारित्र है। चारित्र का विस्तृत विवेचन 'दश वैकालिक सूत्र' मे पाया जाता है। साधु को किस प्रकार रहना चाहिये ? कैसे चलना ? कैसे बोलना ? कैसे गोचरी लाना, आदि सभी के विषय मे 'दशवैकालिक' मे निर्देशन है।

चौथा सूत्र है—'उत्तराध्ययन सूत्र'। इसमे तप के विषय मे वर्णन दिया है। आप जो कि इस सूत्र को पढ चुके होंगे, कहेंगे कि इसमे तप का क्या वर्णन है ? केवल एक ही तो तीसवा अध्याय इस विषय का है। पर आपकी यह शिकायत सही नही होगी। क्योकि विनय भी तप है और इस सूत्र के नवें अध्याय मे विनय का बडा विशद विवेचन है।

विनय की महत्ता

हमारे जैन-शास्त्रो मे विनय को बडा महत्वशाली माना गया है। इसके विषय मे कहा है —

> विणओ जिणसासण मूल,
> विणओ निव्वाण साहगो।
> विणओ विप्पमुक्कस,
> कुओ धम्मो कुओ तवो ?

अर्थात्—विनय जिन शासन की जड है और विनय ही निर्वाण का साधक है। जिस व्यक्ति मे विनय नही है, उसमे धर्म और तप टिक ही कैसे सकते हैं ?

अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार मूल के अभाव मे शाखाएँ तथा फल-फूल आदि कुछ नही टिकते उसी प्रकार विनय रूपी मूल के अभाव मे उसके फल-फूल रूपी धर्म तथा तप आदि नही टिक सकते।

विनय समस्त लौकिक एव लोकोत्तर सुखो का साधन है। किसी मनुष्य मे भले ही सैकडो अन्य गुण मौजूद हैं, किन्तु विनय गुण नही है तो वे समस्त गुण शोभाहीन मालूम देते हैं।

एक सस्कृत भाषा के कवि ने कहा भी है —

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो।
वचोभूषा सत्य वर विभवभूषा वितरणम् ।।
मनोभूषा, मैत्री मधुसमय भूषा मनसिज ।
सदो भूषा सूक्ति सकलगुण भूषा च विनय ।।

आकाश का भूषण सूर्य है तथा कमल-वन के आभूषण मधुकर यानी भ्रमर हैं। आकाश मे भले ही असख्य तारे रहे किन्तु उनसे आकाश सुशोभित नही होता तथा कमलो के वन मे अगर भंवरे मधुर-मधुर गुजार न करें तो वह कमल-वन भी सूना-सूना लगने लगता है।

आगे कहा है—किसी की वाणी कितनी भी नम्रता और मधुरता क्यो न लिये हो, अगर वह सत्य से मडित नही है तो सौन्दर्य रहित ही मानी जाएगी। इसी प्रकार मनुष्य के पास धन की मात्रा कितनी भी क्यो न बढ जाय अगर उसमे उदारता नही है, दान की सुन्दर भावना नही है तो उसका समस्त धन व्यर्थ है, सौन्दर्यहीन है। क्योकि सम्पत्ति केवल दान से ही शोभा पाती है।

अगली बात मन के विषय मे कही गई है कि व्यक्ति के मन की महत्ता और शोभा अन्य व्यक्तियो से मैत्री स्थापित करने मे है। अगर किसी व्यक्ति के मन मे दान, दया, परोपकार और सेवा आदि के गुण हैं किन्तु ससार के समस्त प्राणियो के प्रति मैत्री भाव नही है तो वे अन्य सद्गुण भी सुन्दर और सरस नही मालूम होते। इसी प्रकार चाँदनी रात के भूषण कमल हैं और सज्जनो की वाणी के भूषण सूक्तियाँ हैं। इनके अभाव मे सौन्दर्य अधूरा रह जाता है। पर कवि ने आगे क्या कहा है ? यही कि समस्त गुणो का भूषण एकमात्र विनय है। और इसके न होने पर कोई भी गुण शोभा नही पाता।

सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि विनय गुण सब गुणो से उत्तम है, महान है। जो व्यक्ति अपने से बडो के तथा गुणवानो के प्रति विनय भाव रखते हैं, उनका सम्मान और सत्कार करते हैं, अपनी शिक्षा, वैभव, तप एव बल का अभिमान न करते हुए अपनी त्रुटियो एव अयोग्यताओ को समझते हुए गुरुजनो से सदुपदेशो के द्वारा उन्हे दूर करने का प्रयत्न करते हैं वे भव्य प्राणी ही ज्ञान के अधिकारी बनते है तथा अपने जीवन को निर्मलता की ओर ले जा सकते हैं।

हमारा धर्म विनयमूलक है और वह गुणो की श्रेष्ठता को महत्व देता है वेश-परिधान अथवा आडम्बर को नही। अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन एव चारित्र मे

अधिक है उनको विनय करने का उपदेश देता है। यही कारण है कि अगर एक साठ वर्ष का वयोवृद्ध व्यक्ति भी दीक्षा लेता है तो उसे पूर्वदीक्षित दस वर्ष के साधु की भी वदना करनी पडती है। एक फटेहाल और निम्न कुल के दीक्षित सत के चरणो मे बादशाह को भी झुकना पडता है।

किन्तु आज के युग मे शिक्षा-प्रणाली कुछ इस प्रकार की है कि छात्रो मे किताबी ज्ञान भले ही बढता चला जाय किन्तु विनय गुण नही पनपता। परिणामस्वरूप शिक्षक और शिष्य के बीच जैसा मधुर सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये उसके दर्शन भी नही होते। उलटे स्कूलो से पढकर निकले हुए छात्र कालेजो तक जाते-जाते तो इतने उद्दण्ड हो जाते है कि उनके मन के माफिक न चलने पर वे अपने प्रोफेसरो को भी सजा देने की धमकियाँ देते हैं।

यही हाल आधुनिक परिवारो का भी है। परिवार के छोटे-छोटे सदस्य पुत्र, पौत्र आदि भी अपने से बडो को अपशब्द कहते हुए तथा गालियाँ देते हुए पाये जाते हैं। फलस्वरूप उस परिवार मे प्रेम एव शाति का साम्राज्य नही रहता। उलटे घृणा, तिरस्कार तथा कलह का वातावरण बना रहता है। ठीक भी है जहाँ पिता-पुत्र, सास-बहू एव देवरानी-जिठानी ही आपस मे लडाई-झगडे करती हो वहाँ उनकी सतान सद्गुण सपन्न कैसे बन सकती है? सच्चरित्र और सुशील माता ही केवल अपनी सतान को आदर्श सतान के रूप मे ला सकती है।

दूध को लजा रहा है?

आपको मालूम ही होगा पन्ना धाय का उदाहरण। मेवाड के गौरवशाली वश के अतिम दीपक नन्हे राजकुमार उदयसिह की रक्षा के लिये पन्ना ने अपने पुत्र का बलिदान कर दिया और किसी तरह अपने प्राणो को भी सकट मे डालकर वह अरावली के दुर्गम पहाडो और ईडर के कूटमार्गो को पार करती हुई कुम्भल मेरु-दुर्ग पर पहुँची।

उस दुर्ग का किलेदार आशासिह देपुरा था। पन्ना धाय ने बालक उदयसिह को लाकर आशाशाह की गोद मे बिठा दिया और उसे शरण देने की प्रार्थना की। आशासिह तनिक हिचकिचाया और बच्चे को गोद से उतारने का प्रयत्न करने लगा।

यह सब आशाशाह की माता ने देखा, जो कि कुछ ही दूर पर बैठी हुई थी। शरणागत को आश्रय देने मे पुत्र की हिचकिचाहट देखकर वह सिहनी की तरह गरज कर बोली—

"यह क्या है आशा ? क्या तू मेरा इसी प्रकार का कायर पुत्र है ? मेरा दूध पीकर मुझे ही लजा रहा है, मुझे वीर माता कहलवाने के गौरव से वचित कर रहा है ? क्या तू भूल गया कि हम जैन हैं और शाह कहलाते हैं ?

आज एक शाह के पास शरण लेने के लिये स्वय राजा आया है। यह और कोई नही तेरा ही शासक मेवाड का राजा है। और तू अपने राजा की प्रजा होकर भी उसे शरण देने से इन्कार करना चाहता है ? इसे अपनी गोद मे उठा और अपना शाहत्व तथा वीरत्व दिखा ! और यह भी दिखा ससार को कि 'जैन' कभी शरणागत की रक्षा से मुंह नही मोडते।"

वधुओ, क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि माता की वात सुनकर आशाशाह ने क्या किया होगा ? क्या उसने अपनी माँ की वात का विरोध किया होगा ? या उसे कटु शब्द कहे होंगे ? नही, आशाशाह सच्चे अर्थों मे वीर माता का वीर पुत्र था। माता के प्रति उसके हृदय मे अपार श्रद्धा और प्रेम था। इन सवके अलावा जो उसमे सबसे महान् गुण था, वह था विनय गुण।

माँ की चेतावनी सुनते ही वह विनयवान पुत्र उठा और अपनी माता के चरणो मे नतमस्तक होकर वोला—

"आज तुमने मुझे कर्तव्य से च्युत होने से वचा लिया है माँ ! मैं इसी क्षण प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने प्राणो की भी परवाह न करके अपने भावी राजा की रक्षा करूँगा।"

हुआ भी यही, आशाशाह ने वडी सतर्कता से कुमार उदयसिंह की रक्षा की तथा उसे राजनीति आदि सभी विद्याओ मे पारगत करके वडा होते ही चित्तौड के राजसिंहासन पर वैठा दिया।

कैसी थी वे माताएँ ? एक ने तो अपने स्वामी के पुत्र के लिये अपने पुत्र का वलिदान किया तथा दूसरी ने अपने पुत्र को अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये प्रेरित किया। पर यह इसीलिये सभव हुआ कि पुत्र मे वचपन मे ही मातृभक्ति, आज्ञापालन एव विनयशीलता के गुण कूट-कूट कर भरे गए थे। उसकी माता ने अपने पुत्र आशाशाह को शैशवावस्था से ही सस्कारी वनाया था।

आज भी अगर माताएँ चाहे तो अपने वालको को अपनी इच्छानुसार विनयी, वीर, विद्वान और विचारशील वना सकती हैं। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है —

"Men are what their mother made them"

—एमर्सन

मनुष्य वही होते है जो उनकी माताएँ उन्हे बनाती है।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि जिस परिवार, समाज और देश मे व्यक्ति विनयवान और सहिष्णु होते है, वहाँ कभी कलह एव आपसी झगडो का वातावरण स्थापित नही होता। एक देश दूसरे देश की बढती को देखकर प्रसन्न हो, एक समाज दूसरे समाज का सहायक बने और परिवार का एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति स्नेह और नम्रता का व्यवहार रखे वहाँ कभी अशाति नही होती। अशाति का मूल कारण ही अविनीतता, अज्ञान और असहिष्णुता होते है अत प्रत्येक व्यक्ति को इन दुर्गुणो से बचने का प्रयत्न करना चाहिये।

विनम्रता जीवन का महान गुण है। इसमे इतनी शक्ति और आकर्षण है कि अन्य समस्त सद्‌गुण मिलकर भी इसका मुकावला नही कर सकते तथा हृदय मे इसके आते ही चुवक के द्वारा खीचे गए लोहे के समान सब चले आते हैं। जो व्यक्ति विनय को अपना लेता है उसे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उसकी आत्मा निर्मलतर बनती जाती है। विनयी पुरुष जहाँ भी जाता है, सम्मान प्राप्त करता है तथा विद्वान न होने पर भी सारे ससार को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। कहा भी है —

"गर्व से देवता दानव बन जाता है तथा विनय से मानव देवता।"

—आगस्टाइन

विचारक ने कितनी यथार्थ बात कही है कि विनय के अभाव मे अहकार के कारण जहाँ देवता भी दानव के सदृश हो जाता है वहाँ विनय गुण मे सुशोभित मनुष्य, मनुष्य होकर भी देवता कहलाने लगता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति और साधक को अहकार का त्याग करके विनय को अपनाना चाहिये। अगर अहकार जीवन मे प्रवेश कर गया तो फिर विनय का वहाँ रहना असभव हो जाएगा और उस हालत मे सच्चे ज्ञान की प्राप्ति तथा मोक्ष की अभिलाषा निराशा के अतल सागर मे डूब जाएगी।

चिकने घड़े पर पानी

श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है कि पाँच प्रकार के व्यक्तियो को हित की-शिक्षा नही लगती—

अह पर्चाहि ठाणेहिं, जेहि सिक्खा न लब्भई।
थम्भा, कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥

वे पाँच कौन-कौन से हैं ? अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी, रोगी और आलसी। चिकने घडे पर से वह जाने वाले जल के समान इन पाँचो प्रकार के व्यक्तियो को कितनी भी शिक्षा क्यो न दी जाय, उसका कोई असर नही होता। इसका कारण केवल विनय का अभाव ही होता है।

रावण अभिमानी था। उसके भाई विभीषण ने उसे बार-बार कहा—

"भो लकेश्वर ! दीयतां जनकजा राम. स्वयं याचते ॥"

हे लकेश्वर ! जनकपुत्री सीता को दे दो, राम स्वय उसकी तुमसे याचना कर रहे हैं।

किन्तु घमण्ड के मारे जिसके पैर ही पृथ्वी पर नही पडते थे, वह रावण अपने हित के लिये दी जाने वाली शिक्षा को भी कैसे ग्रहण करता ? परिणाम यही हुआ कि उसे अपनी सोने की लका के समेत नष्ट होना पडा।

एक जैनाचार्य ने अभिमानी व्यक्ति को मदोन्मत्त हाथी की उपमा देते हुए सस्कृत मे एक बडा सुन्दर श्लोक लिखा है। वह इस प्रकार है —

शमालान भजन् विमलमति नाडी विघटयन्।
किरन् दुर्वाक्पाशूत्करमगणयन्नागम श्रृणिम् ॥
भ्रमन्नुर्व्यां स्वैर विनय वन वीथी विदलयन्।
जन क नानर्थं जनयति मदाधो द्विप इव ॥

श्लोक मे बताया गया है—'घोर मद मे छका हुआ हाथी जिस स्तभ से बाँधा जाता है, उसे उखाड देता है, रस्सी तोड डालता है, मलिन धूलि अपने ऊपर डाल लेता है तथा महावत के अकुश की भी परवाह न करता हुआ पृथ्वी पर की समस्त वस्तुओ को रोदते हुए इच्छानुसार यत्र-तत्र विचरण करता रहता है।

ठीक इसी प्रकार अर्थात् मदोन्मत्त हाथी के समान ही गर्वोन्मत्त व्यक्ति भी शाति रूपी खभे को उखाड देता है तथा निर्मल बुद्धि रूपी रस्सी को तोड डालता है। इतना ही नही, वह दुर्वाक्य रूपी धूल को उछालता है और आगम रूपी अकुश की तनिक भी परवाह किये बिना विनय रूपी गलियो को रोदता हुआ स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर घूमता रहता है।

अन्त मे कहा है—मदोन्मत्त हाथी के समान ही अभिमान के मद मे चूर हुआ व्यक्ति कौन-सा अनर्थ नही करता ? अर्थात् प्रत्येक प्रकार का अकरणीय कार्य वह करता है ।

एक हिन्दी कवि ने भी कहा है —

जब लग अंकुश शीश पर, तब लग निर्मल देह ।
गज अकुश के बाहिरै, सिर पर डारत खेह ॥

इसका अर्थ आप समझ ही गए होगे कि जब तक हाथी अकुश मे रहता है, उसकी देह निर्मल बनी रहती है । किन्तु जैसे ही वह मद मे चूर होकर अकुश के बाहर हो जाता है, अपने मस्तक पर सूंड से धूल डाल लेता है और शरीर को मलिन बना लेता है ।

तो अभिमानी व्यक्ति के लिये मदोन्मत्त हाथी की उपमा बिलकुल यथार्थ है । मिथ्यात्व एव अभिमान के नशे मे चूर हुआ प्राणी आगम रूपी अकुश को नही मानता तथा शास्त्रीय वाणी को हेय समझता है । आज के युग मे अवधि ज्ञानी, मन पर्याय ज्ञानी, केवलज्ञानी या गणधर कोई भी उपलब्ध नही होते अत शास्त्र ही हमारे लिये अकुश का काम करते हैं । शास्त्रो के सहारे से ही मनुष्य चाहे तो अपनी दुर्भावनाओ का नाश कर सकता है तथा आत्मा मे रही हुई त्रुटियो को सुधार सकता है । किन्तु जिसे अपने धन-वैभव का अथवा अपने ज्ञान का अहकार है वह तो शास्त्रो की, गुरुओ की तथा सत-जनो की, किसी की भी परवाह नही करता तथा सबका तिरस्कार एव अपमान करने के लिये कटु-वचन रूपी रेत को उछालता है । उसके ऐसे अकरणीय व्यवहार से अभिमान तो अपना मस्तक उठा लेता है किन्तु विनय गुण जो कि अत्यन्त कोमल होता है, वह दब जाता है । किन्तु क्या अभिमान सदा ही अपना मस्तक ऊँचा करके चल सकता है ? नही, एक दिन उसे बुरी तरह अपमानित होकर नीचे गिरना पडता है ।

गर्व खर्व

वैष्णव ग्रन्थो मे एक उदाहरण आता है । नमुचि नामक एक दैत्य था । वह बडा शक्तिशाली और प्रतापी था । अपनी शक्ति के अभिमानवश उसने घोर तपस्या करके ब्रह्मा से यह वरदान भी प्राप्त कर लिया कि 'मैं न किसी अस्त्र-शस्त्र मे मरू, न किसी शुष्क या आर्द्र पदार्थ से ही मरू ।'

यह वरदान प्राप्त कर लेने के बाद तो उसके गर्व का पूछना ही क्या था ?

ररकुश होकर वह अन्य प्राणियो पर घोर अत्याचार करने लगा। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई।

कुछ समय पश्चात् देवासुर सग्राम छिडा और नमुचि ने देवताओ के भी छक्के छुडा दिये। वरदान प्राप्त होने के कारण मरता भी वह किसी से नही था। इन्द्र का वज्र भी उसके सामने असफल हो गया। किन्तु उसके पाप का घडा भर गया था और उसका मान-मर्दन भी होना था अत आकाशवाणी हुई कि "यह अस्त्र-शस्त्र से नही मरेगा। इसे समुद्र के फेन से मारो।"

ऐसा ही किया गया और वह महाप्रतापी दैत्य अपने अभिमान के कारण समुद्र के फेन द्वारा बुरी तरह से मारा गया। वास्तव मे ही अहकारी व्यक्ति को कभी न कभी नीचा देखना ही पडता है। जैसा कि कहा जाता है—

सर नहीं ऊँचा कभी रहते सुना अभिमान का।
अपने ऊपर ही है पड़ता, थूका हुआ आसमान का।

घमड के मारे कोई व्यक्ति अगर आसमान पर थूकना चाहे तो क्या वह इसमे सफल होगा ? नही, उसका थूक उसी के चेहरे को गदा करेगा। इसलिये अभिमान करना वृथा है साथ ही आत्मा की उन्नति मे बाधक भी है। कारण यही है कि उसके रहते आत्मा मे विनय गुण नही टिकता और विनय के न रहने पर ज्ञान प्राप्ति सभव नही होती।

प्रत्येक व्यक्ति को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि इस विराट विश्व मे एक से एक बढकर सम्पत्तिशाली, यशस्वी एव सौन्दर्यशाली पुरुष विद्यमान हैं। फिर वह किस बूते पर अभिमान करता है ? मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ ये गर्वोक्तियाँ ही उसे एक दिन ले डूबती है।

एक कवि ने सदा मैं-मैं करने वाले बकरे का दृष्टान्त देकर इस 'मैं' मे होने वाले अनर्थ का बडा मार्मिक चित्र खीचा है। कवि ने कहा है —

फखर बकरे ने किया मेरे सिवा कोई नही।
मैं ही मैं हूँ इस जहाँ मे दूसरा कोई नही॥
जब न छोडी 'मैं मैं' बे माया ओ बे-असबाब ने।
फेर दी गर्दन पै तग आके छुरी जल्लाद ने॥

गोश्त हड्डी और चमड़ा जो था जिस्मे जार में।
कुछ पका कुछ बिक गया कुछ फिक गया वाजार में ॥
अव रही आते फकत मैं-मैं सुनाने के लिए।
ले गया नद्दाफ उन्हे धुनकी वनाने के लिए ॥
तात पर पडने लगी चोटे तो घवराने लगी।
मैं के वदले तू ही तू की फिर सदा आने लगी ॥

पद्य की भाषा सरल और सीदी-सादी है अत आप समझ ही गए होगे कि वकरे के मैं-मैं शब्द ने उसकी कितनी दुर्दशा करवाई। ध्यान मे रखने की वात है कि बकरे का उदाहरण कोई विशेष महत्व नही रखता। किन्तु उसकी दुर्गति के पीछे छिपा हुआ मार्मिक रहस्य समझने की वात है। अहकारी मनुष्य का अहकार इसी प्रकार उसकी नाना प्रकार से दुर्गति का कारण वनता है।

विनयनाशक क्रोध

क्रोध भी मानव जीवन के लिये महा अनर्थकारी होता है। इसीलिये गाथा मे कहा गया है कि क्रोधी को भी हित शिक्षा रुचिकर नही लगती।

क्रोध एक ऐसा आवेश होता है, जिसके आ जाने पर मनुष्य को भान नही रहता कि वह करणीय कर रहा है या अकरणीय। इसके आधीन होकर मनुष्य मरने-मारने के लिये भी तैयार हो जाता है। वैसे हम देखते है कि ससार के प्रत्येक प्राणी को प्राण कितने प्रिय होते हैं, किसी भी कीमत पर वह उसे खोना नही चाहता। किन्तु क्रोधावेश मे उसी अमूल्य प्राण को क्षणभर मे ही नष्ट कर देता है।

अभी-अभी हमने अहकार की भयानकता के विपय मे विचार किया था। किन्तु क्रोध उससे भी अधिक भयकर सावित होता है। क्योकि अहकार तो मनुष्य की धीरे-धीरे दुर्दशा करता है किन्तु क्रोव तो जिस क्षण हृदय मे उत्पन्न होता है उसी क्षण से प्राणी का अहित करने लगता है।

एक श्लोक में कहा भी गया है —

उत्पद्यमान प्रथमं दहत्येव स्वयाश्रमम्।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥

अर्थात्—क्रोध जव उत्पन्न होता है तो उसी समय से अपने आश्रय स्थान यानी अन्त करण को अग्नि की तरह जलाने लगता है। उसके पश्चात् अन्य को तो वह जलाये या न भी जलाये।

इस कथन का आशय यही है कि क्रोध करने वाले व्यक्ति के द्वारा दूसरों की हानि तो हो पाए या नही किन्तु उसकी स्वय की हानि तो तुरन्त ही होने लग जाती है।

वस्तुत क्रोध एक प्रचण्ड अग्नि है, जो मनुष्य इस अग्नि को वश मे की लेगा या उसको बुझा देगा वह सुखी रहेगा। किन्तु जो मनुष्य इस क्रोधाग्नि को अपने वश मे नही कर सकता, वह अपने आपको भस्म कर लेगा। क्रोध सबसे बडी हानि यह होती है कि इसके कारण वैर का जन्म होता है और उस स्थिति मे मनुष्य सद्गुणो का सचय एव ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना तो दूर केवल अपने दुश्मन से वदला लेने की उधेडबुन मे ही पडा रहता है। और कभी कभी तो वह वैर जीवन के अन्त तक भी समाप्त नही होता तथा अगले जन्मो मे भी नाच नचाता रहता है। हम आगमो का अध्ययन करते हैं तो पाते है कि किस प्रकार वैर जन्म-जन्म तक चलता है तथा महान् कर्म-बन्धन का कारण बनता है।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने क्रोध से होने वाली हानि का बडा मर्म-स्पर्शी चित्र खीचा है—

कर क्रोध जीव जलते है, और जलाते,
हो अहकार मे चूर क्रूर वन जाते।
नन्दन कानन मे इसने आग लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

कितनी सुन्दर चेतावनी है? कहा है—"अरे मुक्ति के अभिलाषी भोले प्राणी! तू क्रोध से दूर रह, क्योकि जो जीव अहकार मे चूर होकर क्रूर वन जाते है तथा क्रोध के वश हो जाते है वे स्वय भी क्रोधाग्नि मे जलते हैं तथा औरो को भी जलाते है। यह क्रोध ही आत्मा मे रहे हुए सद्गुण रूपी सुन्दर वगीचे मे आग लगाता है अत इससे दूर रहकर कर्मो के आस्रव को रोक!"

कवि ने आगे क्रोध को कम करने का उपाय भी वताया है। वह इस प्रकार है —

होकर समर्थ जो क्षमा-भाव दिखलाते।
अपराधी पर भी क्रोध न मन मे लाते॥

गोश्त हड्डी और चमडा जो था जिस्मे जार मे।
कुछ पका कुछ विक गया कुछ फिक गया वाजार में ॥
अव रही आतें फकत मैं-मैं सुनाने के लिए।
ले गया नद्दाफ उन्हे धुनकी वनाने के लिए ॥
तात पर पडने लगी चोटे तो घवराने लगी।
मैं के वदले तू ही तू की फिर सदा आने लगी ॥

पद्य की भाषा सरल और सीदी-सादी है अत आप समझ ही गए होगे कि वकरे के मैं-मैं शब्द ने उसकी कितनी दुर्दशा करवाई। ध्यान मे रखने की वात है कि वकरे का उदाहरण कोई विशेप महत्व नही रखता। किन्तु उसकी दुर्गति के पीछे छिपा हुआ मार्मिक रहस्य समझने की वात है। अहकारी मनुष्य का अहकार इमी प्रकार उसकी नाना प्रकार से दुर्गति का कारण वनता है।

विनयनाशक क्रोध

क्रोध भी मानव जीवन के लिये महा अनर्थकारी होता है। इसीलिये गाथा मे कहा गया है कि क्रोधी को भी हित शिक्षा रुचिकर नही लगती।

क्रोध एक ऐसा आवेश होता है, जिसके आ जाने पर मनुष्य को भान नही रहता कि वह करणीय कर रहा है या अकरणीय। इसके आधीन होकर मनुष्य मरने-मारने के लिये भी तैयार हो जाता है। वैसे हम देखते हैं कि ससार के प्रत्येक प्राणी को प्राण कितने प्रिय होते है, किसी भी कीमत पर वह उसे खोना नही चाहता। किन्तु क्रोधावेश मे उसी अमूल्य प्राण को क्षणभर मे ही नष्ट कर देता है।

अभी-अभी हमने अहकार की भयानकता के विषय मे विचार किया था। किन्तु क्रोध उससे भी अधिक भयकर सावित होता है। क्योकि अहकार तो मनुष्य की धीरे-धीरे दुर्दशा करता है किन्तु क्रोध तो जिस क्षण हृदय मे उत्पन्न होता है उसी क्षण से प्राणी का अहित करने लगता है।

एक श्लोक मे कहा भी गया है —

उत्पद्यमान प्रथमं दहत्येव स्वयाश्रयम्।
क्रोध कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा ॥

अर्थात्—क्रोध जव उत्पन्न होता है तो उसी समय से अपने आश्रय स्थान यानी अन्त करण को अग्नि की तरह जलाने लगता है। उसके पश्चात् अन्य को तो वह जलाये या न भी जलाये।

इस कथन का आशय यही है कि क्रोध करने वाले व्यक्ति के द्वारा दूसरों की हानि तो हो पाए या नही किन्तु उसकी स्वय की हानि तो तुरन्त ही होने लग जाती है ।

वस्तुत क्रोध एक प्रचण्ड अग्नि है, जो मनुष्य इस अग्नि को वश मे की लेगा या उसको वुझा देगा वह सुखी रहेगा । किन्तु जो मनुष्य इस क्रोधाग्नि को अपने वश मे नही कर सकता, वह अपने आपको भस्म कर लेगा । क्रोध सवसे बडी हानि यह होती है कि इसके कारण वैर का जन्म होता है और उस स्थिति मे मनुष्य सद्‌गुणो का सचय एव ज्ञान-प्राप्ति का प्रयत्न करना तो दूर केवल अपने दुश्मन से वदला लेने की उधेडवुन मे ही पडा रहता है । और कभी कभी तो वह वैर जीवन के अन्त तक भी समाप्त नही होता तथा अगले जन्मो मे भी नाच नचाता रहता है । हम आगमो का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि किस प्रकार वैर जन्म-जन्म तक चलता है तथा महान् कर्म-वन्धन का कारण वनता है ।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने क्रोध से होने वाली हानि का बड़ा मर्म-स्पर्शी चित्र खीचा है—

कर क्रोध जीव जलते है, और जलाते,
हो अहकार में चूर क्रूर वन जाते ।
नन्दन कानन मे इसने आग लगाई,
कर आस्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी ।

कितनी सुन्दर चेतावनी है ? कहा है—"अरे मुक्ति के अभिलाषी भोले प्राणी ! तू क्रोध से दूर रह, क्योकि जो जीव अहकार मे चूर होकर क्रूर वन जाते है तथा क्रोध के वश हो जाते है वे स्वय भी क्रोधाग्नि मे जलते है तथा औरो को भी जलाते है । यह क्रोध ही आत्मा मे रहे हुए सद्‌गुण रूपी सुन्दर वगीचे मे आग लगाता है अत इससे दूर रहकर कर्मों के आस्रव को रोक !"

कवि ने आगे क्रोध को कम करने का उपाय भी वताया है । वह इस प्रकार है —

होकर समर्थ जो क्षमा-भाव दिखलाते ।
अपराधी पर भी क्रोध न मन में लाते ।।

समता के सागर मे जो नित्य नहाते।
भव-सागर को वे शीघ्र पार कर जाते ।।
उपशान्त भाव शाश्वत अनन्त सुखदायी।
कर आस्रव को निर्मू ल मुक्ति अनुयायी ।।

कहा है—जो भव्य प्राणी अपनी हानि करने वाले अपराधी पर भी क्रोध न करके उसे क्षमा करने मे समर्थ हो जाते है तथा सम-भाव के सुखद सागर मे अवगाहन करते हैं वे भव-समुद्र को शीघ्रातिशीघ्र पार कर लेते हैं। उपशमन भाव आत्मा को अनन्त एव शाश्वत सुख की प्राप्ति कराते हैं। अतएव हे मुमुक्षु प्राणी ! तू आस्रव को रोक तथा कपायो पर विजय प्राप्त कर। कपाय आत्मिक गुणो को नष्ट करते हैं अतएव आत्म-हितैषी प्राणी को इनका सर्वथा त्याग करके अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए ताकि उसमे शाति, सहिष्णुता, सतोप, सद्भावना आदि गुण पनप सकें तथा वह निरन्तर उन्नति-पथ पर बढ सके।

प्रमाद का कुपरिणाम

अब आती है गाथा मे कही गई तीसरी बात। वह यह है कि प्रमादी व्यक्ति को की हित शिक्षा नही भाती। जब जीवन मे प्रमाद छा जाता है तो प्राणी यह नही समझ पाता कि उसके लिये हेय कौनसी वस्तु है और उपादेय कौनसी। अज्ञान का आवरण उसकी बुद्धि को कुठित कर देता है तथा ज्ञानगुण को पनपने नही देता। अज्ञान का अधकार उसके मन पर छाया रहता है और उसके कारण वह सही मार्ग कभी नही खोज पाता।

प्रमादी पुरुष के हृदय मे एक ऐसी जडता घर कर जाती है कि उसकी रुचि किसी भी शुभ-क्रिया के करने मे नही रहती। वह मूढ व्यक्ति ज्ञान के अभाव मे यह भी नही समझ पाता कि कौन सी क्रिया उसे शुभ फल प्रदान करेगी, और कौनसी अशुभ फल का कारण बनेगी ? उसका अधिक से अधिक समय किंकर्तव्यविमूढता मे नष्ट होता है क्योकि प्रमाद एक तन्द्रा है और उसमे पडा हुआ मनुष्य न जागता हुआ सा लगता है और न सोता हुआ सा ही। उसके हृदय मे कभी ज्ञान का दीप नही जल पाता और न ही उत्साह की एक भी किरण प्रस्फुटित होती है। इस भावना के शिकार व्यक्ति न भौतिक क्षेत्र मे विकास कर पाते हैं और न आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही बढते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन मोह-निद्रा मे व्यतीत हो जाता है। कभी वह नहीं विचार पाता

कि यह मानव-पर्याय उसे बडी कठिनाई से मिली है और अब अगर व्यर्थ चली गई तो पुन प्राप्त होना दुर्लभ हो जाएगा।

ऐसे व्यक्तियो को महापुरुष बार-बार सावधान करने का प्रयत्न करते है तथा पुन-पुन चेतावनी देते हुए कहते हैं —

महामोह नीद मे अनादिकाल चिदानन्द।
सूतो है नि शक निज सुधि सबही विसार॥
विषय कषाय राग द्वेष औ प्रमाद वश।
करम कमाय भव सकट सहे अपार॥
घट मे अनत रिद्ध राजे पे लुकाय रही।
परख न कीनी कभौं ज्ञान नेन से निहार॥
कहे अमीरिख ज़ाग त्याग मोह नीद अब।
देख निज रूप को निवारि के मिथ्याधकार॥

कवि ने उद्बोधन दिया है—"अरे चेतन! तू अपने आपको भूलकर अनादिकाल से महा मोह की इस नीद मे निश्चित होकर सोया हुआ है तथा विपय-विकार, राग-द्वेष और प्रमाद के वश मे होकर असख्य कर्मों का उपार्जन करता हुआ घोर कष्ट सह रहा है।"

"तूने कभी भी अपने ज्ञान-रूपी नेत्रो को खोलकर नही देखा कि तेरी आत्मा मे ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की कैसी अमूल्य और अपार निधि छिपी हुई है।"

प्रौढ कवि मुनि श्री अमीऋषि जी महाराज कहते हैं—"कम से कम अब तो तू अज्ञान और मिथ्यात्व के अधकार से निकलकर ज्ञान के प्रकाश मे आ, तथा इस मोह-निद्रा का त्याग करके आत्म-स्वरूप की पहचान कर! तुझे सोये हुए तो अनादिकाल हो गया, अब जाग और अपने सत्-चित् आनन्दमय रूप का अवलोकन कर!"

बधुओ, वास्तव मे ही प्रमादावस्था आत्मोन्नति के लिए घातक विप का काम करती है तथा इस दुर्लभ मानव जीवन को निरर्थक बनाकर छोड़ती है। अतएव इसका त्याग करके प्राणी को महापुरुषो की चेतावनी और हित-शिक्षा पर ध्यान देते हुए सजग होने का प्रयत्न करना चाहिए।

उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा मे आगे बताया गया है कि रोगी एव आलसी व्यक्ति को भी उसके हित के लिए दी हुई शिक्षा फलदायक नही हो पाती। रोग दो प्रकार के होते है—शारीरिक और मानसिक। दोनो ही प्रकार के रोगी अपने शरीर की चिन्ता मे घुलते रहते है। अपनी देह की चिकित्सा के अलावा उन्हे और कोई विचार नही आता। रोगो का तो शरीर से सीधा सम्वन्ध है ही अत शरीर की चिन्ता स्वाभाविक है किन्तु मन के रोग जो विषय-वासनाएँ आदि हैं उनकी तृप्ति भी शरीर के स्वस्थ रहने पर होती है। अत इन रोगो का रोगी भी सदा अपने शरीर की ही परवाह और चिन्ता करता रहता है। परिणाम यह होता है कि उसे आत्मा की निरोगता और उसकी शुद्धि के चिन्तन के लिए समय ही नही मिल पाता।

दूसरे जव तक शरीर स्वस्थ नही रहता मन भी अस्वस्थ रहता है और मन के अस्वस्थ रहने पर आत्म-साधना हो भी कैसे सकती है? इसीलिये इन रोगो का रोगी हित शिक्षा मे रुचि नही ले पाता। अव नम्वर आता है आलसी व्यक्ति का। आलसी व्यक्ति भी जिनागम, जिनवाणी अथवा महापुरुषो के द्वारा दिये गए सदुपदेशो से कोई लाभ नही उठाता।

वरसो जीना है अभी तो

आलस्य मनुष्य के शरीर मे रहने वाला उसका सवसे वडा वैरी कहा जा सकता है। जिसके जीवन मे यह घर कर जाता है, उसे कही का नही रखता। आलसी व्यक्ति किसी भी काम को समय पर नही करता तथा सर्वदा अगली वार करने के लिये रख छोडता है। उसका मूल मन्त्र ही यह होता है —

> **आज करे सो काल कर, काल करे सो परसो।**
> **इतनी जल्दी क्यो करता है, अभी तो जीना वरसो ॥**

तो, वरसो जीना है, यह विचार कर आलसी व्यक्ति ऐश-आराम और भोगोपभोग मे ही अपने जीवन का वहुमूल्य समय व्यतीत करता चला जाता है। वह भूल जाता है कि मौत तो उसके जन्म लेने के समय से ही उसे ले जाने की ताक मे रहती है और मौका पाते ही ले भागती है। एक पजावी कवि ने कहा भी है—

> **इधर उडीके मौत पई तैनूं गावे काल तराना।**
> **तूं फसया मोह माया अन्दर होके मस्त दीवाना ॥**

तन है किधरे मन है किधरे, उलझे किधरे वाणी ।
मानुष भव अनमोल को तूं कदर न जानी ॥

पद्य मे कहा गया है—"अरे नासमझ प्राणी ! इधर तो मृत्यु तेरी राह देख रही है और काल तराने गा-गाकर प्रसन्न हो रहा है । और उधर तू मूर्ख बनकर मोह-माया मे मस्त हो रहा है तथा वरसो तक जीने के ख्वाव देख रहा है । तेरा तन, मन और वचन किधर उलझे हुए हैं ? लगता है कि तुझे इस अमूल्य मनुष्य-जन्म की तनिक भी कदर नही है ।

वस्तुत आलस्य के समान मनुष्य को अकर्मण्य बनाने वाला अन्य कोई भी दुर्गुण नही है । यह मन और शरीर दोनो को ही निकम्मा बना देता है तथा व्यक्ति पुरुषार्थ हीन होकर रह जाता है । परिणाम यह होता है कि वह कल करूँगा, परसो करूँगा या युवावस्था का आनन्द उठा लेने के पश्चात् वृद्धा-वस्था मे करूँगा, ऐसा सोचते-सोचते ही एक दिन यहाँ से प्रयाण कर जाता है और परलोक मे साथ ले जाने के लिए कुछ भी पूँजी एकत्रित नही कर पाता ।

कार्लाइल नामक एक विद्वान ने भी यही कहा है—

"In idleness alone there is perpetual despair."

आलस्य मे ही सान्ततिक निराशा रहती है ।

इस कथन से स्पष्ट जाना जाता है कि आलसी व्यक्ति जीवन मे कभी सफलता का मुँह नही देख पाता । उसके शरीर की जडता का परिणाम उसकी आत्मा को भोगना पडता है । क्योकि आलस्य के कारण ही वह अपनी आत्मा की उन्नति के लिए कोई शुभ क्रिया करने मे समर्थ नही हो पाता ।

हितोपदेश मे एक श्लोक दिया गया है । उसमे भी कहा गया है कि प्रत्येक प्रकार की उन्नति मे छ कारण वाधक बनते हैं । वे कारण ये हैं —

आलस्य स्त्री सेवा, सरोगता जन्मभूमि वात्सल्यम् ।
सतोषो भीरुत्व षड्व्याघाता महत्वस्य ॥

आलस्य, स्त्री की सेवा रोगी रहना, जन्मभूमि का स्नेह, सतोप और डरपोकपन ये छ वातें उन्नति के लिए वाधक हैं ।

वस्तुत इस ससार मे आलस्य के समान अन्य कोई भी भयकर पाप नही

है। इसके वश मे हुआ प्राणी इहलोक और परलोक दोनो ही ओर से जाता है। इसलिये इसका सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

तो आपने समझ लिया होगा कि अभिमानी, क्रोधी, प्रमादी, रोगी और आलसी व्यक्ति किस प्रकार अपने जीवन को निष्फल बनाते है तथा मनुष्य जन्म पाकर भी उसका कोई लाभ नही उठाते। हमे इन सब बातो से शिक्षा लेकर अपने जीवन को इन दुर्गुणो से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा मनुष्य जन्म रूपी इस दुर्लभ अवसर के एक-एक क्षण का लाभ उठाते हुए आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहिये। अन्यथा तो यह जीवन पाकर भी हमने धर्म साधना नही की और पुण्य-सचय न कर पाया तो चाहे जितनी लम्बी उम्र पाकर भी उसे न पाया हुआ ही मानना पडेगा। यह दुर्लभ जिन्दगी मिलकर भी न मिली के बराबर हो जाएगी।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी बडे सुन्दर ढग से कई उदाहरण देते हुए कहा है—

ऊसर मेह कुपात्र सनेह,
जुआरी को धन भयो न भयो ज्यो।
जार को सुख रु छार पै लीपन,
मूढ से गूढ कियो न कियो ज्यो॥
मूरख मीत लवार को सीख,
अनीति को राज कियो न कियो ज्यो।
साँच विचार अमीरिख धर्म,
विना जुग कोटि जियो न जियो ज्यो॥

ऊसर अर्थात् बजर भूमि पर बरसा हुआ मेह, कुपात्र से किया हुआ स्नेह तथा जुआरी के पास आया हुआ धन, जैसा हुआ न हुआ बराबर है। उसी प्रकार अनुचित सम्बन्ध रखने वाले प्रेमी से प्राप्त सुख, राख के ऊपर लीपना तथा मूढ व्यक्ति से की गई गूढ बातें भी न की जाने के समान ही हैं। इसके साथ ही मूर्ख व्यक्ति को मित्र मानना, झूठे को शिक्षा देना तथा अनीतिपूर्वक राज्य करना, जिस प्रकार नही करने के समान है, उसी प्रकार अगर सही ढग से सोचा जाय तो धर्म के अभाव मे करोड युग तक भी मनुष्य जिये तो उसके लिए न जीने के बराबर ही है।

धर्म का कितना बडा महत्व बताया गया है ? और यह यथार्थ भी है कि धर्म के अभाव मे जीवन, जीवन ही नही है। उसका वह जीवन पशु के समान है।

तो बधुओ, हमे अगर मनुष्य जीवन का लाभ उठाना है तो धर्म को जीवन मे अवश्य ही स्थान देना चाहिए। और धर्म की स्थापना हृदय मे तभी हो सकेगी, जबकि हम सर्वप्रथम विनय गुण को अपनाकर सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करेंगे। विनय गुण ही ज्ञान-प्राप्ति मे सहायक बनेगा तथा ज्ञान सहित धर्म की आराधना हमे अभीष्ट फल 'मोक्ष' की प्राप्ति करा सकेगी।

८

तपो हि परम श्रेयः
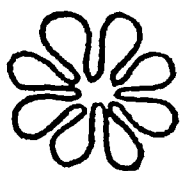
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवी गाथा का वर्णन चल रहा है। कल हमने ज्ञान प्राप्ति के छठे कारण विनय के विपय मे वर्णन किया था। आज सातवें कारण को लेना है। ज्ञान वृद्धि का सातवाँ कारण है—कपट रहित तप करना।

तप का माहात्म्य

हमारे जैनागमो मे तप की वडी भारी महिमा वताई गई है। जैनाचार्यों ने आत्म-शुद्धि के लिये अनेक मार्गों की गवेषणा की है किन्तु उनमे से सर्वप्रधान मार्ग तपश्चरण को माना गया है। तप दो प्रकार का है—आतरिक और वाह्य। जैनशास्त्रो मे इन दोनो का जो विस्तृत एव व्यापक वर्णन दिया गया है, उसे देखते हुए स्पष्ट कहा जा मकता है कि जव तक साधक अपने जीवन को पूर्ण तपोमय नही वना लेता, तव तक आत्म-शुद्धि और आत्म-साक्षात्कार का उसका सर्वोच्च ध्येय सफल नही हो सकता।

मनुस्मृति मे भी तप का माहात्म्य वताते हुए कहा गया है —

"तपसा किल्विषं हन्ति।"

तप के द्वारा पापो का नाश होता है तथा असत् प्रवृत्तियो के स्थान पर सत् प्रवृत्तियाँ स्थापित होती है।

जिस प्रकार धोवी मलिन वस्त्रो को साबुन अथवा सोडे से स्वच्छ कर लेता है, उसी प्रकार साधक अपने तप के वल पर आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध और निर्मल वना लेता है। तपस्या का तेज वडा प्रखर होता है और वह उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण कालिमा को भस्म करके उसे देदीप्यमान वना देता है, जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को तपाकर निष्कलुप एव कातियुक्त वना देती है।

तप की महत्ता का जितना भी वर्णन किया जाय, थोडा है, क्योकि उसके द्वारा इस विराट विश्व की कोई भी सिद्धि असाध्य नही रह जाती। एक श्लोक यही बात कहता है —

यद् दूरं यद् दुराराध्यं, यच्च दूरे व्यवस्थितम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम्॥

जो वस्तु अत्यन्त दूर की जान पडती है, जिसकी आराधना करना अत्यन्त कठिन है, जो इतनी ऊँचाई पर है कि हमारे बल-बूते की नही मालूम होती, वह भी तपश्चरण के बल पर सहज साध्य बन जाती है।

तप के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। इसका प्रभाव साध्य-प्राप्ति मे आने वाली प्रबल बाधाओ को भी पलक झपकते ही नष्ट कर सकता है तथा देव-दानवादि सभी को अपना आज्ञानुवर्ती दास बना सकता है। मन और इन्द्रियो की समस्त उच्छृखलताओ को दूर करके एकमात्र तप ही आत्मा को निर्मल और विशुद्ध बना सकता है तथा उसे कर्म-बन्धनो से छुटकारा दिला सकता है। तप के अभाव मे साधक कभी भी अपनी साधना मे सफल नही हो सकता तथा मानव जीवन का लाभ नही उठा सकता। कहा भी है —

अध्रुवे हि शरीरे यो, न करोति तपोऽर्जनम्।
सपश्चात्तप्यते मूढो, मृतो गत्वात्मनो गतिम्॥

यह शरीर क्षणभगुर है, इसमे रहते हुए जो जीव तप का उपार्जन नही करता, वह मूर्ख मरने के बाद, जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है, बहुत पश्चात्ताप करता है।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि तप की महिमा अपरपार है और भव्य प्राणी तप के द्वारा ही पापो की निर्जरा करके अपने चारित्र को उज्ज्वल बनाता हुआ अपने सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

तपस्या कैसे हो ?

हमने तपस्या के महत्त्व को समझा है। और जाना है कि तपस्या के बल पर ही आत्मा तपाये हुए सुवर्ण के सदृश निर्मल, निष्कलुष एव दैदीप्यमान बन सकती है।

आप कहेंगे कि 'तपस्या तो हम लोग खूब करते है और हमारी बहनें तो इस कार्य मे हमसे भी पचास कदम आगे हैं। प्रत्येक चातुर्मास मे सैकडो उपवास, वेले, तेले, अठाइयाँ और मासखमण अर्थात् एक-एक महीने की तपस्या भी वे कर जाती हैं।'

मैं भी इस वात को मानता हूँ और जानता हूँ कि आप लोग तपस्या करते हैं। किन्तु वधुओ ! तपस्या करके भूखे रहने के साथ-साथ मन की भावनाएँ भी जितनी पवित्र दृढ और विशुद्ध रहनी चाहिये, क्या वैसी ही आपकी रहती हैं ?

आप जानते ही होंगे कि भावनाओ की लीला बडी जवर्दस्त है। उनमे थोडासा हेर-फेर भी परिणाम मे इतना महान परिवर्तन ला देता है कि उस पर सहज ही विश्वास नही हो पाता। पर यह अकाट्य सत्य भी है। भावनाओ के उतार और चढाव से जीव आधे क्षण मे सातवें नरक का और अगले आधे क्षण मे ही मोक्ष का वंध भी कर लेता है। तो ऐसी नाजुक भावनाओ को क्या आप अपने नियन्त्रण मे रख पाते हैं ? अनेक व्यक्ति कहते हैं—"महाराज, शास्त्रो मे पढते हैं कि प्राचीनकाल मे तो वेले और तेले की तपस्या करने पर ही तपस्या करने वाले की सेवा मे देवता आ उपस्थित होते हैं। किन्तु आज तो महीने भर की ही क्या दो-दो महीने की तपस्या कर लेने पर भी देवता का दूत भी पास मे नही फटकता।"

सुनकर हँसी आ जाती है पर इसका उत्तर मैं समझता हूँ कि आपको दे चुका हूँ। और वह यही है कि तपस्या के साथ-साथ दृढ आत्म-शक्ति भावनाओ की प्रवलता एव चिंतन की अटूट एकाग्रता ही इसका कारण है। आज यह बात कदापि सभव नही है कि आप अपनी तपस्या के साथ अपनी भावनाओ को भी वैसी दृढता से सयमित रख सकें। उपवास आदि मे तो क्या, एक सामायिक के काल मे भी आपका मन स्थिर नही रह पाता। सामायिक लेकर व्याख्यान सुनते हैं उस समय भी आपकी निगाह प्रत्येक आने वाले की ओर फौरन उठ जाती है तथा मन तो प्रवचन-स्थल मे भी नही रह पाता। वह कभी वाजार, कभी घर और कभी वसो तथा ट्रेनो मे सफर करता रहता है। एक मिनट भी वह एक स्थान पर आत्माभिमुख होकर नही रहता फिर देवताओ के आने की आशा आप किस बूते पर करते हैं ?

तो अव यही वतलाना चाहता हूँ कि तपस्या कैसी करनी चाहिये ? और कैसी तपस्या करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है जो मुक्ति का कारण वन सकता

है। हमारा आज का विषय यही है कि तप करने से ज्ञान बढता है। किन्तु कैसा तप ? उत्तर है—कपट रहित तप किया जाय तो ज्ञान की प्राप्ति होती है।

कपट किसे कहते हैं ?

शास्त्रीय दृष्टि से कपट तीसरा कषाय है। हम कपट करे या माया, एक ही अर्थ का सूचक है। माया शब्द के भी कई अर्थ हैं। यथा—माया यानी मोह जाल। मराठी भाषा मे माया को प्रेम कहते हैं। और कपट तो हम कह ही चुके है। किसी घोर तपस्वी अथवा अरणक एव कामदेव श्रावक जैसे को अपने धर्म से डिगाने के लिये देवता पिशाच आदि के रूप मे आए और उन्हे भयभीत करने के लिये नाना-प्रकार के झूठे दृश्य उन्होंने दिखाए। वह सव उनकी माया या कपट ही कहा जाएगा। सती सीता का हरण करने के लिये रावण रूप वदल कर आया वह भी कपट था।

वास्तव मे, जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न दिखाकर भिन्न-भिन्न रूप में दिखाना यह माया या कपट की श्रेणी मे आता है। इसी प्रकार त्याग, भक्ति तप एव सयम की क्रियाओ मे मनुष्य अपनी आतरिक भावनाओ को छिपाकर दिखाने के लिये उनसे उलटी क्रियाएँ करता है तो वह कपट कहा जाता है। जैसे—मन मे आदर और श्रद्धा न होते हुए भी उन्हें प्रदर्शित करने के लिए गुरु को नमस्कार करना अथवा भगवान के अस्तित्व मे सन्देह रखते हुए भी लोगो की दृष्टि मे धर्मात्मा कहलाने के लिये पूजा-अर्चना करना।

ऐसी क्रियाओ से साधक को उनका उत्तम फल कदापि नही मिलता, उलटे कुफल भुगतना पडता है।

कपट भगवान को भी नहीं छोड़ता

भगवान मल्लिनाथ के जीव ने पूर्व भव मे अपने छ मित्रो के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। सातो मित्रो ने आपस मे तय किया था कि हम समान करणी करेंगे ताकि सभी को समान फल मिले।

किन्तु दीक्षा लेने के पश्चात् महाबल मुनि के हृदय की भावनाएँ वदल गई और उनके हृदय मे कपट का उदय हुआ। कपट के कारण उन्होंने अपने मित्रो से किये हुए वादे को तोड डाला और विचार किया—

"मैं सासारिक अवस्था मे वडा भारी राजा था और अव साधुपना लेकर भी गुरु हूँ। ये सव मेरे शिष्य और छोटे हैं। तो क्यो न मैं चुपचाप इनसे वढ-कर करनी करूँ कि आगे जाकर भी वडा ही वना रहूँ।"

इस विचार के साथ ही भगवान मल्लिनाथ ने महाबल मुनि के भव मे उत्कृष्ट तप एव ज्ञान, ध्यान सयमादि की उत्तम क्रियाएँ की। फल यह हुआ कि उत्कृष्ट तपादि क्रियाओ का फल तो उन्हे मिला अर्थात् बडप्पन तो मिल गया किन्तु करणी मे कपट रखने के कारण स्त्री गोत्र का बध हो गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी शुभ क्रिया करने पर उसका फल तो अवश्य मिलता है किन्तु उसमे किसी प्रकार का कपट रखा जाय तो उसका बुरा परिणाम भी भोगना पडता है। की हुई कोई क्रिया निष्फल नही जाती इस विषय मे एक कवि ने कहा है —

वृक्ष निष्फल और वन्ध्या नारी,
कोई कर्म योग रह जावे रे।
दया दान फल फल जाण कभी, निष्फल नहीं जावे रे।
दान नित करजो रे।

कवि का कथन है—प्रत्येक वृक्ष के लिये प्राकृतिक नियम है कि वह फल प्रदान करे। और होता भी ऐसा ही है कि प्रत्येक वृक्ष किसी न किसी प्रकार का फल देता है। किन्तु कर्मवश कोई वृक्ष ऐसा भी रह जाता है जो कि किसी प्रकार का फल नही देता।

इसी प्रकार स्त्री जाति सतान प्रसव करती है, किन्तु पूर्व कर्मों के फल स्वरूप कोई-कोई वन्ध्या भी रह जाती है अर्थात् वह किसी भी सतान को जन्म नही दे पाती।

तो पद्य मे बताया है कि भाग्य-योग से कोई वृक्ष निष्फल रह सकता है और स्त्री भी वन्ध्या हो सकती है किन्तु दया तथा दान आदि की शुभ क्रियाएँ कभी भी निष्फल नही जाती। उनका फल तो निश्चय ही मिलता है पर उनमे कपट होने से जैसा मिलना चाहिये वैसा नही मिल पाता।

ठाणाग सूत्र मे बताया गया है कि मुनि को बयालीस दोषो को ध्यान मे रखकर और उनसे बचकर आहार पानी आदि लेना चाहिये। इससे उनकी बुद्धि निर्मल रहेगी। अगर वे ऐसा नही करेंगे अर्थात् बयालीस दोषो मे से किन्हीं दोषो को अनदेखा करके यानी कपट रखकर आहार जल ले लेंगे तो उनकी बुद्धि मे मलिनता आ जायगी। बुद्धि की मलिनता से तात्पर्य यही है कि बुद्धि के फल, ज्ञान मे कमी आना अथवा उसमे विकृति हो जाना, तो यह कपट का ही परिणाम है। कपट करने पर उसका फल मिलना अवश्यभावी है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने एक सियार और ऊँट का मनो-रजक उदाहरण देकर कपट के कुपरिणाम को समझाया है। उदाहरण पद्यमय है और इस प्रकार कहा गया है—

श्याल कहे ऊँट मामा, चालो ने चणा के खेत,
कपट न जाण्यो ऊँट सग ही सिधावे है।
श्याल कहे आधा खेत बीच मे पधारो क्यो नी,
श्याल ऊँट दोनो आछे चूट-चूट खावे है।
जबुक भरायो पेट खेत धणी आयो जाणी,
वोल्यो मामा मोय तो भूकण वाय आवे है।
ऊँट की न मानी श्याल भूक के गयो है भाग,
लाठी पथरा की मार ऊट मामा खावे है।

एक सियार ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने के लिये ऊँट से दोस्ती की और उसे अपना माना बना लिया। ऊँट बेचारा, सीधा-साधा था अत उसने सियार से भानजे का रिश्ता मान लिया।

एक दिन सियार ऊँट के पास आकर बोला—"मामा! आजकल चने की फसल आई हुई है, खूब हरे भरे खेत हैं और उनमे चने पक गए है। चलो न, आज किसी चने के खेत मे चलें। आनन्द से पेट भरकर लौट आएँगे।"

ऊँट भोला था। उसके दिमाग मे उसके शरीर के अनुरूप बुद्धि नही थी अत सियार के साथ हो लिया। दोनो खेत मे आए और चने खाने लगे। ऊँट किनारे पर ही खा रहा था पर धूर्त सियार उससे बोला—"यह क्या मामा? किनारे पर तो सव पेड खाए हुए और खाली है, खेत के वीच मे चलो! असली आनन्द चने खाने का वही आएगा।" भानजे की प्रेरणा से मामा जी खेत के वीच मे पहुँच गए और चने खाने लगे।

थोडी ही देर मे सियार का पेट भर गया क्योकि उसका पेट छोटा था, किन्तु ऊँट का कैसे भरता अत वह खाता रहा। सियार के मन मे कुटिलता तो थी ही, मन मे कपट रखकर ही वह ऊँट को लाया था अतएव वोला—

"मामाजी! मेरी आदत है कि मुझे खाने के वाद भौंकनी आती है अर्थात् भौंकने की इच्छा हो जाती है। इसलिए मैं तो भौंकता हूँ।"

ऊँट ने घबराकर कहा—"भाई चिल्लाने की कौनसी जरूरत आ पडी है ? तुम चिल्लाओ मत, चुप रहो। अन्यथा लोग मुझे पकड कर मारेंगे।"

यही तो सियार चाहता था। उसने जोर-जोर से हुआँ-हुआँ करके चीखना शुरू किया और कुछ मिनिटो के पश्चात् वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो गया। सियार की आवाज सुनते ही खेत का मालिक दौडकर आया और ऊँट को पकडकर उसकी खूब पूजा की। बेचारा ऊँट पिट-पिटाकर अपना सा मुँह लेकर लौटा कई दिन तक मार खाने के कारण उसका शरीर दर्द करता रहा।

पर धोखा खाकर ऊँट बडा दुखी हुआ और लगता है कि उसकी दशा पर तरस खाकर विधाता भी उसके गूढ मगज मे कुछ बुद्धि ठूँस गया। अत वह सोचने लगा कि मुझे सियार को उसके कपट करने का फल चखाना चाहिए। इसके लिये वह मौका ढूंढने लगा और सफल भी हुआ—

ऊँट मामा दाव राखी भाणेजा को एक दिन,
कहे गोठ कीजे एक खेत आछो पायो है।
मानी मनवार चाल्या मारग में आई नदी,
कैसे पार पोचू जल अधिक भरायो है।
पीठ पै विठायो ऊँट आयो मझधार कहे,
भाणेजा जी म्हाने तो लोटणवाय आयो है।
कह अमीरिख मझधार मे वह्यो है श्याल,
कपट किया सूँ जीव दुख ऐसो पायो है।

हुआ यह कि एक दिन दाव पाकर ऊँट ने भी सियार से बदला लेने की योजना बनाई और उसके पास आकर प्रेम से बोला—"प्यारे भानेज ! आज मैंने भी एक बडा अच्छा खेत ढूंढा है। चलो न, वहाँ चलकर अपन मामा-भानेज गोठ करें। बडा आनन्द आएगा।"

सियार मामा की मनुहार से प्रसन्न हुआ और उसी वक्त ऊँट के साथ चल दिया। दोनो कुछ ही दूर चले थे कि रास्ते मे एक नदी आ गई। नदी पार करना सियार के वश की बात नही थी अत वह बोला—"मामा ! इसमे तो बहुत-जल है, मैं कैसे नदी पार करूँ ?"

"वाह ! यह क्या बड़ी बात है ? तुम मेरे भानेज हो ! आओ मेरी पीठ पर बैठ जाओ ! मैं बात की बात मे तुम्हे उस पार लिये चलता हूँ।"

सियार बडा खुश हुआ और उछल कर ऊँट की पीठ पर बैठ गया। मन मे सोच रहा था—"वाह ! आज का दिन तो बडा सुन्दर है। मजे मे ऊँट की मवारी करने को मिली और कुछ देर वाद बढिया खाने को भी मिलेगा।"

ऊँट चुपचाप सियार को पीठ पर वैठाए नदी मे घुस गया और बीच धार तक जा पहुँचा। उम स्थान पर जल अत्यन्त गहरा था। अब अवसर उपयुक्त देखकर ऊँट बोला—"बेटा भानेज ! मेरी आदत है कि पानी को देखते ही मुझे लोटनवाय आने लगती है। अत अब मैं तो इसमे लोटना चाहता हूँ।"

मामा की वात सुनकर सियार घवरा गया और चीखा—"यह क्या गजब करते हो मामा ! तुम पानी मे लोटोगे तो मैं मर नही जाऊँगा ?"

पर इतनी देर मे तो ऊँट पानी मे बैठ चुका था। अत सियार वहने लगा। वह वहुत चीखा, चिल्लाया और रोने लगा पर इससे क्या होता ? कपट करनी का फल तो भोगना ही था।

इस उदाहरण के द्वारा कवि ने यही वताया है कि कपट करने का नतीजा वहुत बुरा होता है और कभी न कभी उसका परिणाम भोगना ही पडता है। जो जीव कपट करता है उसे इसी प्रकार दुखद फल भुगतना पडता है।

भले ही व्यक्ति वहुत चतुराई से और कपट क्रिया करके सोचे कि मैं कितना होशियार हूँ, किसी को पता भी नही चलने दिया। कैसा ठगा मैने दुनिया को, पर वह नादान प्राणी यह भूल जाता है कि ससार चाहे उसकी चालवाजी न समझे पर उसके कर्म तो उसकी एक-एक हरकत पर गिद्ध के समान पैनी दृष्टि रखते हैं तथा उसी क्षण अपराध और उसकी सजा भी नियत करते जाते है।

इसीलिए सच्चे साधक और सच्चे भक्त अपनी भक्ति मे कपट नही रखते। वह परमात्मा से अपने अवगुणो को छिपाते नही, तथा उन्हे प्रकट करते हुए अपने आपको कर्म-वधनो से वचाने की प्रार्थना करते है।

सत तुलसीदास के एक भजन से स्पष्ट होता है कि एक निष्कपट भक्त किस प्रकार अपने दोषो को स्वीकार करता हुआ भगवान मे दया की भिक्षा मांगता है। रामायण के रचयिता महाकवि तुलसीदास अपने प्रभु से कहते हैं —

कौन जतन विनती करिये ?
निज आचरण विचारि हारि हिय मानि जानि डरिये ॥

जेहि साधन हरि ! द्रवहु जानि जन सो हठि परिहरिये ।
जाते विपति जाल निसदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ।।
जानत हूँ मन, वचन, करम, परहित कीन्हे तरिये ।
सो विपरीत देखि पर-सुख विनु कारण ही जरिये ।।

क्या कहा है तुलसीदास जी ने ? यही कि—"हे प्रभु ! मैं किस प्रकार आप से विनती करूँ ? जब अपने निन्दनीय आचरणो पर दृष्टिपात करता हूँ तब हृदय मे हार मानकर डर जाता हूँ और प्रार्थना करने का साहस ही नही होता ।"

"हे हरि ! जिस साधन से आप मनुष्य को अपना भक्त समझकर उस पर कृपा करते हैं, उसे तो मैं हठपूर्वक छोड रहा हूँ और जहाँ आपत्तियो के जाल मे फँसकर दुख ही दुख प्राप्त होता है उस कुमार्ग पर चलता हूँ ।"

"मैं जानता हूँ कि मन, वचन और कर्म से दूसरो की भलाई करने पर मैं ससार-सागर से पार हो जाऊँगा, किन्तु मैं तो इससे उलटा ही आचरण करता हूँ तथा दूसरो के सुखो को देखकर विना ही कारण ईर्ष्या की आग मे जला जा रहा हूँ ।"

कितने शुद्ध भावो से भक्त ने अपने दोषो को स्वीकार किया है ? क्या सभी साधक ऐसा कर सकते हैं ? 'नही, ससार के अधिकाश प्राणी सदा अपने पापो पर पर्दा डालने के प्रयत्न मे रहते है । ऐसे तो विरले ही होते हैं जो निष्कपट भाव से सहज ही अपने दोषो को भगवान के सामने रख देते हैं । आगे कहा है—

श्रुति पुरान सवको मत यह सतसग सुदृढ धरिये ।
निज अभिमान मोह इरिषा वस तिनहिं न आदरिये ।।
सतत सोइ प्रिय मोहि सदा जाते भवनिधि परिये ।
कहौ अव नाथ, कौन वलते ससार-सोग हरिये ।।
जव कव निज करुना स्वभावते, द्रवहु तौ निस्तरिये ।
तुलसीदास विस्वास आन नहिं, कत पच-पच मरिये ।।
कौन जतन विनती करिये ?

अर्थात्—"वेद पुरान सभी का यह सिद्धान्त है कि खूब दृढतापूर्वक सत्सग

का आश्रय लेना चाहिए किन्तु मैं तो अपने अभिमान, अज्ञान और ईर्ष्या के वश कभी सत्सग का आदर नही करता । उलटे उनसे द्रोह किया करता हूँ । मेरे कलुपित मन को वही सब अच्छा लगता है, जिमसे ससार-सागर ही मे पडा रहूँ । ऐसी स्थिति मे हे नाथ ! आप ही कहिये मैं किम वल से इन सासारिक दुखो को दूर करूँ ? जव कभी आप अपने दयालु स्वभाव मे मुझ पर पिघल जाएँगे तभी मेरा इस भव-सागर से निस्तार होगा अन्यथा नही । क्योकि इम तुलसीदास को और किसी का तो विश्वास ही नही है, फिर वह किसलिये अन्यान्य साधनो मे पच-पचकर मरे ?"

"हे प्रभो ! मैं किस प्रकार आपसे विनती करूँ ?"

वधुओ, कपट रहित भक्ति का यह कितना सुन्दर और सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है ? ऐसी भक्ति ही भगवान को रिझा सकती है और ऐसा कपट रहित तप ही आत्मा को निर्मल वना सकता है । जो भक्त और साधक विना अपने दोपो को छिपाए तथा विना दिखावे की इच्छा रखे पूर्ण दृढता एव एकाग्रतापूर्वक भक्ति और तपस्या करता है, वही मम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करके अपनी साधना को सफल वना सकता है ।

ज्ञान-चक्षु

गभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो समझ मे आ जाएगा कि ज्ञान के अभाव मे मनुष्य कैसी भी भक्ति और साधना क्यो न करे, वह अधेरे मे ढेला फेंकने के समान ही सावित होगी । ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एक नयनहीन व्यक्ति चलने के लिए कदम वढाता है पर वह ठीक स्थान पर पडेगा या नही, यह निश्चित नही कहा जा सकता । नेत्र के अभाव मे उस व्यक्ति के लिए सारा जग केवल अन्धकार है इसी प्रकार ज्ञान के अभाव मे समस्त क्रियाएँ सूनी होती हैं ।

एक कुण्डलिया मे ज्ञान को नयनो के समान ही अमूल्य वताते हुए कहा है कि इनको खोलकर चलो ताकि साधना-पथ मे कही ठोकर न लगे और भटकना भी न पडे—

> नयन वहुत प्रिय देह मे, लोल सरस अनमोल ।
> याते भल अनभल दिखै, चालो इनको खोल ।।
> चालो इनको खोल, मार्ग मे खता न खावो ।
> शास्त्र ज्ञान को लेय, जगत मे सव सुख पावो ।।

चहूँ कृष्ण अधियार, व्यर्थ होत सब सुख चयन।
पराधीन लाचार, जग मे विन इन प्रिय नयन ।।

जैसे व्यक्ति अपनी आँखो से ससार के समस्त स्थूल पदार्थों को देख सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्र के द्वारा वह आत्मा, परमात्मा, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, पाप, पुण्य तथा लोक-परलोक के विषय मे समझ सकता है।

कुण्डलिया मे कहा है—"इस मानव देह मे नेत्र सबसे अधिक सरस, प्रिय व अमूल्य हैं क्योकि इनसे ही हमे अपने लिए हितकर और अहितकार पदार्थों का ज्ञान होता है। जीवन पथ पर इन्हे खोलकर चलो! इन्हे खोलकर चलने से कभी मार्ग भ्रष्ट नही होओगे।"

कवि ने आगे यह भी कहा है कि इन चर्म चक्षुओ के समान ही अपने ज्ञान नेत्रो को भी खोलो जो कि आगमो का तथा धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन करने से प्राप्त होते हैं। जो भव्य प्राणी अपने ज्ञान नेत्रो को पा लेता है, उसके सामने छाया हुआ अज्ञान और मिथ्यात्व का घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है तथा वह इस जगत मे रहते हुए भी पूर्ण सुख और सतोप का अनुभव करता है। इनके अभाव मे वह पर-पदार्थों के आधीन होकर लाचार सा बन जाता है तथा कभी भी अपने ध्येय की सिद्धि मे सफल नही हो पाता। कहा भी है —

शौच-क्षमा-सत्य-तपो-दमाद्या,
गुणा समस्ताः क्षणतश्चलति।
ज्ञानेनहीनस्य नरस्य लोके,
वात्याहता वा तरवोऽपि मूलात् ।।

ज्ञान से रहित पुरुप के शौच, क्षमा, सत्य, तप दम आदि सब गुण क्षण मात्र मे ही समाप्त हो जाते हैं, जैसे ससार मे आंधी से आहत वृक्ष मूल से नष्ट हो जाते हैं। अत ज्ञानाराधन करना चाहिए।

तो बधुओ, हमे अपने आत्मिक गुणो की रक्षा के लिये ज्ञानाराधन करना है और इसीलिये ज्ञान की प्राप्ति तथा वृद्धि के लिये ग्यारह कारण बताए जा रहे हैं। इनमे से सातवां कारण अथवा साधन तप है जो कि आज का विपय है। तप के विपय मे कहा गया है कि तप कपट रहित हो। हमारे तप करने के पीछे बनावट, ढोंग, यश-प्राप्ति की कामना अथवा अन्य कोई भी स्वार्थ नही होना चाहिये। इस प्रकार का निष्कपट तप करने पर ही उसका उत्तम फल प्राप्त हो सकता है। कपट रहित तप करने से कितना महान लाभ होता है यह एक श्लोक से जाना जा सकता है —

यस्मान्नश्यति दुष्टविघ्न विततिः कुर्वन्तिदास्य सुरा ।
शांति याति बली स्मरोऽक्षपटली दाम्यत्यहो सपंति ।।
कल्याण शुभ सपदोऽनवरतं यस्मात्स्फुरति स्वयं ।
नाश याति च कर्मणां समुदय सारं परं तत्तप. ।।

कहा गया है—जिससे दुष्ट विघ्नो के समूह का नाश होता है, देवता दास बन जाते है, बलवान कामदेव शात हो जाता है, इन्द्रियो का दमन हो जाता है, सुख-सपत्ति की निरतर वृद्धि होती है और कर्मो के समूह स्वय नष्ट हो जाते हैं, वह परम साररूप तप ही है ।

जो व्यक्ति तप के महत्व को समझ लेते हैं तथा सच्चे तप की पहचान कर लेते हैं, वे अपनी तप-क्रिया को इतनी दृढ, निर्दोष, निस्वार्थी एव निष्कपट बना लेते हैं कि उन्हे उसमे धोखा नही खाना पडता । अपने उत्कृष्ट तप के द्वारा वे इच्छित फल प्राप्त करते हैं तथा मानव-पर्याय का समुचित लाभ उठा लेते हैं । वह लाभ कहाँ तक जाता है, इस विषय मे कहा है—

"तप सीमा मुक्ति. ।"

तपस्या की सीमा, तपस्या का अतिम परिणाम मोक्ष है ।

९
असार ससार
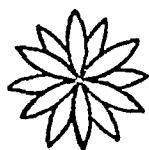
धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणो मे से आठवाँ कारण है—ससार को असार समझना ।

सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि ससार को असार समझ लेने मात्र से ही ज्ञान कैसे प्राप्त हो जाएगा ? वास्तव मे ही इतना सा कह देना कि ससार को असार समझे तो ज्ञान की प्राप्ति हो, काफी नही है । यद्यपि वात यह सत्य है किन्तु विना इस वात के पीछे रहे हुए रहस्य को समझे समाधान नही हो सकता । हमे इस वात को भली-भाँति समझना पडेगा कि ससार को असार समझने का क्या परिणाम होगा, अथवा किन भावनाओ का उदय होगा जो ज्ञान प्राप्ति मे सहायक वनेंगी ।

ससार असार क्यो है ?

ससार को इसलिए असार माना जाता है कि प्रथम तो हमारे चर्म-चक्षुओ से दिखाई देने वाली जो भी वस्तु है वह नाशवान है । वडे-वडे आलीशान मकान, धन-दौलत, पेड-पौधे तथा ससार मे रहने वाले प्रत्येक जीव का शरीर भी नश्वर है । इनसे हम कितना भी गहरा सम्वन्ध रखें, इन पर अपना प्रभुत्व जमाएँ किन्तु, या तो एक दिन ये सव स्वय नष्ट हो जाएँगे या फिर हमारी आत्मा को ही इन्हे छोडकर किसी दिन जाना पडेगा । प्रौढ कवि पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने ससार की असारता को वताते हुए एक वडा सुन्दर पद्य लिखा है । वह इस प्रकार है —

आयु है अथिर जैसे अजली के नीर सम,
दौलत चपलता ज्यो दामिनी पलक मे ।

यौवन पतग रग, काया है नीकाम अति,
वार नही लागे ओस विन्दु की ढलक मे ।।
सुपन समान यह, सपदा पिछान मन,
सरिता को पूर ढल जाय ज्यो पलक मे ।
कहे अमीरिख जग सुख है असार धार,
सुकृत सदीव यही सार है खलक मे ।।

इस ससार मे आयु अजुलि मे भरे हुए जल के समान है अर्थात् अजुलि मे भरा हुआ जल कितनी भी सावधानी रखो टिक नही पाता, इसी प्रकार आयु लाख सतर्कता रखने पर भी समाप्त हो जाती है ।

वाल्मीकि रामायण मे भी कहा है—

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषा प्राणिनामिह ।
आयुषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवाशव ।।

दिन रात लगातार वीत रहे है और ससार मे सभी प्राणियो की आयु का तीव्र गति से नाश कर रहे हैं । ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य की किरणें गर्मी मे शीघ्रतापूर्वक फल को सुखाती रहती हैं ।

आगे कहा है—'दौलत चपलता ज्यो दामिनि फलक मे ।' अर्थात् लक्ष्मी अत्यन्त चचल है । यह आज है तो कल नही । जैसे आकाश मे विजली क्षण भर के लिए चमकती है इसी प्रकार दौलत आज किसी के पास देखी जाती है और कल किसी के पास ।

यौवन पतग के रग के समान सावित होता है । पतग पर तनिक सा पानी पडते ही उस पर का रग मिट जाता है, वैसे ही पूर्ण युवावस्था भी अल्पकाल मे ही वृद्धावस्था को प्राप्त होती है । और कितना भी खिलाया, पिलाया और नहलाया क्यो न जाए यह शरीर क्षण मात्र मे ही आत्मा के प्रयाण करने पर निर्जीव हो जाता है । ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि सूर्य की एक किरण के पृथ्वी पर आते ही ओस की बूंद सूख जाती है ।

कवि आगे कहता है—अरे मन ! यह वैभव और सपत्ति स्वप्न के समान अस्थिर है । तू इसकी भली-भाँति पहचान कर ले । नदी मे आई हुई वाढ जिस

प्रकार जल्दी ही समाप्त हो जाती है, वैसे ही आई हुई सपत्ति पुन चली जाती है ।

इस प्रकार इस जगत मे रहे हुए प्रत्येक पदार्थ से प्राप्त होने वाला सुख क्षणभगुर और सारहीन है । सार है तो केवल सुकृत करने मे ही, क्योकि उससे प्राप्त होने वाला पुण्य समाप्त नही होता तथा आत्मा के साथ चलता है ।

कुछ नहीं मांगना है

कपिल मुनि पूर्वावस्था मे ब्राह्मण थे और स्थानीय राजा से दो मासे स्वर्ण को प्रात काल होते ही लेने के लिए रात को ही घर से निकल पडे । नगर मे गश्त लगाने वाले सिपाहियो ने उन्हे चोर समझ कर पकड लिया तथा रात भर कैद मे रखकर सुवह राजा के सामने उपस्थित किया ।

राजा ने कपिल की सारी वात सुनी और 'उसकी दरिद्रावस्था पर दया करके जो भी इच्छा हो माँगने के लिए कह दिया । तथा इस वात पर सोचने के लिए अपनी वाटिका मे भेज दिया । कपिल ने सोचना शुरु किया और दो मासे स्वर्ण से वढते-वढते एक करोड स्वर्णमुद्राओ को लेने का विचार करने लगा ।

किन्तु इसी क्षण उसकी वुद्धि ने पलटा खाया और वह सोचने लगा—'वाहरी तृष्णा, इसकी तो तृप्ति होती ही नही, ऐसा लगता है कि —

कसिणपि जो इम लोयं, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से ण सतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र ८-१६

अर्थात् धन धान्य से भरा हुआ सम्पूर्ण लोक भी यदि कोई किसी को दे देवे, इससे भी लोभी जीव को सतोप नही हो सकता । आत्मा की तृप्ति होनी अत्यन्त कठिन है ।

ऐसा विचार आते ही उन्हे अपनी भूल मालूम हो गई कि दो मासे स्वर्ण के कारण तो मैं रात भर सिपाहियो की पकड मे रहा और अगर एक करोड मुहरे माँग लूंगा तो उनके कारण भविष्य मे मेरी न जाने क्या गति होगी ? ऐसे शुभ विचारो के आते ही उन्हे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने उसी समय अपने केशो का लुचन कर साधुवृत्ति को धारण कर लिया । शासन

देवता-प्रदत्त मुनिवेश धारण करके जब वे दरबार मे पहुँचे तो राजा ने चकित होकर पूछा—"क्या तुमने अभी तक माँगने के विषय मे कुछ निश्चित नही किया ?"

कपिल मुनि ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—

राजन् ! जहाँ लाभ है वहाँ लोभ भी है। मेरी तृष्णा दो मासे स्वर्ण से बढते-बढते एक करोड स्वर्णमुद्राओ तक पहुँच गई थी। पर शुक्र है कि तृष्णा की विचित्रता ने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मुझे न लाख की आवश्यकता है और न करोड की। आवश्यकता केवल उस क्रिया के खोज की है, जिसके करने से मैं दुर्गति में न जाऊँ।"

कपिल मुनि का कथन था —

अधुवे असासयम्मि, ससारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज त कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्ज।

—उत्तराध्ययन सूत्र ८-१

इस अध्रुव, अशाश्वत और दु खमय ससार मे ऐसा कौन सा कर्म है ? कौन सा क्रियानुष्ठान है, जिसे अपनाकर मैं दुर्गति मे जाने से बच सकूँ ?

वस्तुत इस ससार मे कुछ भी शाश्वत रहने वाला नही है। यह शरीर जिसमे एक काँटा भी चुभ जाय तो हम सहन नही कर पाते, बाल्यावस्था मे कितना कोमल और कमनीय होता है, युवावस्था मे महान शक्तिशाली और तेजस्वी के रूप मे आता है तथा जब वृद्धावस्था आती है, अपने समस्त सौन्दर्य, शक्ति एव ओज को खोकर जर्जर, शक्तिहीन तथा पराधीन बन जाता है। और उसके पश्चात् आप जानते ही हैं कि किसी भी समय चैतन्यता रहित होकर चिता मे भस्म हो जाता है तथा हड्डियाँ यत्र-तत्र पडी रहती हैं।

किसी ने बडी सरल और सीधी भाषा मे कहा भी है —

कहाँ जन्मा, कहाँ उपना, कहाँ लडाया लाड ?
क्या जाने किस खाड मे, पडा रहेगा हाड ?

साहित्यिक दृष्टि से पद्य मे कोई विशेषता या आकर्षण नही है किन्तु भाव कितना मर्मस्पर्शी है ? मनुष्य की जीवन-यात्रा कितनी अजीबो गरीब स्थिति मे से होकर गुजरती है और समाप्त होती है यही इसमे बताया गया है। कहा है—बालक कहाँ जन्म लेता और कहाँ उसका पालनपोषण होता है। जो भाग्यवान होते हैं उनके मस्तक पर माता-पिता की छाया रहती है और जिनके अशुभ

कर्मों का उदय होता है वे कभी तो माता को ही खो देते हैं या दरिद्रावस्था मे भूखे पेट रहकर होश सम्हालते है। कोई अनाथालय मे शरण लेने को भी मजबूर हो जाते हैं। इस प्रकार कही जन्म लेते हैं और कही बडे होते हैं। कोई माता-पिता के असीम लाड-प्यार का अनुभव करते हैं और कोई जन-जन की झिडकियाँ खाकर अपमानित होते हुए बाल्यकाल व्यतीत करते हैं।

और इसके पश्चात् जब युवावस्था आती है तब श्रीमानो की सतान तो गुलछर्रे उडाकर अपने ऐश-आराम मे निमग्न रहकर कर्म-बधन करती है और दरिद्र की सतान भूखे पेट सुबह से शाम तक मजदूरी करके पेट भरती है। अनेक व्यक्ति देश-विदेशो की खाक छानकर भी परिवार का पालन-पोषण करते हैं। अभिप्राय यही है कि किसी का भी जीवन स्थिर और शातिपूर्ण नही होता।

वृद्धावस्था मे तो व्यक्ति स्वय ही निरुपाय होकर अपने शरीर के कष्टो को भुगतता है तथा परिवार के सदस्यो की उपेक्षा और भर्त्सना को विष के घूंट की तरह पीता हुआ मूक रुदन करता है। तत्पश्चात् जब किसी तरह नाना-प्रकार के कष्टो का अत मृत्यु के रूप मे हो जाता है तो उसकी हड्डियाँ भी न जाने कौन-कौन से गड्ढो मे पडी हुई किसी विगत जीवन का आभास मात्र देती हैं।

तो मनुष्य की जीवन यात्रा इसी प्रकार भिन्न-भिन्न और अजीब-अजीब परिस्थितियो मे से गुजरती है। कोई यहाँ धन के लिये रोता है, कोई स्वास्थ्य के लिये। कोई पुत्र न होने पर दुखी होता है और कोई पुत्र के कुपुत्र साबित होने पर परेशान होता है। किसी की पत्नी कर्कशा होती है तो किसी की अल्पकाल मे ही ससार से प्रयाण कर जाती है।

इस प्रकार यह ससार दुखो के समूह के अलावा और कुछ भी नही है। जैसा कि कहा जाता है —

"संसारो दु खानामेकमास्पदम्"

ससार ही दुखो का एकमात्र स्थान है। ससार मे दुख ही दुख है, सुख तो केवल काल्पनिक है।

इसीलिये एक उर्दू भाषा के कवि ने कहा है —

बेवफा है यह जमाना, दिल किसी से ना लगाना।
गर है तू कुछ सयाना, दिल किसी से ना लगाना॥

जमाना यानी ससार। यह ससार कैसा है? बेवफा! अर्थात् विश्वास

करने लायक नही है क्योकि क्षणिक है। जो क्षणिक हो उसका विश्वास क्या करना ? विश्वास करने से लाभ भी क्या है जबकि हर वह वस्तु, जिस पर मोह रखा जाय, नष्ट हो जाती है या उसका वियोग हो जाता है। अत तुझमे समझ-दारी है तो किसी के भी मोह मे मत फँस, किसी से भी दिल मत लगा।

आगे का पद्य है —

जिससे तू दिल लगाया, सदमे बहुत उठाया।
सोचा न कुछ तू जाना, अफसोस कहा न माना ॥

'ससार की वस्तुओ पर तूने आसक्ति रखी और सबधियो पर मोह रखा, उसका परिणाम क्या हुआ ? केवल यही तो कि अनेकानेक दुख उठाए और परेशानियो मे पडा रहा। तूने न तो स्वय ही कुछ सोचा-समझा और न ही सत-महात्माओ के कथन को माना। वे सदा अपने और अन्य प्राणियो के मन को चेतावनी देते हुए कहते रहे —

दु खाङ्गारकतीव्र ससारोऽयं महानसो गहन ।
विषयामृत लालस— मानस मार्जार ! मा निपत ।।

अर्थात्—'यह ससार दु खरूपी अगारो से धधकता हुआ एक विकट रसोई घर है। हे मन रूपी मार्जार ! तू विषय रूपी अमृत की लालसा मे फँसकर उसमे मत कूद पडना।'

महापुरुषो की यह चेतावनी यथार्थ है। ससार के प्राणी सुख प्राप्ति की अभिलाषा से प्रेरित होकर ऐसी प्रवृत्तियाँ करते है जो उनकी समस्त उच्च आकाक्षाओ पर पानी फेर देती है। वे यह नही समझ पाते कि सच्चे सुख का स्वरूप क्या है अपितु, क्षणिक और झूठे सुखाभास मे ही सुख की कल्पना कर लेते है। सच्चा सुख विषयो मे आश्रित नही होता, वह आत्माश्रित होता है। पर पदार्थो का सयोग अस्थायी होता है अत उनसे प्राप्त होने वाला सुख भी स्थायी और परिपूर्ण नही हो सकता। वास्तविक सुख तो वही है जो बिना किसी के सयोग से केवल अपनी आत्मा से ही प्राप्त होता है। किन्तु मनुष्य इस बात को नही मानता और परिणाम क्या होता है —

अक्ल को भी हटादो, खूबियाँ भी सब मिटादीं।
उस वक्त हुआ पछताना, अफसोस कहा न माना ।।
बेवफा है यह जमाना !

कवि कहता है—'अरे नादान ! तूने तो अपनी अक्ल का ही दिवाला

निकाल दिया । कम से कम महापुरुषो की शिक्षा को मानकर तो सही मार्ग अपनाता । सुवह का भूला शाम को घर आ जाय तव भी उसे भूला हुआ नही मानते ।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसा मूर्ख है

सम्राट चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनो ही बुद्धिमान थे और फिर चाणक्य की कूटनीति का तो पार ही नही था किन्तु भूल उनसे भी होगई कि उन्होंने 'नद' को जीतने के लिये सीधा ही पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर दिया । परिणाम-स्वरूप उन्हे मात खानी पडी और दोनो ही जगलो मे मारे-मारे फिरने लगे ।

भूख प्यास से व्याकुल वे सयोगवश जगल मे बनी हुई एक झोपडी पर जा पहुँचे । उसमे एक वृद्धा रहती थी । धन-पैसे की दृष्टि से वह दरिद्र थी किन्तु उसका हृदय अत्यन्त विशाल था और अतिथियो के प्रति आदर से भरा हुआ था ।

वुढिया ने ज्यो ही दो अतिथियो को द्वार पर देखा हर्ष से पागल होगई और उन्हे वडे सम्मान से अन्दर वुला लाई । ठडा जल पिलाया और वैठने के लिये टूटी खाट विछादी । वह नही जानती थी कि उसकी झोपडी मे स्वय राजा चन्द्रगुप्त और उनके वुद्धिमान मत्री चाणक्य आए हैं । वह तो उन्हे केवल अतिथि मानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा मे लग गई ।

सहजभाव से वृद्धा वोली—"वेटा ! तुम लोग वहुत ही थके हुए और परे-शान नजर आ रहे हो । तनिक विश्राम करो जव तक मैं खिचडी वनाती हूँ, उसे खाकर जल पीना ।"

सायकाल का समय था अत वृद्धा ने उसी झोपडी के एक कोने मे वने चूल्हे को जलाया और उस पर खिचडी वनने के लिये चढादी । कुछ ही देर वाद उसका लडका खेत से लौटा और अपनी माँ से वोला—"जल्दी से कुछ खाने को दे ! वड़ी भूख लगी है ।"

माँ और तो क्या परोसती, खिचडी करीव-करीव तैयार हो गई थी अत उसने जल्दी से वही एक थाली मे परोस दी और थाली भूखे पुत्र के सामने सरका दी ।

पुत्र ने आव देखा न ताव, एकदम गरम खिचडी मे अपना हाथ डाल दिया और तुरन्त ही जोर से चीख उठा ।

"अरे क्या हुआ ?" वुढिया ने घवराकर वेटे से पूछा ।

"हाथ जल गया माँ ! खिचड़ी वहुत गरम है।" जलन से व्याकुल होता हुआ लडका वोला।

पुत्र के दुख से दुखी होकर माँ भर्त्सना के स्वर मे वोली—"अरे अभागे ! क्या तू भी चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसा ही वेवकूफ है ?"

चन्द्रगुप्त और चाणक्य दूर कहाँ थे वही तो खाट पर बैठे थे। वृद्धा की वात सुनकर उनके कान खडे हो गए और तुरन्त ही उन्होने पूछ लिया—"माताजी ! चन्द्रगुप्त और चाणक्य मूर्ख कैसे हैं ? क्या मूर्खता की है उन्होंने ? और फिर उनका उदाहरण आपने अपने पुत्र पर कैसे घटित किया ?"

वुढिया मुस्कराती हुई वोली—"देखो वेटा ! चन्द्रगुप्त राजा है और चाणक्य उनका वुद्धिमान मत्री। वे लोग नद-वश का नाश करना चाहते हैं पर उनको इतनी अकल नही है कि पहले आस-पास के छोटे-मोटे राजाओ को जीतकर तव राजधानी पर हमला करते। इससे जीते हुए राजाओ का भी उन्हे सहयोग मिल जाता। पर उन मूर्खों ने सीधे ही बीच मे जाकर राजधानी पाटलीपुत्र पर चढाई करदी और इसीलिये अकेले और सहायक हीन होने के कारण हार गए।"

"इसी प्रकार मेरे इस लडके ने भी किया कि गरम खिचडी मे वीच मे ही सीधा हाथ डाल दिया। इसे चाहिये था कि पहले आस-पास अर्थात् किनारे-किनारे की लेकर ठडी करता हुआ खाता। क्यो ठीक कहा है न मैंने ?"

वास्तव मे ही चन्द्रगुप्त और चाणक्य की आँखें वृद्धा की वात से खुल गई। उन्होने वृद्धा की वात को शिक्षा मानकर तथा अपनी वुद्धि का भी उपयोग करके नदवश का नाश किया। तभी कहा जाता है —

वुद्धेर्बुद्धिमतां लोके नास्त्यगम्य हि किंचन।
वुद्ध्या यतो हता नन्दाश्चाणक्येनासिपाणय ॥

वुद्धिमानो की वुद्धि के सम्मुख ससार मे कुछ भी असाध्य नही है। वुद्धि से ही शस्त्रहीन चाणक्य ने सशस्त्र नदवश का नाश कर दिया।

इस उदाहरण मे यही अभिप्राय है कि प्रथम तो मनुष्य अपनी वुद्धि से काम करे और अगर किसी कारण से उसमे सफल न हो पाए तो अन्य वुद्धिमान व्यक्तियो की सहायता से कार्य सम्पन्न करे। जो व्यक्ति ऐसा नही करता वह अपने उद्देश्य मे सफल नही हो पाता। उर्दू भाषा के कवि ने मानव की इसी-

लिये भर्त्सना की है कि तूने अपनी अक्ल को तो गँवा ही दिया और दूसरे से भी शिक्षा ग्रहण नही की। परिणाम यह हुआ अपनी सव विशेषताओ को खो वैठा।"

आत्मा मे असख्य शक्ति और सद्गुण छिपे हुए है। अधिक क्या कहा जाय तीर्थंकरो और सर्वज्ञो की आत्मा मे जितनी शक्तियाँ और विशेषताएँ थी उतनी ही आज हमारी आत्मा मे हैं, रच मात्र भी न्यूनता नही है। कमी केवल उन्हे पहचानने की और उनका उपयोग करने की है। पर मानव यही नही कर पाता है तथा उसके कारण वाद मे पश्चात्ताप करता है। ऐसा पश्चात्ताप करने वाले के साथ किस की सहानुभूति हो सकती है ? लोग यही कहते हैं —

करता था तो क्यो किया, अब करि क्यो पछताय।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय ?

तो वधुओ, मानव इस ससार के प्रलोभनो मे फसकर अपने-आपको भूल जाता है और सव कार्य उलटे ही करने लगता है। अर्थात् पर पदार्थ जो कि नष्ट होने वाले हैं उनकी प्राप्ति और योग मे लगा रहता है, किन्तु आत्मिक गुण जो शाश्वत सुख प्रदान करने वाले है उनकी उपेक्षा करता हुआ कर्म-बधन बाँधता चला जाता है।

वह भूल जाता है कि यह ससार अर्थात् इसमे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली समस्त वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं। सस्कृत मे कहा भी है —

यद् दृष्टं तन्नष्टम्।'

आँखो से देखी जाने वाली सव वस्तुएँ नाशवान हैं।

अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार स्वप्न आता है और वह तुरत नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह ससार भी है। कविकुल भूषण तिलोक ऋषिजी म. का एक सारगर्भित पद्य भी इसी आशय को स्पष्ट करता है —

यह संसार स्वपन सो है जन,
जैसो है विजली रो झबकारो।
जीरण पत्र कान गज को पुनि,
वादल छाया सध्या रो उजारो॥

इन्द्र धनुष्य ध्वजा सम चचल,
अबु की लहर प्रपोट विचारो ।
कहत तिलोक यो रीत खलक की,
धार सुपथ के आतम तारो ।।

पद्य की भापा अत्यन्त सरल और सीधी है किन्तु अन्त करण को भिगो देती है । वास्तव मे जो महापुरुष होते हैं वे अपने काव्य या कविता को विद्वत्ता की दृष्टि से नही लिखते । वे यह नही चाहते कि लोग उनके शब्दाडबरो की सराहना करे और ऊँचे-ऊँचे शब्दो तथा अलकारो को देखकर उनके पाडित्य की प्रशसा करें । वे केवल यह चाहते हैं कि व्यक्ति उनके भाव को समझें तथा भापा की गहनता मे न फँसकर कही हुई बातो को हृदयगम करें ।

इसलिये कविता मे कहा है—हे भव्य जीवो ! यह ससार स्वप्न के समान है । जिस प्रकार बिजली क्षणभर के लिये चमककर पुन लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार ससार की समस्त वस्तुएँ और शरीर भी अल्पकाल मे ही नष्ट हो जाते है । एक हमारी आँखो देखी सत्य घटना है—

जब हम रोपड (पजाब) मे थे । एक श्रावक अच्छा-भला अर्थात् बिल्कुल स्वस्थ था, व्याख्यान सुनने के लिए आया । उसने सामायिक नही ली और माला फेरने लगा । उसी समय उसकी तबियत खराब हो गई । लोगो ने हमसे यह बताया तो हमने स्थानक मे प० श्री ज्ञानमुनि जी महाराज के साथ जाकर उसे मागलिक मन्त्र-श्रवण कराया । पर देखते-देखते ही उसी समय उसके प्राण पखेरू देह छोडकर चल दिये ।

इसीलिए कवि ने जीवन को बिजली की आभा के समान माना है । आगे कहा है—पेड पर जब नवीन पत्ते आते है, कितने कोमल और कमनीय लगते है किन्तु अल्पकाल मे ही वे जीर्ण और पीले पड जाते हैं फिर अधिक समय नही टिकते । अगला उदाहरण ससार के अस्थायीपन का दिया है कि हाथी के कान सदा चचल अर्थात् हिलते-डुलते रहते हैं, तथा सूर्य के ऊपर बादलो की आई हुई छाया भी अधिक देर नही रह पाती, इसी प्रकार ससार की स्थिति है जो स्थायी नही रहती । इसी के लिए सध्या के उजेले, इन्द्र धनुष और पानी की लहर का भी दृष्टान्त दिया है तथा कहा है कि यह ससार पानी के बुलबुले के समान है ।

इन सभी उदाहरणो से आशय यही है कि ससार क्षणिक है, अशाश्वत और अस्थिर है। अत इसके प्रति मोह-माया रखना नासमझी है। सासारिक पदार्थों का कितना भी भोग किया जाय उससे तृप्ति नही होती। अपितु लाल-साएँ वढती ही जाती है। इसीलिये महापुरुप इन्हे समाप्त करने के प्रयत्न मे रहते हैं।

एक उर्दू कवि ने भी तग होकर कहा है—

भरे हुए हैं हजारो अरमाँ,
फिर उसपै है हसरतो की हसरत
कहाँ निकल जाऊँ या इलाही,
मैं दिल की वसअत से तग होकर।

—दाग

क्या कहा है शायर ने ? वह कहता है—इस दिल मे हजारो अरमान भरे हुए हैं और उनके पूरे होते जाने पर भी जो पूरे नही हो रहे हैं उनके लिए हसरत वनी रहती है अर्थात् खेद होता रहता है। दिल की इस हालत से परे-शान हुआ मैं, हे भगवान् ! कहाँ-कहाँ भाग जाऊँ ?

जो भव्य प्राणी होते हैं उन्हे इस ससार मे इसी प्रकार छटपटाहट होती है और जव वे ससार को असार समझ लेते है तभी उससे आसक्ति हटाकर ज्ञानाराधन मे जुटते है। ज्ञान प्राप्त करना आत्मसाधना का पहला कदम है। ज्ञान के अभाव मे आत्मा के हित के लिए की गई कोई भी क्रिया सफल नही हो पाती। क्योकि ज्ञान ऐसा आत्मिक प्रकाश है, जिसके कारण अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार नही टिकता तथा प्राणि को सच्ची वस्तु-स्थिति की जानकारी होती है।

हमारा आज का विपय इसी वात को लेकर है कि ससार को असार समझे तो ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। हमे इसका शाब्दिक अर्थ ही नही लेना है कि ससार को असार कह दिया तो ज्ञान हासिल हो जाएगा। नही, इसका भावार्थ यह है कि ससार को जव हम असार समझ लेंगे तो हमारी प्रवृत्तियाँ इसकी ओर से हटकर आत्म-उत्थान की ओर मुड जाएँगी। अर्थात् हमारा ध्यान पर से हटकर 'स्व' की ओर चला जाएगा तथा 'स्व' की शक्ति और असाधारण गुणो को समझने के लिये हम ज्ञान प्राप्त करने की लालसा वढाएँगे।

आत्म-चितन

बधुओ, आपकी समझ मे आ गया होगा कि ससार को असार समझ लेने पर हमारी दृष्टि वाह्य-पदार्थों से हटकर अन्तर की ओर उन्मुख हो सकती है। पर हमे अब यह देखना है कि आत्माभिमुख होकर हमे किस प्रकार का चिन्तन करना है तथा उसे किस प्रकार अपने आचरण मे उतारना है ?

पूर्ण एकान्त और शात वातावरण मे बैठकर सर्वप्रथम हमे यही सोचना चाहिए कि यह देह क्षणभगुर है, प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। बाल्या-वस्था के पश्चात् युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था आती है। हमारे न चाहने पर भी ये अवस्थाएँ शरीर मे स्वय ही स्थान लेती रहती हैं। शैशवा-वस्था मे शिशु की शारीरिक शक्ति अत्यल्प होती है किन्तु ज्यो-ज्यो वह कुमारावस्था और युवावस्था की ओर वढता है, उसकी शक्ति ऊपाकाल के सूर्य के समान वढती जाती है। और जिस प्रकार सूर्य का तेज मध्यान्ह काल तक क्रमश वढता हुआ प्रखरतम हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य की शक्ति, उसका शारीरिक सौन्दर्य और तेज अपनी चरम सीमा या पूर्णता को प्राप्त होता है।

किन्तु मध्याह्न काल के पश्चात् ही सूर्य का तेज जिस प्रकार क्षीण होता चला जाता है और सायकाल तक वह अस्त हो जाता है, उसी प्रकार युवावस्था के पश्चात् शरीर की शक्ति, काति और तेज भी क्रमश घटता जाता है और एक दिन पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

दिवस के प्रारम्भ और अन्त का यह क्रम जिस प्रकार अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर के जन्म और मरण का क्रम भी सदा से चलता आया है। इस क्रम को ससार का कोई भी महापुरुप, महाराजा चक्रवर्ती या तीर्थंकर भग नही कर सका, सभी को इसी क्रम से यह ससार छोडना पडा है।

किन्तु जिन महामानवो ने यह समझ लिया कि—

"शरीरमाद्य खलु धर्म साधनम् ।"

सभी धर्म कर्मो के लिए शरीर ही सबसे पहला साधन है।

ऐसा समझ लेने वाले अपने शरीर का लाभ उठाकर निश्शक मृत्यु का आलिगन करते हैं, पर जो मोह-माया मे फँसे रह जाते हैं वे अन्त समय के

निकट आते जाने पर पश्चात्ताप करते हुए चेतने का प्रयत्न करते हैं किन्तु शरीर के अशक्त हो जाने से तथा इन्द्रियो के क्षीण हो जाने के कारण अपने उद्देश्य मे सफल नही हो पाते। वे सोचते ही रहते हैं —

मन के मन ही माँहि मनोरथ वृद्ध भये सव,
निज अगन मे नाश भयो वह यौवन हू अव।
विद्या ह्वै गई वाँझ, वूझवारे नहि दीखत,
दौरो आवत काल, कोप कर दसनन पीसत।
कवहूँ नहि पूजे प्रीति सो चक्रपाणि प्रभु के चरण।
भव-वँधन काटे कौन अव ? अजहुँ गहू रे हरि शरण।

किन्तु ऐसा सोचने से फिर क्या लाभ होता है जव समय निकल चुकता है। समय रहते तो वह मोह के प्रवल उदय से नेत्रवान होते हुए भी अन्धा वना रहता है, कान होते हुए भी वहरा और चेतन होते हुए भी जड के समान निष्क्रिय रहता है। दिन-रात भोग-विलास मे रत रहता है तथा उसके लिए नाना प्रकार के साधन जुटाने मे न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य तथा औचित्य-अनौचित्य का भी ध्यान नही रखता।

औरो के प्रति विश्वासघात करके अर्थ का उपार्जन करता है, असत्य भाषण, छलकपट, चोरी और हिंसा करके ऐश्वर्य की वृद्धि करता है। केवल एक कार्य वह नही करता, और वह है धर्माराधन। उसको अपनी वृद्धावस्था मे करने के लिए रख छोडता है। सोचता है जव वुढापा आ जाएगा तव धर्मा-चरण कर लेंगे। इतना ही नही, वह तो यहाँ तक विचार करता है कि यदि इस जीवन का अन्त अचानक आ गया तव भी क्या ानि है ? आत्मा तो नष्ट होने वाली नही है। यह अजर-अमर और अविनाशी है अत जव पुनर्जन्म होगा तव भी धर्म का साधन कर लेंगे।

ऐसे मूढ व्यक्तियो के लिए क्या कहा जाय ? जो अपनी आत्मा को ही इस प्रकार धोखा देते है उन्हे समझाना वडा कठिन कार्य है। भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट कहा है —

दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिण।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
समयं गोयम ! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-४

अर्थात्—हे गौतम ! सब प्राणियो के लिए मनुष्यभव चिरकाल तक भी दुर्लभ है। दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है। क्यो कि कर्मों के फल वडे गाढे होते है, अत समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिए ही नही थी अपितु मनुष्य मात्र के लिए है। अगर हम गभीरता पूर्वक विचार करें तो सहज ही सोच सकते हैं कि आगामी भव मे मनुष्य जन्म उन व्यक्तियो का हो भी कैसे सकता है, जो लोग इस जीवन को विषय-भोगो का उपभोग करने मे तथा नाना प्रकार के पापो द्वारा अर्थ-सचय करने मे ही व्यतीत करते हैं। उनकी तो वही दशा होगी जो एक कवि ने वडे कठोर शब्दो मे वताई है। कहा है —

योही जन्म खोयो, माया वाद मे विगोयो—
कवहूँ न सुख सोयो भयो विष ही को वाट को।
दया धर्म कीनो नाही, हरि रग भीनो नाही,
साधन को चीन्यो नाही करी पुण्य पाप को।
लोक मे न यश परलोक ते न वश शुक,
तन उर धार्यो न खवैया वन्यो काट को।
कहत गुपाल नर देह को जनम पाय,
धोवी को सो कुत्तो भयो घर को न घाट को।

तो ऐसा व्यक्ति जो अपने सम्पूर्ण जीवन को मोह-माया मे फँसाकर खो देता है तथा सासारिक पदार्थों मे आसक्त रहकर उनके लिए हाय-हाय करते हुए विता देता है। कभी भी सुख से सो नही पाता, वह धर्माराधन मे वचित रह जाता है। ऐसा व्यक्ति जो आत्म-मुक्ति के साधनो को नही पहचान पाता और पुण्य-पाप के भेद को नही जानता वह न इस लोक मे यश का भागी वनता है और न ही आगामी भव मे देवगति या मनुष्य गति ही प्राप्त कर पाता है। इसीलिए कवि कहता है कि वह धोवी के कुत्ते के समान न इधर का रहता है और न उधर का ही। उसके इहलोक-परलोक दोनो ही विगडते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति सहज नही है उसके साधनो को आत्मा केवल मनुष्य योनि मे ही कर सकती है क्योकि अन्य योनियो मे वुद्धि की मात्रा अत्यल्प होती है। अत जो आत्मा मानव-जन्म मे मोक्ष की साधना नही कर पाती, जन्म और मरण के फदे मे वचने के लिये प्रयत्न नही करती, वह पतित होकर निकृष्ट

योनियो मे पुन-पुन जन्म लेती रहती है। अत इस जन्म मे क्षणिक सुख भोग कर अगले जन्म मे पुण्य की कमाई कर लेने का विचार महामूर्खता से भरा हुआ कहा जा सकता है।

सफलता कैसे मिले ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कुछ व्यक्ति जीवन की सफलता के विषय मे विचार करते हैं तो अपनी सीमित दृष्टि के कारण इहलौकिक सफलता प्राप्त कर लेने को ही जीवन का सफल होना मान लेते हैं। अर्थात् धन, यश, परिवार की वृद्धि अथवा प्रचुर भोगोपभोग भोगना ही उनके जीवन का लक्ष्य या जीवन की सफलता का प्रमाण होता है। किन्तु ऐसा दृष्टिकोण सर्वथा गलत है। क्योकि इन दृश्यमान पदार्थों की प्राप्ति शीघ्र ही वियोग मे बदल जाती है। या तो जीवनकाल मे ही इनका वियोग हो जाता है अथवा जीवन समाप्त होते ही सब यही रह जाता है।

इसलिए भव्य प्राणियो! हमे जीवन की सफलता आत्मा के शाश्वत कल्याण की दृष्टि से माननी चाहिए अगर इस जीवन के द्वारा हम आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जा सकें तो ही समझना चाहिए कि हमारा जीवन अशत सफल हुआ है।

इसके लिए सर्वप्रथम तो हमे प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि आत्मा अमर है किन्तु यह जीवन अमर नही है। किसी भी दिन और किसी भी क्षण यह नष्ट हो सकता है। हमे अपने मन को सदा यह चेतावनी देनी चाहिए —

ऐरे चित्त कर कृपा, त्याग तू अपनी चालहि।
सिर पर नाचत खडा जान तू ऐसे कालहि॥
ये इन्द्रियगन निठुर, यान मत इनको कहिवौ।
शात भाव कर ग्रहन सीख कठिनाई सहिवौ॥
निजमति तरग सम चपल तजि नाशवान जग जानिये।
जाने करहु तासु इच्छा कछुक शिव-स्वरूप उर आनिये॥

चित्त से कहा है—अरे मन! अव तो तू अपनी कुचाल छोड और यह समझ कि मेरे सिर पर काल खडा नर्तन कर रहा है। देख, ये इन्द्रियां अत्यन्त निष्ठुर हैं अत इनका कहना मानकर पापो का वँध मत कर! तू मम-भाव

धारण कर और परीषहो को जीतने की आदत डाल। मन की इच्छाओ को तरगो के समान चपल मानकर उनके वश मे मत हो तथा कुछ समय ईश-चिन्तन मे लगा।

वस्तुत किसी व्यक्ति के पास अपार वैभव है, लोग वडा आदमी मानकर उसका सम्मान करते हैं, वडे परिवार का वह स्वामी है, तथा सदा ऐश्वर्य मे खेलता है, किन्तु अगर उसे अपने जीवन को सफल वनाने का ध्यान नही है और आत्म-कल्याण के उद्देश्य को लेकर वह साधना नही करता है तो उसका समस्त वैभव व्यर्थ है। धर्म-साधना के अभाव मे उसकी भोग लिप्सा उसे ले डूवने वाली है। जिन इन्द्रिय सुखो और विषय-वासनाओ की पूर्ति के लिए मनुष्य अपने अमूल जन्म को व्यर्थ खोकर भी सफल मानता है, उनके विषय मे भगवान् महावीर क्या कहते हैं ?

खणमित्त सोक्खा बहु कालदुक्खा,
पगामदुक्खा, अणिगामसुक्खा।
संसार मोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-१३

अर्थात्—यह काम भोग क्षणभर सुख देने वाले है और चिरकाल तक दुख देने वाले है। उनमे सुख थोडा है और दुख वहुत अधिक है। काम भोग जन्म-मरण से छुटकारा पाने के विरोधी है, मोक्ष सुख के परम शत्रु हैं तथा अनर्थो की खान हैं।

इन भोगो को भोगते रहने पर भी कभी तृप्ति नही होती। एक शायर ने भी कहा है —

हजारो ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पै दम निकले।
वहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले॥

सुप्रसिद्ध शायर 'गालिव' का यह कथन है कि हृदय मे हजारो तमन्नाएँ हमेशा वनी रहती है और उनके पूरी होते जाने पर भी इतनी अधिक वची रहती हैं कि हर समय उन्हे पूरी करने की इच्छा वनी ही रहती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि विषय योग अतृप्तिकारक हैं। उनका जितना भी सेवन किया जाय उतनी ही व्याकुलता अधिक वढती है। इसलिये

भव्य प्राणी इनसे विमुख हो जाते है तथा अपने हृदय मे से विपय लालसा की जड को ही उखाड फेंकते हैं। परिणाम यह होता है कि वे निराकुल होकर धर्माराधन करते हैं तथा साधना के पथ पर अग्रसर होते चले जाते है। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि सच्चा सुख वाहर नही है, अदर ही है। एक कवि ने वडी सुन्दर वात कही है —

वह पहलू मे वैठे हैं और वदगुमानी,
लिये फिरती मुझको कहीं का कहीं है।

शायर का कहना है—खुदा तो मेरे दिल के अन्दर ही छिपा वैठा है पर मेरी नासमझी उसे पाने के लिये न जाने कहाँ-कहाँ भटकाती है।

वात एक ही है। आत्मा ही अपने शुद्ध स्वरूप मे परमात्मा है तथा आत्मा मे ही अनत सुख और अनत शाति विद्यमान है। इसलिये वाहर परमात्मा की तथा सच्चे सुख की खोज करना वृथा है। सच्चा सुख तभी प्राप्त हो सकेगा जव हम ससार के सभी पदार्थों को क्षणभगुर मानकर आत्मा मे रमण करेंगे।

और ऐसा तभी होगा जवकि हम ससार को असार समझ लेंगे। हमारी यह दृष्टि ही सम्यक्ज्ञान का मुख्य लक्षण सावित हो सकेगी। दूसरे शब्दो मे समार को असार समझ लेने पर ही हमारी वुद्धि सच्चे ज्ञान से मेल खाएगी और हमारे कदम साधना के राजमार्ग पर अडिग रूप से वढ सकेंगे। ●

१०
स्वाध्याय : परम तप

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवे अध्याय की पच्चीसवी गाथा मे भगवान ने फरमाया है—क्रियारुचि किसे कहना ? क्रियारुचि का स्वरूप क्या है ? इसी सदर्भ मे आगे वताया है—दर्शन और ज्ञान के विपय मे अभिरुचि रखना क्रियारुचि है किन्तु दर्शन और ज्ञान मे रुचि रखना ही क्रियारुचि की पूर्णता नही है, उसके साथ चारित्र का भी सवध है। चारित्र मूल वस्तु है और जो अपने चारित्र को उच्च तथा पवित्र रख सकता है, वही दर्शन और ज्ञान का पूर्णतया लाभ उठाता हुआ अपनी आत्मा का उद्धार कर सकता है। और इसके विपरीत जो चारित्रिक दृढता नही रख पाता, उससे विचलित हो जाता है, वह दर्शन एव ज्ञान के होते हुए भी अपने उच्च ध्येय मे सफल नही हो सकता। कहा भी है —

"यथा खरो चंदनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चदनस्य ॥"

जैसे चदन का वोझा लादने वाला गधा केवल वोझे का ही अनुभव करता है, चदन की सुगध से कुछ भी सम्वन्ध नही रखता, वैसे ही चारित्रहीन व्यक्ति मात्र ज्ञान का वोझा ढोने वाला ही कहा जाता है उसे अपने ज्ञान से तनिक भी लाभ हासिल नही होता।

इसी वात को दूसरे शब्दो मे भी समझाया जा सकता है कि—ज्ञान की गति क्रिया है और —

"गति विना पयज्ञोऽपि नाप्नोति पुरमीप्सितम् ।"

मार्ग का ज्ञाता होने पर भी व्यक्ति अगर गति न करे अर्थात् चले नही तो अपने अभीष्ट नगर मे नही पहुँच सकता। इसी प्रकार अपार ज्ञान हासिल कर

लेने पर भी साधक अपने साधना-पथ पर क्रिया-रूप गति न करे तो शिवपुर कैसे पहुँच सकता है ?

इस प्रकार ज्ञान के साथ क्रिया आवश्यक है और क्रिया के साथ ज्ञान। क्योंकि व्यक्ति के पैरो मे गति हो, वह खूब इधर-उधर चलता फिरता हो, किन्तु अपने निर्दिष्ट मार्ग का उसे ज्ञान न हो तो भी वह कोल्हू के बैल के समान या तो गति कर करके भी वही रहेगा अथवा इधर-उधर भटक जाएगा। इसलिये ज्ञान का होना भी अनिवार्य है और हम इसी उद्देश्य को लेकर ज्ञान-प्राप्ति के कारणो का विवेचन कर रहे हैं। ज्ञानप्राप्ति के ग्यारह कारण हैं, जिनमे से आठ कारणो को हम भली-भाँति समझा चुके हैं और आज नवें कारण के विषय मे कहना है। ज्ञान-प्राप्ति का नवाँ कारण है—सीखे हुए ज्ञान पर पुन पुन विचार करना। जो ज्ञान हासिल किया जाय उसका बार-बार चिंतन करने पर ही वह वृद्धि को प्राप्त होता है।

वहीखाता पलटते रहो

आप लोगो को आपके बुजुर्ग शिक्षा देते है—"सदा वहीखाते के पन्ने उलटते रहो!" वे कहते है—"वहियाँरा पन्ना उलटे तो सवा तोलो सोनो लादे।"

यहाँ सोने से मतलव सोना ही नही है। क्योकि वहीखाते मे सोने की डलियाँ रखी हुई नही होती। उनका भाव यह होता है कि—वही के पन्ने उलटते रहने से ध्यान रहता है कि अमुक से हमे रकम लेनी है या अमुक मे रकम डूब रही है। कभी-कभी तो समय पर रकम न मांगी जाय तो मियाद समाप्त हो जाने से फिर मिलनी सभव नही होती। इसीलिये वहीखाते उलटने का आदेश आपको दिया जाता है कि आपको देने व लेने का बराबर ध्यान रहे।

शास्त्रो के अनुसार भी जो कर्ज लिया जाता है वह अवश्यमेव चुकाना पडता है। ऋण, वैर और हत्या इन तीनो का फल भुगते विना छुटकारा कदापि सभव नही है। अत इनसे बचने के लिये भी अपने प्रतिदिन के कार्य-कलाप और आचरण पर रात्रि को अवश्यमेव चिंतन करना चाहिये। उसे भी एक तरह से अपने व्यवहार का वहीखाता ही मानना चाहिये। अगर आप अपने प्रतिदिन के कार्यों का लेखा-जोखा रखेंगे तो आपको अपनी भूलो का तथा किये गए अनुचित कार्यों का पता चल जाएगा और उनके लिये पश्चात्ताप करते हुए आप भविष्य मे उनसे बचने का प्रयत्न करेंगे।

तो हमारा आज का विषय तो यह है कि सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करते रहें तो ज्ञान की वृद्धि होती है। शास्त्रो में बताया गया है कि गौतमस्वामी ने भगवान महावीर से अनेको प्रश्न पूछ-पूछकर अपने ज्ञान की वृद्धि की। प्रश्न भी थोडे नही, पढने मे आया है कि छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर भगवान और गौतम स्वामी के बीच हुए। जम्बू स्वामी भी सुधर्मा स्वामी के सन्मुख एक शास्त्र पूरा करते ही दूसरा पढने की आज्ञा अविलम्ब मांगते थे। यह सब ज्ञान-प्राप्ति और ज्ञान वृद्धि की जिज्ञासा के कारण ही सभव होता है। जिस व्यक्ति मे ज्ञान प्राप्त करने की प्रवल उत्कठा होती है, वह अपना अधिक से अधिक समय ज्ञानाराधन मे ही लगाता है। भले ही वह विपय उसका पढा हुआ ही क्यो न हो वह पुन-पुन उसका स्वाध्याय करके भी उतना ही प्रसन्न होता है।

सव जाणिया प्रवर्त्ते

अहमदनगर मे एक वडे अनुभवी, ज्ञानी एव धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाले श्रावक थे। उनका नाम किशनलालजी मुथा था। वहुत पहले मैंने भी उनसे कुछ शास्त्रो का पठन किया था।

जिन दिनो मैं उनसे शास्त्रीय अध्ययन करता था, वही पर एक विदुपी और साध्वी शिरोमणि स्थविरा महासती रामकुंवरजी भी विराज रही थी। पन्द्रह सोलह साध्वियो मे वह सवसे वडी थी, स्वय भी वहुत विदुपी थी। किन्तु जव भी मैं मुथाजी से शास्त्र पढता वे वयोवृद्धा सतीजी भी उसी शास्त्र की एक प्रति लेकर वैठ जाती तथा पढे जाने वाले विपय की पुनरावृत्ति किया करती थी।

तारीफ की वात तो यह है कि उनसे छोटी एक सती थी, जव उनसे कहा गया कि तुम भी शास्त्र को लेकर वैठो ताकि कुछ न कुछ लाभ हासिल हो सके तो वे वैठती तो क्या, बोली—"म्हारे तो सव जाणिया प्रवर्त्ते।" अर्थात्—'मुझे तो सवकी जानकारी है।'

सुनकर वडा आश्चर्य हुआ कि उनसे वडी, ऊँचे दर्जे की तथा विद्वान सती श्री रामकुंवरजी म० तो सव जानकारी होते हुए भी शास्त्र लेकर वैठ जाती और छोटी सती कहने लगी—'म्हारे तो सव जाणिया प्रवर्त्ते।' भले ही उन विपयो की उन्हे जानकारी होगी, किन्तु अगर वही विपय पुन. दुहरा लिया जाता तो क्या नुकसान था? और ज्ञान पक्का ही तो हो जाता।

मंदसौर मे एक गौतम जी वाघिया नाम के सुश्रावक थे। घर के सम्पन्न ही क्या लक्षाधीश थे किन्तु उनकी धर्म मे अटूट श्रद्धा थी। उन्हे भगवती सूत्र

सुनने का बडा शौक था। जो भी सत उनके यहाँ पधारते वे उनसे प्रार्थना करते—"भगवन्! भगवती सूत्र सुनाइये। न जाने जीवन मे 'कितनी वार उन्होंने भगवती सूत्र सुना और समझा होगा। क्या जरूरत थी उन्हे वार-बार उसे सुनने की? केवल इसीलिये तो सुनते थे कि उनका सीखा हुआ ज्ञान और की हुई जानकारी कही कम न हो जाय। वास्तव मे ही ज्ञान के सच्चे पिपासु जिनवाणी रूपी अमृत का पान करके कभी भी नही अघाते। वे जिनवाणी रूप शारदा से पुन पुन प्रार्थना करते हैं—

तेरी ही कृपा ते मति-तिमिर विनसि जाय,
तेरी ही कृपा ते ज्ञान-भानु को उजास होय।
तेरी ही कृपा ते दूर कुमति पलाय जाय,
तेरी ही कृपा ते हित सुमति प्रकाश होय।
तेरी ही कृपा ते गण दोष टलि जाय सव,
तेरी ही कृपा ते वर काव्य को अभ्यास होय।
तेरी ही कृपा ते विद्या बुद्धि वल वधे माय,
अमीरिख सकल सफल उर आस होय।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज की कितनी भाव-भरी प्रार्थना है? कहते है—"हे जिन वाणी माता! तू मुझ पर कृपा कर। क्योकि तेरी कृपा होने से ही वुद्धि पर छाया हुआ अन्धकार लुप्त हो सकता है तथा ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश आत्मा मे फैल सकता है।"

"तेरी कृपा से ही दुर्वुद्धि का पलायन हो सकता है तथा उसके स्थान पर सुवुद्धि अपने दिव्य आलोक सहित मेरे मन मे प्रवेश कर सकती है।"

"तेरी कृपा होने पर ही मेरे समस्त दोष नष्ट हो सकते हैं तथा मुझे सुन्दर एव आत्म-हितकारी काव्यो का अभ्यास हो सकता है।"

"अधिक क्या कहूँ? हे देवी! तेरी कृपा हो जाय तो मेरा विद्या और वुद्धि का वल वढ सकता है और मेरे हृदय की समस्त कामनाएँ फलीभूत हो सकती है।"

कवि ने आगे कहा है—जिन-जिन पर तेरी कृपा हुई है वे सभी इस ससार

सागर से पार हो गये हैं तथा अपने जीवन को सफल वना गए है ! मैं भी तुम्हारी कृपा का हृदय से अभिलाषी हूँ, क्योकि —

तेरी ही कृपा तें घने जडमति दक्ष वने,
तेरी ही कृपा ते शुभ जग जस छायो है।
तेरी ही कृपा ते श्रुतसागर को पावे पार,
तेरी ही कृपा ते गणराजा पद पायो है।
तेरी ही कृपा ते सव आगम सुगम होय,
आगम मे तेरो ही अखड वल गायो है।
सुमति वढाय दे हटाय दे अज्ञान तम,
अमीरिख जननी शरण तव आयो है।

कहते हैं—"मैंने सुना है, और पढा है कि तेरी कृपा से महामूर्ख भी पडित वन गए हैं और सम्पूर्ण जगत मे अपने यश का प्रसार कर गए हैं।"

"तेरी कृपा से ही अनेक जडमति श्रुत-सागर मे गोते लगाकर अपूर्व निधि प्राप्त कर चुके हैं और गणराज कहलाए हैं।"

"मैं और कुछ नही जानता पर इस वात पर अटूट विश्वास रखता हूँ कि अगर तेरी कृपा हो जाय तो समस्त आगम मेरे लिए अत्यन्त सुगम और दूसरे शब्दो मे कर ककणवत् हो सकते है क्योकि आगमो मे तेरी ही अद्वितीय शक्ति का वर्णन है।"

कहा भी है —

'सर्वस्य लोचन शास्त्रं यस्य नास्त्यध एव स ।'

शास्त्र सवके लिए नेत्र के समान हैं, जिसे शास्त्र का ज्ञान नही वह अन्धा है।

इसीलिए कवि ने अन्त मे कहा है—"हे जिनवाणी माता ! मैं और तो कुछ नही जानता, वस तेरी शरण मे आ गया हूँ। अन अव तू ही मेरे अन्त-र्मनिस मे से अज्ञानान्धकार को दूर कर तथा ज्ञान की ज्योति जलाकर इसमे सुमति की स्थापना कर !"

महातप स्वाध्याय

वन्धुओ, जिनवाणी अथवा आगम के वचन ही आत्मा का हित करने वाले हैं। आगमो का पुन पुन पठन या स्वाध्याय ज्ञान की अभिवृद्धि करता है तथा

दानादि अन्य समस्त शुभ क्रियाओ की अपेक्षा अनेक गुना अधिक फल प्रदान करता है। कहा भी है —

"कोटिदानादपि श्रेष्ठ स्वाध्यायस्य फल यत ।"

मनोयोग पूर्वक उत्तम ग्रन्थो का स्वाध्याय एव चिंतन-मनन करोडो की सम्पत्ति का दान करने की अपेक्षा भी अधिक उत्तम है।

वस्तुत स्वाध्याय अत्यन्त शुभ-भावनाओ के साथ मनोयोगपूर्वक किया जाना चाहिए। अन्यथा वह केवल तोता रटन्त भी कहलायेगा तथा आत्मा मे रचमात्र भी शुद्धता नही ला सकेगा। क्योकि—

"पठनं मननविहीनं पचनविहीनेन तुल्यमशनेन ।"

चिंतन और मनन रहित वाचन ऐसा ही है, जैसा कि पाचन क्रिया से रहित खाया हुआ भोजन।

मानव जो भी आहार करता है वह पच जाने पर ही ऐसा रस वनाता है जो कि शरीर को पुष्ट करे। पाचनशक्ति के अभाव मे उदरस्थ की हुई प्रत्येक वस्तु शरीर को लाभ के वदले हानि पहुँचाती है। इसी प्रकार पढा जाने वाला विपय आहार के समान है और उस पर चिंतन-मनन करना पाचन क्रिया कहला सकती है। इस क्रिया के अभाव मे पठित विषय सारहीन और निरर्थक सावित होता है। और समय की वर्वादी अथवा हानि ही पल्ले पडती है।

इसलिए स्वाध्याय करना जिस प्रकार आत्मा को खुराक देने के समान अनिवार्य है, उसी प्रकार उस पर चिंतन-मनन करना उस खुराक को पचाकर ऐसा रस वनाना है, जिससे आत्मा शुद्ध और दृढ वन सके।

स्वाध्याय मे वडी भारी शक्ति छिपी हुई है इसीलिए इसे महान तप माना गया है। आज हम देखते हैं, तप का अर्थ लोग केवल उपवास करने से ही लेते हैं और तप के नाम पर एक, दो, आठ, दस, महीने और उससे भी अधिक दिन लगातार उपवास करके अपने आपको तपस्वी मान लेते हैं। इसके अलावा अनेक साधु-महात्मा पचाग्नि तप करके अपने आपको घोर तपस्वी सावित करते हैं। किन्तु हमे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि केवल शरीर को भूखा रखकर या उसे अग्नि से तपाकर ही हम तप कर लेने के उद्देश्य को पूर्ण

नही मान सकते । यद्यपि इस प्रकार के तपो को भी मैं व्यर्थ नही कहता अगर समभाव तथा निरहकार होकर करने पर ये सभी अपना-अपना फल अवश्य प्रदान करते हैं तथा यह भी उत्तम है, किन्तु सबसे बडा तप और सर्वोत्तम फल देने वाला तप स्वाध्याय ही है ।

धर्मग्रन्थो का तथा आगमो का स्वाध्याय करने से बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा वस्तु तत्वो की जानकारी के साथ-साथ ससार की असारता और भोगो की अनिष्टता का मन को भान होता है । उसके परिणाम स्वरूप प्राणी ससार मे रहकर भी उससे अलिप्त रहता है तथा भोगो को भोगता हुआ भी उनमे अनासक्त भाव रखकर कर्म-बन्धनो से बचा रहता है । ऐसा जीव प्रतिक्षण सासारिक सुखो का त्याग करने अथवा मृत्यु का स्वागत करने के लिए तैयार रहता है । वह अपने मन को प्रतिपल यही उद्बोधन देता रहता है —

अति चचल ये भोग, जगतहू चचल तैसो ।
तू क्यो भटकत मूढ जीव ससारी जैसो ।।
आशा फाँसी काट चित्त तू निर्मल ह्वै रे ।
साधन साधि समाधि परम निज पद को ह्वै रे ।।
करिरे प्रपीत मेरे वचन टुरि रे तू इह ओर को ।
छिन यहै-यहै दिनहू भलो निज राखै कहु भोर को ।।

मन को कितनी सुन्दर चेतावनी दी गई है कि—"जैसा यह ससार चचल अथवा अस्थिर है, इसी प्रकार ससार के भोगोपभोग भी अस्थिर हैं अत मेरे मूढ मन, तू क्यो इन सब मे भूला हुआ भटक रहा है ? मेरी तो तुझे यही सीख है कि तू अभिलाषाओ के फदे से छूटकर अपने आपको निर्मल बना तथा समाधि भाव रखता हुआ आत्म-साधना करके अपने निज-स्वरूप को और दूसरे शब्दो मे परमात्म पद को प्राप्त कर ।"

पुन कहा है—"हे मन ! तू मेरे वचनो पर विश्वास कर कि यह ससार एक दिवस के समान है जो प्रतिपल अस्त होने की ओर बढता है । इसलिए तू इससे विमुख होगा ।"

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि जो भव्य प्राणी सदा स्वाध्याय करते हैं वे ससार की असारता को भली-भाँति समझ लेते है तथा अपने मन को

इसी प्रकार उद्बोधन देते हुए उसे विशुद्ध बनाये रखते हैं। और ऐसी आत्माएँ ही अन्त मे मुक्ति-लाभ करती हैं।

स्वाध्याय के प्रकार

अब हमे यह देखना है कि स्वाध्याय कौन सी क्रियाओ के करने से अपने सम्पूर्ण अर्थ को साबित करता है ? स्वाध्याय केवल ग्रन्थो के पुन-पुन पढ लेने मात्र को ही नही कहते हैं। उसके भी पाँच प्रकार या भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—वाचना, पृच्छना पर्यटना, अनुप्रेक्षा तथा धर्मकथा।

वायणा—वायना का अर्थ है—शास्त्र की वाचनी लेना या पाठ लेना। हम अपने आप कितना भी अध्ययन करें पर विषय को ज्ञानवानो के समझाए बिना कदापि उसे उसके सही रूप मे नही समझ सकते। इसलिए विनय पूर्वक गुरु से पाठ लेना चाहिए। वही वायणा अर्थात् वाचनी लेना कहा जाता है।

पृच्छना—यह स्वाध्याय का दूसरा भेद है। गुरु से पाठ ले भी लिया किन्तु कही पर कोई बात समझ मे नही आई और किसी प्रकार की शका रह गई तो पाठ लेने का कोई लाभ नही होगा, उलटे शका का शल्य चित्त को भ्रमित कर देगा या उसमे किसी प्रकार की अश्रद्धा का जन्म हो जाएगा। इसलिए लिए हुए पाठ मे कही भी कोई बात समझ मे आने से रह गई हो अथवा किसी प्रकार का सन्देह जागृत हुआ हो तो मन ही मन मे तर्क-वितर्क करने की अपेक्षा उसी समय अपने गुरु अथवा आचार्य से शका का समाधान कर लेना चाहिए तथा समझ से बाहर रही हुई बात को पुन पूछकर पक्की कर लेनी चाहिए। इसी को पृच्छना या पूछना कहते हैं।

पर्यटना—स्वाध्याय का तीसरा भेद पर्यटना है। पर्यटना का अर्थ है लिए हुए पाठ की बारम्बार पुनरावृत्ति करना। आज के युग मे हमारी बुद्धि ऐसी नही है कि किसी बात को हमने एक बार पढा या सुना तो वह याद हो गई और उसे फिर कभी भूलें ही नही।

आप महाजन हैं, महाजनो को सदा हिसाब-किताब रखना पडता है और बहीखातो मे रकमे जोडनी, घटानी व बढानी पडती हैं। इसके लिए आप बचपन मे कितने पहाडे, अद्धे पौने, सवाये, ड्यौढे और ढाये रटते हैं ? आपके माता-पिता आपके सीखे हुए अन्य विषयो पर अधिक ध्यान नही देते। किन्तु पहाडे और हिसाब-किताब मे तनिक भी गलतियाँ नही रहने देते। इसी प्रकार

अग्रेंजी पढते समय आपको एक-एक शब्द का मायना घन्टो याद करना पडता है। सस्कृत भाषा भी सरल नही है, जब तक शब्दो के रूप और धातुएँ आप खूब याद नही कर लेते हैं तब तक उसमे भी प्रगति नही हो सकती। इस प्रकार ये सासारिक लाभो को प्रदान करने वाली वस्तुएँ भी जब आप रटते हैं, बार-बार दोहराते है तो फिर मुक्ति प्रदान करने वाले आध्यात्मिक विषयो को समझाने वाले आगमो और शास्त्रो को बिना बार-बार दोहराये, बिना उन पर पुन-पुन चिन्तन मनन किये कैसे आत्मा को निर्मल बना सकते हैं ? उन्हे भी बार-बार दोहराना आवश्यक है और इसी को पर्यटना कहते है।

अनुप्रेक्षा—यह स्वाध्याय का चौथा अग है। बार-बार पर्यटना करके ज्ञान की जो बाते याद की जाती हैं उन पर गम्भीर विचार करना और उन पर नाना प्रकार से मनन करना अनुप्रेक्षा कहलाता है। बिना विचार किये और मनन किये केवल शब्दो और वाक्यो को याद कर लेना ही काफी नही होता, जब तक कि उन्हे भावनाओ मे रमा नही लिया जाय। जब आगमो की शिक्षाएँ हमारे विचारो मे, भावनाओ मे और हृदय मे रम जाती हैं तभी उनका सच्चा लाभ आचरण के द्वारा उठाया जाता है।

धर्मकथा—यह स्वाध्याय का पाँचवाँ और अन्तिम अग है। जब पूर्व के चारो अगो या सीढियो को व्यक्ति सफलता पूर्वक पार कर लेता है तब वह धर्म कथा करने लायक बन सकता है। धर्मकथा मे व्याख्यान, उपदेश या प्रवचन कुछ भी कहा जाय, सभी शामिल हो जाते हैं। किन्तु धर्मोपदेश देना सहज नही है, अत्यन्त कठिन कार्य है। उपदेश देने वाले के सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। प्रथम तो आध्यात्मिक विषयो को व्यवस्थित ढग से जनता के सामने रखना, उसे सरल से सरल ढग से समझाना, श्रोताओ के द्वारा पूछे गए प्रश्नो का उत्तर देना तथा विविध प्रकार की शकाओ का निवारण करना, यह सब धर्मकथा करने वाले के लिए आवश्यक है, दूसरे अपने विचारो को प्रभावोत्पादक रूप मे प्रगट करना उससे भी अधिक आवश्यक या अनिवार्य है। क्योकि अच्छी से अच्छी और सत्य बात को भी अगर लोगो के सामने उत्तम तरीके से न रखी जाय तो उसका उतना प्रभाव लोगो पर नही पडता जितना साधारण बात को भी प्रभावोत्पादक तरीके से रखी जाने पर पडता है। इसलिए धर्मकथा करने वाले को स्वाध्याय के पूर्व वर्णित चारो अगो मे पूर्ण परिपक्वता हासिल करके ही धर्मकथा पर आना चाहिए।

वैसे देखा जाय तो धर्मोपदेश करना स्वाध्याय के अन्य सभी अगो की अपेक्षा अनेक गुना अधिक महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है। क्योकि जहाँ स्वाध्याय के चार अगो से केवल अपना ही लाभ होता है, वहाँ धर्मोपदेश से असख्य अन्य व्यक्तियो को लाभ हो सकता है।

राजा परदेशी जिसके हाथ सदा खून से सने रहते थे, एक दिन के धर्मोपदेश सुनने से बदल गया, छ व्यक्तियो की हत्याएँ रोज करने वाला अर्जुनमाली धर्मोपदेश से ही हत्याएँ करना छोडकर मुनि हो गया और डाकू अगुलिमाल भगवान के उपदेश से अपनी आत्म-साधना की ओर बढ चला।

दोनों हाथ लड्डू

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्मकथा अथवा धर्मोपदेश का बडा भारी महत्व है और यह स्वाध्याय का सबसे महत्वपूर्ण अग और महातप है। कई व्यक्ति कह देते हैं—"महाराज! सैकडो हजारो व्यक्ति उपदेश सुनते हैं पर उसके अनुसार करते क्या हैं? बस आप बोलते रहते हैं और वे दस्तूर के समान सुनते है तथा समय होते घर के लिए रवाना हो जाते है।"

अब ऐसे व्यक्तियो को कैसे समझाया जाय? हम केवल यही कह सकते हैं—"अरे भाई! सौ व्यक्तियो मे से अगर दो व्यक्तियो ने भी जिन-वचनो को आत्म-सात् कर लिया तो कितनी अच्छी बात है। अट्ठानवें व्यक्तियो को जाने दो। जिनके पल्ले पडा वही बहुत है।

इसके अलावा अगर सब लोग भी नही समझते हैं तो भी धर्मोपदेश देने वाले को तो लाभ होगा ही। उनकी ज्ञान वृद्धि होगी और कल्याणकारी भावनाओ को दृढता प्राप्त हो सकेगी। साथ ही वह समय शुभक्रिया मे व्यतीत होगा। और क्या चाहिए? धर्मोपदेश से श्रोता और वक्ता दोनो को ही लाभ होता है हानि किसी की नही होती। श्रोता भी जिस समय को केवल बातो मे, अनीति युक्त व्यापारो मे अथवा अन्य इसी प्रकार के कर्म बन्धनो को बढाने वाले कर्मों मे बर्बाद करते, वह तो नही करेंगे। उतने समय मे उनके परिणाम कुछ तो स्थिर रहेगे ही। इसलिए धर्मकथा प्रत्येक दृष्टि से लाभकारी है।

अन्त मे केवल इतना ही कहना है कि प्रत्येक मुमुक्षु, प्राणी को प्रतिदिन थोडा सा समय भी अवश्यमेव सत्स्वाध्याय तथा चिन्तन मनन मे विताना चाहिए। वैसे कहा गया है —

"चतुर्वार विधातव्य स्वाध्यायोऽयमहर्निशम्।"

रात और दिन मे सात्विक ग्रन्थो का स्वाध्याय चार वार करना चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने तो कहा है—

"मैं नरक मे भी उत्तम पुस्तको का स्वागत करूँगा क्योकि इनमे वह शक्ति है कि जहाँ ये होगी वहाँ अपने आप ही स्वर्ग वन जाएगा।"

इसलिए हमे अन्य अनिवार्य क्रियाओ के समान ही स्वाध्याय को भी अनिवार्य कार्य मानना चाहिए तथा कितनी भी व्यस्तता होने के वावजूद भी कुछ समय इसके लिए निकालना चाहिए। अन्यथा इस ससार के कार्य तो कभी समाप्त होने वाले हैं नही, रात-दिन हाय-हाय करता हुआ प्राणी केवल अर्थोपार्जन और उसके लिए भी झूठ, फरेव, अनीति तथा धोखा देने के फल स्वरूप नाना प्रकार के पापो का उपार्जन करता हुआ तथा लोगो की दृष्टि मे हृदयहीन सावित होता हुआ इस जन्म को खो देगा।

कवि श्री अमरचन्द जी महाराज ने कहा भी है —

छल-छद्म अनेक प्रकार रचे,
सदसत्य—विवेक विनष्ट भया।
सवके दिल मे वन शल्य चुभा,
न कदापि करी तिलमात्र दया।
मदमत्त वना महिषासुर-सा,
वस पीकर विषयो की विजया।
अपना-पर का हित साध सका-
कुछ भी नहिं, व्यर्थ नृजन्म गया।

तो वधुओ, यह दुर्लभ मानव-जन्म पाकर उसे हमे इस तरह व्यर्थ ही नही खो देना है। वरन् उसका जितना भी सभव है लाभ उठाना है। और वह धर्मग्रन्थो को पढने से तथा उनका पुन-पुन स्वाध्याय करने मे ही सभव हो सकेगा। वही वात जो एक वार पढने अथवा सुनने से समझ मे नहीं आती,

दुवारा तिवारा पढने से सहज ही हृदयगम हो जाती है। आप परीक्षा देते समय प्रश्न पत्र को केवल एक बार ही नही पढते, बार-बार पढते है। क्यों ? इसीलिए कि पूछी हुई बात को भली-भाँति समझ सके।

फिर मोक्ष प्रदान करने वाला आध्यात्मिक विषय आप एक बार पढने से ही सहज मे कैसे समझ सकेंगे। इसीलिए कहा गया है प्रतिदिन स्वाध्याय करो। जो पढ नही सकते उन्हे सुनने की आदत डालनी चाहिए। उसमे भी ज्ञान लाभ होता है। कहने का अभिप्राय केवल यही है कि जैसे भी बन सके स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए और उसे आचरण मे उतारकर आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जाना चाहिए। तभी उसका कल्याण होना सभव होगा।

●

११
दीप से दीप जलाओ
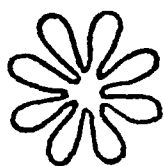
धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो,

हमारा विषय ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणो को लेकर चल रहा है। कल हमने इनमे से नवें कारण 'स्वाध्याय' पर स्पष्टीकरण किया था और आज दसवें कारण पर विवेचन करना है।

ज्ञान-प्राप्ति का दसवां कारण है—ज्ञानवत के पास रहकर ज्ञान हासिल करना। यह वात अत्यत ही महत्त्वपूर्ण है। अगर किसी ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक को ज्ञानवत का समागम नही हुआ और वह अनुपयुक्त व्यक्ति के पास ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से पहुँच गया तो उसे लाभ के वदले घोर हानि उठानी पडेगी। इसीलिये ज्ञान-प्राप्ति के ग्यारह कारणो मे जोर देकर यह कारण वताया गया है कि ज्ञानवत के समीप रहकर ही ज्ञान प्राप्त करे। प्रज्वलित दीपक से ही दीपक जलता है, वुझे दीपक के पास हजारो दीपक पडे रहे तब भी प्रकाश नही मिलता।

आज के ज्ञानदाता

आधुनिक युग मे तो हमे कदम-कदम पर ज्ञानदाताओ की प्राप्ति होती है। ज्ञान के नाम पर शिक्षा देने वालो की आज तनिक भी कमी नही है। स्कूलो और कालेजो मे शिक्षा देने वाले सभी अपने आपको ज्ञानदाता ही मानते हैं। किन्तु ज्ञान के नाम पर विभिन्न विषयो को रटाकर विश्वविद्यालयो की डिगरियां दिलवा देना ही क्या ज्ञान लाभ करना कहलाता है ? जिन कतिपय प्रकार की जानकारियो को प्राप्त कर ऊँची-ऊँची नौकरियां मिल भी जाती हैं और अधिक से अधिक तनख्वाह मिलने लगती है क्या उसे ही ज्ञान हासिल करना कहा जा सकता है ? नही, अगर ज्ञान प्राप्त करके भी मानव सच्चा मानव नही वन सका, उसमे आत्म-विश्वास उत्पन्न नही हो सका, उसके अन्दर छिपी हुई महान्

शक्तियाँ जागृत नही हो सकी तथा उसका चरित्र सर्वगुण सम्पन्न नही बन सका तो वह अनेक विद्याओ का ज्ञाता और अनेक भाषाओ का जानकार विद्वान भी ज्ञानी नही कहला सकता। एक कवि ने बडे सुन्दर ढग से यही बात कही है —

मतिमान हुए धृतिमान हुए,
गुणवान हुए बहु खा गुरु लाते।
इतिहास भूगोल खगोल पढे नित,
न्याय रसायन मे कटी राते॥
रस पिंगल भूषण भावभरी,
गुण सीख गुणी कविता करी घाते।
यदि मित्र, चरित्र न चारु हुआ,
धिक्कार है सब चतुराई की बाते॥

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होंगे कि कोरे शब्द ज्ञान और भाषाओ के पाडित्य से आत्मा का तनिक भी कल्याण नही होता। इतिहास, भूगोल, खगोल, न्यायशास्त्र तथा रस अलकारो से परिपूर्ण भाषा बोलने और लिखने से भी कोई लाभ नही है अगर ज्ञान का फल जो कि चारित्र या सदाचार है, उसकी प्राप्ति न हुई तो। ज्ञान की सार्थकता चारित्र के लाभ मे निहित है। अब तक ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने पूर्व कर्मो की निर्जरा करके मुक्ति-लाभ किया है वह अपने सुदृढ चारित्र की बदौलत ही किया है। एक सस्कृत कहावत है—

'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना

अर्थात्—हाथी के पैर मे सभी पैरो का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार सदआचार मे सभी पवित्रताओ का तथा समस्त गुणो का समावेश होता है।

किन्तु आज के ज्ञानदाता ज्ञानार्थी को शिक्षित और विद्वान् बना देते हैं, उन्हे अध्यापक, वकील, मजिस्ट्रेट या इसी प्रकार के अन्य पदवीधारी भी बना सकते है किन्तु उन्हे सदाचारी नही बना सकते। वे किताबी ज्ञान देते है किन्तु आचरण की शुद्धता प्रदान नही कर सकते। इसका कारण यही है कि वे स्वय ही दृढ आचारी नही होते, आचरण की महत्ता एव उसकी गम्भीरता पर विश्वास नही रखते। और इससे स्पष्ट है कि जिस बात को वे स्वय ही दृढता-पूर्वक नही अपना सकते उसे औरो मे कैसे डाल सकते हैं ?

साराश कहने का यही है कि आज अधिकतर ज्ञान के नाम पर जो दिया जाना है वह ज्ञान नही कहला सकता केवल शिक्षा कहलाती है जो सामारिक लब्धियो को प्राप्त कराने मे सहायक वनती है। देखा जाय तो शिक्षक का अपना चारित्र ही ऐसा होना चाहिये जो मूक शिक्षक का कार्य करे, जिसे देख-कर शिक्षार्थी की श्रद्धा जागृत हो जाय। अन्यथा जो शिक्षा व्यक्ति को निर्वलो को सताने के लिये प्रेरित करे, जो उसे धरती और धन का गुलाम वनाए तथा भोग-विलास मे डुवाये, वह शिक्षा भी नही कहला सकती, उसे ज्ञान कहना तो महामूर्खता है।

सच्चा ज्ञानी कौन ?

प्रश्न उठता है कि जव स्कूलो और कालेजो मे प्राप्त किया हुआ ऊँचा से ऊँचा ज्ञान भी ज्ञान नही कहलाता तो फिर ज्ञान किसे कहा जा सकता है ? इस विपय मे सक्षिप्त मे यह कहा जा सकता है कि वह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जिस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो —

'ज्ञानान्मुक्ति प्रजायते।'

ज्ञान मे ही मुक्ति मिल सकती है अर्थात् इस ससार मे आत्मा को पुन -पुन जन्म-मरण करने से छुटकारा मिल सकता है।

अव जिज्ञासा होती है कि ज्ञान ऐसा क्या जादू कर देता है जिससे आत्मा ससार मे मुक्त हो जाती है ? इसका समाधान यह है कि सच्चा ज्ञान वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकाश मे ला देता है। वह हमे वतलाता है कि अमुक वस्तु त्यागने योग्य है और अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य। उसे विशुद्ध सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है और विवेक उसकी आत्मा मे जागृत हो जाता है जिसके कारण वह विपय-भोगो से विरक्त होने लगता है। और किन्ही कारणो से उनका त्याग नही कर पाता, तो भी अन्त करण मे उनमे लिप्त नही होता।

कहा जा सकता है कि अगर सम्यक्दृष्टि भोगो को हेय समझता है तो उनका सर्वथा त्याग क्यो नही करता ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि विवेक के जागृत रहने पर भी और भोगो को हेय समझने पर भी पूर्व कर्मों के उदय से चारित्र का अनुष्ठान नही कर पाता किन्तु उसकी आत्मा मे छटपटाहट रहती है। जैसे एक कैदी कारागृह मे रहने पर वहाँ का कष्ट भोगता है रूखा-सूखा खाता है किन्तु प्रतिक्षण चाहता है कि कव इस कारागार से निकलूं।

इसी प्रकार ज्ञानी और सम्यक्दृष्टि ससार को कारागृह समझता हुआ रुचिकर न होने पर भी भोगो को भोगता है पर उसकी अभिलापा यही रहती

शक्तियाँ जागृत नही हो सकी तथा उसका चरित्र सर्वगुण सम्पन्न नही वन सका तो वह अनेक विद्याओ का ज्ञाता और अनेक भाषाओ का जानकार विद्वान भी ज्ञानी नही कहला सकता। एक कवि ने वडे सुन्दर ढग से यही वात कही है —

मतिमान हुए धृतिमान हुए,
गुणवान हुए वह खा गुरु लाते।
इतिहास भूगोल खगोल पढे नित,
न्याय रसायन में कटी राते ॥
रस पिंगल भूषण भावभरी,
गुण सीख गुणी कविता करी घाते।
यदि मित्र, चरित्र न चारु हुआ,
धिक्कार है सव चतुराई की वाते ॥

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होगे कि कोरे शब्द ज्ञान और भाषाओ के पाडित्य से आत्मा का तनिक भी कल्याण नही होता। इतिहास, भूगोल, खगोल, न्यायशास्त्र तथा रस अलकारो से परिपूर्ण भाषा वोलने और लिखने से भी कोई लाभ नही है अगर ज्ञान का फल जो कि चारित्र या सदाचार है, उसकी प्राप्ति न हुई तो। ज्ञान की सार्थकता चारित्र के लाभ मे निहित है। अव तक ससार मे जितने भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होने अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा करके मुक्ति-लाभ किया है वह अपने सुदृढ चारित्र की वदौलत ही किया है। एक सस्कृत कहावत है—

'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्ना

अर्थात्—हाथी के पैर मे सभी पैरो का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार सद्आचार मे सभी पवित्रताओ का तथा समस्त गुणो का समावेश होता है।

किन्तु आज के ज्ञानदाता ज्ञानार्थी को शिक्षित और विद्वान् वना देते हैं, उन्हे अध्यापक, वकील, मजिस्ट्रेट या इसी प्रकार के अन्य पदवीधारी भी वना सकते है किन्तु उन्हे सदाचारी नही वना सकते। वे कितावी ज्ञान देते है किन्तु आचरण की शुद्धता प्रदान नही कर सकते। इसका कारण यही है कि वे स्वय ही दृढ आचारी नहीं होते, आचरण की महत्ता एव उसकी गम्भीरता पर विश्वास नही रखते। और इससे स्पष्ट है कि जिस वात को वे स्वय ही दृढता-पूर्वक नही अपना सकते उसे औरो मे कैसे डाल सकते है ?

साराश कहने का यही है कि आज अधिकतर ज्ञान के नाम पर जो दिया जाता है वह ज्ञान नही कहला सकता केवल शिक्षा कहलाती है जो सांसारिक लब्धियो को प्राप्त कराने मे सहायक बनती है। देखा जाय तो शिक्षक का अपना चारित्र ही ऐसा होना चाहिये जो मूक शिक्षक का कार्य करे, जिसे देखकर शिक्षार्थी की श्रद्धा जागृत हो जाय। अन्यथा जो शिक्षा व्यक्ति को निर्बलो को सताने के लिये प्रेरित करे, जो उसे धरती और धन का गुलाम बनाए तथा भोग-विलास मे डुबाये, वह शिक्षा भी नही कहला सकती, उसे ज्ञान कहना तो महामूर्खता है।

सच्चा ज्ञानी कौन ?

प्रश्न उठता है कि जब स्कूलो और कालेजो मे प्राप्त किया हुआ ऊँचा से ऊँचा ज्ञान भी ज्ञान नही कहलाता तो फिर ज्ञान किसे कहा जा सकता है ? इस विषय मे सक्षिप्त मे यह कहा जा सकता है कि वह ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जिस ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो —

'ज्ञानान्मुक्ति प्रजायते।'

ज्ञान मे ही मुक्ति मिल सकती है अर्थात् इस ससार मे आत्मा को पुन-पुन जन्म-मरण करने से छुटकारा मिल सकता है।

अब जिज्ञासा होती है कि ज्ञान ऐसा क्या जादू कर देता है जिससे आत्मा ससार से मुक्त हो जाती है ? इसका समाधान यह है कि सच्चा ज्ञान वस्तु के सत्य स्वरूप को प्रकाश मे ला देता है। वह हमे बतलाता है कि अमुक वस्तु त्यागने योग्य है और अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य। उसे विशुद्ध सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है और विवेक उसकी आत्मा मे जागृत हो जाता है जिसके कारण वह विषय-भोगो से विरक्त होने लगता है। और किन्ही कारणो से उनका त्याग नही कर पाता, तो भी अन्त करण मे उनमे लिप्त नही होता।

कहा जा सकता है कि अगर सम्यक्दृष्टि भोगो को हेय समझता है तो उनका सर्वथा त्याग क्यो नही करता ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि विवेक के जागृत रहने पर भी और भोगो को हेय समझने पर भी पूर्व कर्मो के उदय से चारित्र का अनुष्ठान नही कर पाता किन्तु उसकी आत्मा मे छटपटाहट रहती है। जैसे एक कैदी कारागृह मे रहने पर वहां का कष्ट भोगता है रूखा-सूखा खाता है किन्तु प्रतिक्षण चाहता है कि कब इस कारागार से निकलूं।

इसी प्रकार ज्ञानी और सम्यक्दृष्टि ससार को कारागृह समझता हुआ रुचिकर न होने पर भी भोगो को भोगता है पर उसकी अभिलाषा यही रहती

है कि कब इस ससार-कारागार से निकलकर मुक्त हो जाऊँ। ज्ञानी पुरुष सदा आत्मा के अजर-अमर और अविनाशी स्वरूप का विचार करता है। चिन्तन मे लीन होकर वह सोचता है कि न जाने किस-किस दिशा से आए हुए अनन्त परमाणुओ का समूह यह मेरा शरीर है जो प्रतिपल नष्ट होता जा रहा है। वह विचार करता है—शरीर पुद्गलमय और आत्मा चेतनामय है, शरीर रूपी है और आत्मा अरूपी है, शरीर नश्वर है, आत्मा अनश्वर है। मैं आत्मा हूँ शरीर नही हूँ। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी मेरी आत्मा ज्यो की त्यो अनन्त शक्तिशाली बनी रहेगी।

ज्ञानी पुरुष भली-भाँति जानता है कि यह शरीर जब स्वय मेरा नही है तो किसी का पुत्र, किसी का पिता और किसी का पति कैसे हो सकता है? यह मेरा होता तो मेरे वश मे रहता। मैं नही चाहता हूँ तब भी यह बालक से युवा हुआ है, युवा से प्रौढ और वृद्धत्व की ओर चलता जाएगा। और एक दिन लोग कहेगे —

जिन दाँतो से हँसते थे हमेशा खिल खिल।
अब दर्द से हैं वही सताते हिल हिल।
कहाँ हैं अब वे जवानो के मजे?
ऐ जौक बुढापे से हैं दाँत किल-किल॥

वस्तुत कौन चाहता है कि वह वृद्ध हो जाय, उसकी समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो जायँ और गर्दन हिलने लगे। दाँतो का गिर जाना और मुंह का पोपला हो जाना कौन पसद करता है?

तो सच्चा ज्ञानी अपने शरीर को नश्वर और अपनी आत्मा से अलग मानता है। इसी प्रकार वह विषय-भोगो को भी घोर अनर्थकारी और त्याज्य मानता है। वह विचार करता है कि काम विकार इस दुर्लभ मानव-जीवन को वरदान बनाने के बदले घोर अभिशाप बना देता है। किसी ने कहा भी है —

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय ध्यानी हू को ध्यान जाय।
मानी हू को मान जाय सूरा जाय जग ते॥
जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिद्धाई जाय।
बडे की बडाई जाय रूप जाय अग ते॥

वास्तव मे ही ये भोग अथवा काम विकार रूपी पिशाच ज्ञानी का ज्ञान, ध्यानी का ध्यान, सम्मानित का मान, वीर की वीरता, योगी की जन्म भर की

कमाई को नष्ट कर देता है तथा व्यक्ति के बडप्पन को मिट्टी मे मिलाकर उसके सम्पूर्ण सौन्दर्य पर पानी फेर देता है।

इसीलिये महापुरुष विषय-विकारो से बचते हैं तथा अपनी इन्द्रियो पर और मन पर पूर्ण सयम रखते हैं। वे मन के दास नही बनते। स्वामी बनते है तथा मन के अनुसार स्वय न चलकर मन को अपनी इच्छानुसार चलाते हैं। वे अन्य प्राणियो को भी चेतावनी देते हैं —

यदि कथमपि नश्येद् भोगलेशेन नृत्वं,
पुनरपि तदवाप्तिर्दुःखतो देहिनां स्यात्।
इति हत विषयाशा धर्मकृत्ये यतध्वं,
यदि भवमृतिमुक्ते मुक्ति सौख्येऽस्ति वाञ्छा ।।

अर्थात्—यदि विषय भोगो के लेश मात्र से भी किसी प्रकार मनुष्यत्व नष्ट हो जाय तो जीव को महान दु ख से भी पुन प्राप्त नही हो सकता। अत यदि जन्म-मरण रहित मुक्ति रूपी सुख मे तुम्हारी इच्छा है तो विषयो की आशा को त्यागकर तुम्हे शुभ धर्मक्रियाओ मे सलग्न होना चाहिये।

वैष्णव धर्मग्रन्थो मे एक गणिका का उदाहरण आता है। उस गणिका का नाम पिङ्गला था। कहा जाता है कि एक दिन वह अपूर्व शृङ्गार करके अपने प्रेमी की प्रतीक्षा मे बैठी रही। किन्तु महान प्रतीक्षा के बावजूद भी वह आधी रात तक नही आया तो पिङ्गला को बडी ग्लानि हुई। उसने सोचा—जितना समय आज मैंने इस व्यक्ति की प्रतीक्षा मे बर्बाद किया उतना अगर ईश्वर के भजन मे लगाती तो मेरा शायद कल्याण हो जाता।

यह विचार आते ही उसने उसी क्षण से वेश्यावृत्ति का त्याग कर दिया और अपने मन को सपूर्णत भगवद्भजन मे लगाया। परिणाम यह हुआ कि उसके समस्त पाप नष्ट हो गए और उसकी आत्मा का उद्धार होगया।

कहने का अभिप्राय यही है कि असख्य पापो का उपार्जन करने वाली वेश्या भी भोगो से विरक्त होकर ससार-मुक्त होगई तो फिर ससार मे ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो अपनी आत्मा का उद्धार नही कर सकता ? पर इसके लिये धर्म पर सच्ची श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। अगर व्यक्ति सही ज्ञान प्राप्त नही करेगा तो उसे मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा मार्ग नही मिल पाएगा और वह इन सासारिक लब्धियो मे उलझकर पुन-पुन ससार भ्रमण करता रहेगा।

सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो ?

अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि मुमुक्षु सच्चा ज्ञान कैसे प्राप्त करे ? सच्चे ज्ञानदाता की पहचान करना कठिन है पर असभव नही। सच्चा ज्ञान वही है जो आत्मा को शुद्धि की ओर ले जाय तथा उस ज्ञान को प्रदान करने वाला ज्ञानवत कहला सकता है। हमारा आज का विषय भी यही है कि ज्ञानवत के पास पढे तो सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

वैसे देखा जाय तो हमारे लिये सच्चे ज्ञानदाता आगम और जिन वचन हैं किन्तु किसी भी अज्ञानी व्यक्ति का उनसे सीधा सपर्क करना कठिन होता है। जब तक आगमो मे निहित ज्ञान को कोई ज्ञानवान सरल और समझा कर न बताए, तब तक उनसे कुछ हासिल करना कठिन होता है। और आगमो के ज्ञान को स्कूलो अथवा कॉलिजो के शिक्षक और प्रोफेसर नही पढाते उन्हे तो स्वय आत्म-साधना के पथ पर चलने वाले साधु पुरुष ही समझा सकते हैं।

शास्त्रो मे वर्णन आता है कि सुबाहुकुमार को दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् स्थविर महाराज के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिये बैठाया गया। आपको जानने की जिज्ञासा होगी कि स्थविर किसे कहते हैं ?

सस्कृत भाषा मे 'स्थविर' का अर्थ है 'वृद्ध'। 'हमारे ठाणाग (स्थानाग) सूत्र मे तीन प्रकार के स्थविर बताए गये हैं—**वयस्थविर, दीक्षा स्थविर** और **सूत्रस्थविर**।

वय स्थविर—उसे कहेगे जिसने जन्म लेने के पश्चात् साठ वर्ष की उम्र तक ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया है। एक बात और है कि भले ही किसी व्यक्ति ने अधिक ज्ञान हासिल नही किया हो किन्तु साठ वर्ष की उम्र तक मे उसे ससार मे विभिन्न प्रकार के इतने अनुभव हो जाते हैं, दूसरे शब्दो मे उसे अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इतनी परिस्थितियो से गुजरना पडता है कि बिना पढे भी उसे नाना प्रकार का ज्ञान अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।

आज के युवक अपनी थोडी सी शिक्षा के अहकार मे आकर अपने गुरुजनो की अथवा स्वय अपने माता-पिता की भी भर्त्सना करने लगते हैं। स्पष्ट कहते हैं—"तुम क्या जानो इस विषय मे ? हमने पढी है यह बात।" वे इस बात को भूल जाते है कि उन्होने चार दिनो मे किताबो से जो ज्ञान प्राप्त किया है उससे अनेक गुना अधिक ज्ञान उनके गुरुजनो ने प्रत्यक्ष मे अपने अनुभवो मे भोगकर प्राप्त कर लिया है।

जिस प्रकार कोई भी कला केवल किताबो मे पढकर नही सीखी जाती, उसका सही ज्ञान करने पर होता है, उसी प्रकार ज्ञान भी किताबो मे पढ लेने मात्र से पूर्णत्व प्राप्त नही कर पाता जब तक कि उसे जीवन मे न उतारा जाय। इसलिये जहाँ युवावस्था मे केवल किताबी ज्ञान होता है वहाँ वृद्धावस्था मे अनुभवो का विशाल भडार ज्ञान के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है —

"युवावस्था बहुत सुन्दर है, इसमे सदेह नही, पर जहाँ जीवन की गहनता की जाँच होती है वहाँ यौवन का कोई महत्व नही रह जाता।"

—डास्टाएव्सकी

तो युवावस्था जहाँ अनुभव शून्य और ज्ञान से कोरी होती है वहाँ वृद्धावस्था अनुभव-ज्ञान से बोझिल। इसी कारण कहा जाता है—

"ज्यो ज्यों भीजे कामरी, त्यो त्यों भारी होय।"

नाना प्रकार के कष्टो, सकटो और परेशानियो से गुजरने के बाद ही एक वृद्ध अपने ज्ञान-कोष की वृद्धि कर पाता है।

'फ्रैंकलिन' नामक एक दार्शनिक ने बडे सुन्दर शब्दो मे बताया है कि आयु के अनुसार किस प्रकार मनुष्य मे परिवर्तन होता है। उसने कहा है—

"At 20 years of age the will reigns , at 30 the wit, at 40 the judgement "

अर्थात्—बीस वर्ष की आयु मे सकल्प शासन करता है, तीस वर्ष मे बुद्धि और चालीस वर्ष मे विवेक।

दार्शनिक का कथन यथार्थ है। बीस वर्ष की उम्र मे युवक केवल विचार करता है और मसूबे बाँधता है। क्रियात्मक कुछ भी नही कर पाता। किन्तु तीस वर्ष का होते-होते उसकी बुद्धि का विकास होता है तथा उसकी सहायता से वह प्रत्येक कार्य को सही ढग से करने का प्रयत्न करने लगता है। पर इस उम्र मे भी वह उचित अनुचित का पूर्णतया विभाजन नही कर पाता। यह विभाजन वह चालीस वर्ष की उम्र के बाद कर पाता है जबकि उसका विवेक प्रत्येक बात मे 'दूध का दूध और पानी का पानी' करने मे समर्थ हो जाता है। तो इस कथन से स्पष्ट है कि चालीस वर्ष के पश्चात् साठ वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति अपने अनुभव, ज्ञान और विवेक के बल पर वय स्थविर कहलाने लगता है और ऐसे स्थविर अन्य व्यक्ति को ज्ञान देने मे समर्थ हो जाते हैं।

दीक्षा-स्थविर—जो भव्य प्राणी सासारिक दुखो से भयभीत होकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् साधुत्व अगीकार कर लेते है। वे अपने सयम मार्ग पर वीस वर्ष तक चलने के पश्चात् दीक्षा स्थविर कहलाने की योग्यता हासिल कर लेते हैं।

कोई प्रश्न कर सकता है कि दीक्षा ग्रहण कर लेने अर्थात् पच महाव्रतो के पालन का प्रारम्भ कर देने के पश्चात् भी वीस वर्ष तक उन्हे स्थविर क्यो नही कहा जा सकता ?

इसका कारण यही है कि दीक्षा ग्रहण कर लेते ही साधना मे वह दृढता नही आ जाती और उसका ज्ञान इतना परिपक्व नही हो जाता कि वह औरो का भी पूर्णतया मार्ग-दर्शन कर सके। दीक्षा तो अनेक अल्पवय के वालक भी ग्रहण कर लेते हैं। अतिमुक्त कुमार ने मात्र आठ वर्ष की अवस्था मे ही साधुत्व स्वीकार कर लिया था और साधु वन जाने के वाद भी वे वाल-क्रीडा किया करते थे।

नाव तिरे रे !

उदाहरणस्वरूप एक दिन वर्षाकाल के पश्चात् अपने से वडे सतो के साथ वे जगल की ओर जाते हैं तथा लौटते समय वच्चो के स्वभावानुसार रेत की पाल वनाकर वहता हुआ पानी रोक देते हैं तथा उसमे अपना छोटा सा पात्र तैराकर खुश होते है और शोर मचाते हैं—'मेरी नाव तिरे, मेरी नाव तिरे।'

तो स्वाभाविक है कि दीक्षा ले लेने पर भी ऐसे संत कदापि स्थविर नही कहला सकते। हाँ वीस वर्ष तक दीक्षा का पालन कर लेने के पश्चात् वे अवश्य ही नाना प्रकार के परीपह सहकर तथा उच्च कोटि का ज्ञानार्जन करके इस लायक वनते हैं कि वे औरो का मार्ग-दर्शन कर सके तथा स्थविर कहला सके।

सूत्र स्थविर—सूत्र स्थविर को ही ज्ञान स्थविर भी कहते हैं। स्थानाग सूत्र और 'समवायाग' इनके विपय मे विस्तृत रूप से वताया जाता है कि जो 'स्थानाग सूत्र' और 'समवायाग सूत्र' का भली-भाँति अध्ययन कर ले वह सूत्र स्थविर या ज्ञान स्थविर कहलाता है।

इस विपय मे भी तर्क करने वाले चूकते नही हैं। वे कहते है—"भगवती सूत्र' सवसे वडा है तथा पन्नवणा, एव जीवाभिगम सूत्र भी इतने वडे और महत्वपूर्ण हैं फिर 'स्थानाग सूत्र' एव 'समवायाग सूत्र' के जानकार ही स्थविर क्यो कहलाते है ?"

वात यह है कि ये सूत्र एक तरह से ज्ञान की खाता वहियें है। आपके यहाँ एक रोकडवही होती है और एक खातावही। रोकडवही मे आपको प्रतिदिन लिखना पडता है तथा खातावही मे ऊपर नाम दे देने से आपको पता चल जाता है कि किससे कितना लेना है और किसे कितना देना है।

तो जिस प्रकार आपकी खातावही होती है उसी प्रकार 'स्थानाग सूत्र' एव 'समवायाग सूत्र' ज्ञान की खाता वही हैं। इनके द्वारा ज्ञानार्थी ज्ञान के विपय मे पूर्ण जानकारी कर सकते हैं। इसलिए इन सूत्रो के जानकार को सूत्र स्थविर माना जाता है तथा उन्हे औरो को ज्ञान दान के योग्य वताया गया है।

आप समझ गए होंगे कि ऐसे स्थविरो या अनुभवी सतो के पास ज्ञान प्राप्त करने से ही सम्यक्ज्ञान हासिल हो सकता है जो कि आत्म-साधना मे सहायक वनता है। स्थविर या अनुभवी सतो के पास ज्ञान सीखने से वह वडी सरलता से ज्ञानार्थी के मस्तिष्क मे जम सकता है। क्योकि वे आगमो के पूर्ण ज्ञाता होते हैं अत प्रत्येक विपय को वडी सरलता से समझा देने मे समर्थ होते है। अन्यथा अपने आपको महाविद्वान और पडित मानने वाले व्यक्ति औरो को तो सही मार्ग पर लाने मे असमर्थ होते ही हैं स्वय भी ससार मे उपहास का पात्र वनते है।

योगीश्वर स्वर्गवासी हुए

एक पडित जी जो अपने आपको वडा पहुँचा हुआ मत मानते थे, प्रतिदिन गगा के किनारे पर गायत्री-मन्त्र का जोर-जोर मे पाठ किया करते थे।

गगा के समीप ही एक कुम्हार रहता था। उसके यहाँ मिट्टी ढोने के लिए एक गधा था। सयोगवश वह प्रात काल उसी समय जोर-जोर से रेंका करता था, जिस समय पडित जी गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते थे।

प्रतिदिन ऐसा होने पर पडित जी का ध्यान उस ओर गया तथा वे विचार करने लगे—ओह, लगता है कि यह पशु पूर्व जन्म का कोई महान्

योगी है जो मेरे साथ ही मन्त्र का पाठ किया करता है। इसे कदापि पशु नही मानना चाहिए। लोग कहा करते है—

"धर्मेण हीना पशुभि. समाना।"

पर पडित जी उस गधे को देखकर सोचते, यह मनुष्य से भी उच्च प्राणी है जो पशु होकर भी धर्म का आराधन करता है तथा धार्मिक विचार रखता है। वे उसे अपना गुरुभाई और साथी मानते थे तथा उसे योगीश्वर कहा करते थे। वे मन्त्र-पाठ करते और गधे के भी साथ देने से अत्यन्त प्रसन्न होते थे।

यह क्रम वहुत दिनो तक चलता रहा। किन्तु एक दिन जव पडितजी गायत्री मन्त्र का पाठ कर रहे थे, उन्हें अपने गुरु भाई की आवाज सुनाई नही दी। जव मन्त्र समाप्त होने तक भी वह नही वोला तो वे उसकी खोज मे कुम्हार के यहाँ गए।

कुम्हार के यहाँ जाकर पडित जी उससे वोले—"भाई तुम्हारे यहाँ एक योगीराज रहते थे, वे आज कहाँ गये ?"

योगी ? कैसे योगीराज ? कुम्हार ने चकित होकर पूछा।

"अरे वही जो मेरे साथ प्रतिदिन प्रात काल गायत्री मन्त्र का पाठ किया करते थे।"

"महाराज ! मेरे यहाँ तो कोई योगी या सन्यासी आज तक नही रहा केवल एक गधा था जो आज मर गया।" कुम्हार ने पडित जी की मूर्खता को कुछ-कुछ समझते हुए उत्तर दिया।

पडित जी यह समाचार सुनकर वडे दुखी हुए पर कुम्हार के वोलने के ढग से कुपित होकर वोले—

"तुम कैसे वेवकूफ हो ? एक महान योगी के निधन पर कहते हो मेरा गधा मर गया ?"

कुम्हार समझ गया कि पडितजी को अपने ज्ञान का अजीर्ण हो गया है। वह उन्हे खब्ती मान कर पिंड छुडाने के लिए वोला—"भूल हुई महाराज ! मेरे यहाँ रहने वाले योगी सचमुच ही स्वर्ग चले गए।"

पडित जी फिर और क्या कहते ? मुँह लटकाये उदास भाव से गगा तट पर आए, स्नान किया और एक महायोगी के निधन के उपलक्ष मे शोक

प्रदर्शित करने के लिए नाई के यहाँ जाकर अपना सिर मुडा आए । तत्पश्चात अपने घर के लिए रवाना हुए ।

मार्ग मे उन्हे वहाँ के नगर सेठ मिले । पडित जी सेठ जी के यहाँ यजमानी करते थे अत सदा पूजा-पाठ करने जाया करते थे । सेठजी ने उन्हें सिर मुडाए उदास भाव से रास्ते पर चलते हुए देखा तो पूछ बैठे—"क्या हुआ पडित जी ! परिवार मे कही कोई स्वर्गवासी हो गया है क्या ?"

"अरे, परिवार का कोई मर जाता तो मुझे इतना दुख नही होता किन्तु आज तो एक महान् योगीश्वर का निधन हो गया है। आप तो नगर सेठ हैं, नगर की नाक है । आपको क्या उनके लिए शोक नही मनाना चाहिए ।" पडितजी ने तिरस्कार के स्वर मे उत्तर दिया ।

सेठजी के गौरव को चोट लगी और अपने आपको नगर का अगुआ मानकर उन्होंने भी नाई के यहाँ जाकर पहला कार्य सिर मुडाने का किया । इसके बाद जैसा कि उनका प्रोग्राम था राज्य के मन्त्री से मिलने का और इसीलिए वे अपनी हवेली मे चले थे, अव चल दिये ।

सुवह-सुवह ही सिर मुडाए नगर सेठ को अपने यहाँ आया हुआ देखकर मन्त्री जी चकराए और सर्वप्रथम इसका कारण पूछा। सेठ जी ने उत्तर दिया—

"हमारे पडित जी ने बताया है कि आज अपने नगर मे एक महान् योगीराज का स्वर्गवास हो गया है और अगर उनका शोक हमने नही मनाया तो राज्य के वडे आदमी होने के नाते लोग हमे बुरा कहेगे । इसलिए सोचा कम से कम इतना तो कर ही लिया जाय ताकि लोग मान जाएँ कि हमे भी योगीराज के निधन का शोक है । मैं तो कहता हूँ कि आपको भी ऐसा ही करना चाहिए अन्यथा लोग कहेंगे इस राज्य के वडे-वडे आदमियो मे किसी को भी धर्म पर और धर्मात्माओ पर श्रद्धा नहीं है ।"

सेठजी की वात मन्त्री को भी उचित जान पडी उन्होंने भी अपना मस्तक केश-रहित करवाकर नगर मे हुए महान् योगी के निधन का शोक मनाया । किन्तु जव वे राज-दरवार मे पहुँचे तो महाराज को नमस्कार करते ही उन्होंने पहला प्रश्न यही पूछा—"मन्त्रिवर ! क्या हुआ है ? आज आपने मस्तक कैसे मुडाया ?"

"अन्नदाता ! आज हमारे नगर मे एक महान् और सिद्ध योगी का स्वर्गवास हो गया है ।"

"अच्छा ! क्या नाम था उनका ? राजा ने सहजभाव से पूछा ।"

"नाम तो मुझे मालूम नही है महाराज !"

"तो वे नगर मे कब से रह रहे थे, और कहाँ पर ठहरे हुए थे ?"

"मुझे यह भी मालूम नही है हुजूर !"

राजा बडे चकित हुए । बोले—"आपको कुछ भी मालूम नही है तो फिर उनके स्वर्गवासी होने का शोक किसके कहने से मनाया है ?"

"मुझे तो नगर सेठ ने बताया था ।" मन्त्री ने कुछ शर्मिदा होते हुए उत्तर दिया ।

राजा ने सेठजी को बुलवाया और उनसे भी योगीराज के विषय मे पूछा । पर सेठजी क्या जानते थे जो बताते, उन्होने पडित जी का नाम लिया । अब राजा का कुतूहल बढा अत उन्होने पडितजी को भी बुलवाया और उनसे स्वय उनके, सेठजी के और मन्त्री के सिर मुडाकर शोक मनाने का कारण पूछा ।

पडितजी बेचारे राज-दरबार से बुलावा आने के कारण वैसे भी घबराए हुए थे पर धीरे-धीरे बोले—

"महाराज ! गगा नदी के किनारे एक कुम्हार के घर मे पूर्व जन्म के कोई महान योगी गधे के रूप मे रहते थे और जब मैं प्रतिदिन प्रात काल गायत्री मन्त्र का पाठ करता था वे भी मेरे साथ मन्त्र बोला करते थे ।"

पडितजी की बात सुनकर राजा और समस्त दरबारी सही बात समझ गये और हँस पडे । राजा बोले—"मन्त्री जी, आप लोगो की बुद्धि का कितना सुन्दर प्रमाण है ? अरे ! पडितजी तो महाज्ञानवान हैं क्या आप लोग भी अब ऐसे ही ज्ञानी हो गए हैं ? तब तो हो चुका मेरे राज्य का कल्याण ।" राजा की बात सुनकर मन्त्री जी व सेठजी अत्यन्त शर्मिन्दा हुए और मस्तक झुकाकर घर लौट आए ।

तो बन्धुओ ! मेरे कहने का आशय यही है कि ससार मे ऐसे-ऐसे ज्ञानवतो की भी कमी नही है । किन्तु अगर हमे मोक्ष-प्राप्ति का सही मार्ग जानना है तो हमे सच्चे ज्ञानवान की भी खोज करनी चाहिए तथा उनसे सम्यक् ज्ञान

की प्राप्ति करके उम मार्ग पर कदम वढाने चाहिए। हमारा जीवन अल्प है किन्तु माधना वहुत करनी है। अगर समय इसी प्रकार व्यर्थ जाता रहेगा तो कुछ भी हाथ नही लगेगा। एक उर्दू के कवि ने भी कहा है —

> रहती है कव वहारे जवानी तमाम उम्र।
> मानिन्द वूये गुल, इधर आई उधर गई॥

कवि का कथन यथार्थ है। जिन्दगी तो अल्पकालीन है ही, उसमे भी युवावस्था, जिस समय मनुष्य अधिक से अधिक साधना कर सकता है वह तो फूल की खुशवू के समान है जो एक ही झोंके मे इधर से उधर चली जाती है।

इसलिए हमे समय व्यर्थ नही गँवाना चाहिए तथा सच्चे ज्ञानवान के पास ज्ञान हामिल करके आत्म-ज्योति जगाते हुए ससार मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

●
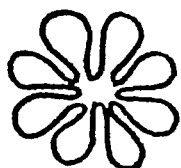
१२
इन्द्रियों को सही दिशा बताओ !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल मैंने आपको ज्ञान-प्राप्ति का दसवाँ कारण समझाया था कि ज्ञानवन्त के पास ही ज्ञान लेना चाहिये। आज ज्ञान प्राप्ति के ग्यारहवें कारण पर विवेचन करना है। यह है—इन्द्रियो के विषयो का त्याग करना।

जो महामानव अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, वही सम्यक्ज्ञान हासिल कर सकता है। इन्द्रियो के मुख्य पाँच विषय हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। यो तो इन्द्रियो के तेईस विषय और दो सौ चालीस विकार बताये गये है और इस प्रकार विस्तृत रूप से इनके सम्बन्ध मे समझाया गया है। किन्तु हमे अभी इन पाँच मुख्य विषयो को ही लेना है।

अनर्थकारी इन्द्रियाँ

मानव इस ससार मे रहकर जितने भी पापो का उपार्जन करता है, वे सब इन्द्रियो के वश मे न रह पाने के कारण ही करता है। इन्द्रियो के वश मे होकर ही वह ससार मे पुन-पुन जन्म लेता है और मरता है। किसी भी तरह मृत्यु के चगुल से छूट नही पाता। और छूटेगा भी कैसे ? किसी विद्वान ने कहा है —

> कुरगमातगपतगभृगमीना हता पचभिरेव पच।
> एक प्रमादी स कथ न हन्यते यस्सेवते पंचभिरेव पच॥

अर्थात्—हिरण गाने मे हाथी हस्तिनी से, पतग दीपक से, भ्रमर गन्ध से और मछलियाँ जीभ के स्वाद से मोहित होकर अपने प्राण खो देती हैं। फिर जिन्हे पांच इन्द्रियाँ हैं और जो सभी विषयो की आसक्ति मे फँसते हैं तो उनको मृत्यु क्यो छोडेगी।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो एक-एक इन्द्रियो के वश मे होकर वे पशु-पक्षी भी जब मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो पाँच-पाँच इन्द्रियो के वश मे रहने वाले मनुष्य बार-बार मृत्यु के चगुल मे क्यो नही फँसेंगे ? अर्थात् अवश्य ही फँसेंगे ।

इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियो को अशुभ क्रियाओ मे प्रवृत्त करके पापोपार्जन करने की बजाय शुभ क्रियाओ मे लगाये जिससे पुण्य का उपार्जन हो सके और बँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो ।

कर्णेन्द्रिय

हमारे पास कर्णेन्द्रिय है इसके द्वारा सुना जाता है । पर सोचने की बात यह है कि इनसे क्या सुना जाय ? क्या सिनेमा के गाने ? या विकारो को प्रोत्साहन देने वाली अश्लील बाते ? नही, ऐसी बातो को सुनने से मन विषयो की ओर उन्मुख होता है तथा उसके कारण अशुभ कर्मों का बन्ध होता है । अत अश्लील गाने या अश्लील बाते न सुनकर कानो से हमे धर्मोपदेश अथवा जिन-वचन सुनना चाहिये । सगीत सुनना बुरा नही है, न उसे सुनना कही वर्जित ही किया है किन्तु उसके माध्यम से हमे ईश्वर की प्रार्थना और उसके गुण-गान सुनना चाहिये ।

सगीत के द्वारा मानव जितनी सुगमता और शीघ्रता से अपने इष्ट मे तन्मय हो सकता है वैसा अन्य कोई भी दूसरा साधन नही है । योगी लोग आत्मा और परमात्मा की एकता के लिये घोर तपस्या करके अपने शरीर को सुखा देते हैं वह एकता या अभिन्नता सगीत से सहज मे ही प्राप्त हो सकती है । इसलिये कार्लाइल नामक एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है —

Music is well said to be the speech of angels "

सगीत को फरिश्तो की भाषा ठीक ही कहा है ।

हम भी प्राय देखते हैं कि भक्त लोग सगीत के द्वारा ही अपने आपको ईश्वर से मिलाते है । आज ससार मे जितने भक्त हुए हैं उनका अपने प्रभु की अर्चना का सबसे बडा साधन भजन-कीर्तन ही रहा है । सूरदास, तुलसीदास और मीरा आदि अनेक भक्तो के सुन्दर-सुन्दर पद्य आज घर-घर मे गाये जाते है । लाखो व्यक्ति उनसे प्रभावित होते रहे हैं और आज भी होते हैं । इसीलिये हमे अपने कानो से परमात्मा की प्रार्थना या आगमो की वाणी सुननी चाहिये,

यह है कि अगर व्यक्ति ज्ञान के द्वारा धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप तथा ससार की नश्वरता और आत्मा की अमरता आदि के विषय मे जान तो लेगा किन्तु सब कुछ जानते हुए भी अपने आचरण और कार्यों को शुभ मे प्रवृत्त नही करेगा अर्थात् अपने मन एव इन्द्रियो के द्वारा शुभ क्रियाएँ नही करेगा तो कर्मों की परते उसकी आत्मा पर चढती जाएँगी और उसके मस्तिष्क मे भरा हुआ ज्ञान व्यर्थ साबित हो जाएगा। आत्मा को जन्म-मरण से मुक्त करने के लिए आवश्यकता हमे इसी बात की है कि हम पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करे अर्थात् उन्हे समाप्त करें और नवीन कर्म-बन्धनो से बचे। और यह तभी हो सकता है, जबकि हम अपना एक-एक कार्य करते हुए सावधानी बरतें, यह ध्यान रखें कि ऐसा करने से किसी पाप-कर्म का उपार्जन तो नही हो जाएगा ? जीवन मे पापो का आगमन चोरो के समान चुपचाप और अति शीघ्रता से हो जाता है। इसलिए आप जिस प्रकार अपने धन की सुरक्षा के लिए उसे तिजोरी मे ताला लगाकर रखते है और ऊपर से मकानो की दीवारे भी ऊँची-ऊँची और कभी-कभी तो उन पर नुकीले काँच के टुकडे लगाकर बनवाते हैं। उसी प्रकार अपनी आत्मा के सद्गुण रूपी अमूल्य रत्नो की रक्षा के लिए भी व्रतो की दीवारे निर्मित करे तथा इन्द्रियो के सयम रूपी नुकीले काँचो से पाप रूपी चोरो को आने मे रोके। व्रत ग्रहण करने का अर्थ है—मन और इन्द्रियो को अशुभ की ओर प्रवृत्त न होने देने की प्रतिज्ञा करना अथवा जितना सभव हो, मर्यादा मे रहना। इन्हे ग्रहण करने से मनुष्य अनेकानेक व्यर्थ के कर्मों के बन्धन से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

कर्मों का आगमन किस प्रकार होता है इस विषय मे एक बडा सुन्दर श्लोक कहा गया है—

> गवाक्षात् समीरो यथायाति गेह,
> तडाग च तोयप्रवाह प्रणाल्या।
> गलद्वारतो भोजनाद्या पिचड,
> तथात्मानमाशु प्रमादैश्च कर्म ॥

गवाक्ष यानी झरोखा। जिस प्रकार किसी भी मकान मे झरोखे से हवा आती है, उसी प्रकार आत्मा रूपी घर मे प्रमादादि पापो की हवा इन्द्रियो रूपी झरोखो से आ जाती है। किन्तु झरोखो मे किवाड लगाकर और उन्हें बन्द करके हवा को आने से रोका जाता है, उसी प्रकार व्रत-रूपी किवाड लगाकर

इन्द्रिय रूपी झरोखो से भी पाप-कर्म रूपी हवा को आने से रोका जा सकता है।

कर्मों के आगमन को समझाने के लिए दूसरा उदाहरण तालाव मे आने वाले पानी के प्रवाह को लेकर दिया गया है। कहा है—तेज वर्षा होने पर जिस प्रकार पानी अनेक छोटी-मोटी नालियो के अन्दर वहता तालाव मे जा पहुँचता है, उसी प्रकार व्रतो की रोक न लगाने पर पापकर्म-रूपी जल इन्द्रिय रूपी नालियो मे से प्रवाहित होता हुआ आत्मा-रूप तालाब मे जा पहुँचता है।

तीसरा उदाहरण है—अपनी जिह्वा पर सयम न रखने से जिस प्रकार खाद्य पदार्थ अथवा जल गले से होता हुआ उदर मे उतर आता है उसी प्रकार पाप कर्म भी किसी न किसी इन्द्रिय-द्वार से आत्मा मे उतर आते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक साधक को पापोपार्जन से वचने के लिए व्रतो को अगीकार करना अनिवार्य है। व्रत जितने अशो मे भी ग्रहण किये जाएँगे उतनी ही रोक अशुभ क्रियाओ पर लगेगी और पापो का उपार्जन कम होगा। व्रत एक सुदृढ गढ के समान होते हैं जो नाना-प्रकार के सासारिक आकर्षणो और प्रलोभनो से मनुष्य की रक्षा करते हैं। और सच्चे हृदय से मोक्ष की कामना रखने वाले भव्य प्राणी अपने प्राण देकर भी अपने व्रतो की रक्षा करते हैं।

सेठ सुदर्शन के विषय मे आप जानते ही है कि उन्होंने सूली पर चढना कवूल कर लिया किन्तु अपने परस्त्री-त्याग के व्रत का अखड रूप से पालन किया। परिणामस्वरूप सूली भी उनके लिए सिंहासन वन गई।

इसी प्रकार विजयकुमार और विजयाकुमारी की कथा भी हमे पढने को मिलती है। सयोगवश दोनो ने महीने मे पन्द्रह दिनो के शील-व्रत के पालन के नियम ले लिए थे। विजयकुमार ने कृष्णपक्ष के और विजयाकुमारी ने शुक्ल पक्ष के।

भाग्यवशात् दोनो का आपस मे विवाह हो गया। जब दोनो को एक दूसरे के व्रतो का पता चला तो कितने आश्चर्य की वात है कि दोनो मे से किसी के चेहरे पर भी शिकन नही आई।

विजयाकुमारी ने पति से कहा—"अच्छा हो कि आप दूसरा विवाह कर लें और मुझे जीवन भर शील व्रत को पालने का प्रेम से अवसर दे।"

किन्तु विजयकुमार ने उत्तर दिया—"वाह ! यह कैसी वात कर रही हो ? दूसरा विवाह किसलिए करना ? तुम्हारे समान मुझे भी तो जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का सुनहरा अवसर मिलेगा। दूसरी शादी करके मैं यह मौका हाथ से नही जाने दूंगा। हम दोनो एक दूसरे से अनासक्त भाव से प्रेम रखते हुए तव तक घर मे रहेगे जव तक मेरे माता-पिता को इस वात का पता नही चल जाएगा। और जिस दिन उन्हे इस वात का पता चलेगा, हम दीक्षा ग्रहण करके दोनो ही आत्म-कल्याण मे जुट जाएँगे।"

वास्तव मे ही दोनो ने ऐसा किया और जिस दिन इस वात का रहस्य खुला, उन्होने पच महाव्रत अगीकार कर लिए तथा आत्मा का कल्याण किया।

जो महापुरुष इस प्रकार महाव्रतो का पालन कर सकते है वे तो धन्य हैं, किन्तु व्रतो को अशत अर्थात् वने जहाँ तक पालन करने वाले भी अपनी आत्मा को निर्मल वना सकते है। क्योकि कर्मो का भार जितना कम हो उतना ही अच्छा। अन्यथा न जाने कितने जन्मो तक उनका परिणाम भुगतना पडता है। इसी वात को एक सस्कृत के कवि ने समझाई है—

> प्रवृद्धैर्जनैरर्जिते द्रव्यजाते,
> प्रपौत्रा यथा स्वत्ववाद वदति।
> भवानंत - संयोजिते पापकार्ये,
> विना सुव्रतं नश्यति स्वीयता नो॥

कर्मो का भुगतान किस प्रकार करना पडता है इस पर श्लोक मे एक दृष्टात दिया गया है। कहा है—

वृद्ध यानी घर का वडा व्यक्ति और प्रवृद्ध का अर्थ है वृद्ध से भी वहुत वडा दादा, परदादा समझिये। तो मान लीजिये किसी के परदादा ने वहुत सम्पत्ति अर्जित की। कई मकान खेत आदि आदि सभी कुछ उन्होने वनवाए और लिए। पर वे अपने अधिकार की वस्तुओ को अगर किसी को दे जाते हैं तो उसके पौत्र या प्रपौत्र उस पर अपना स्वामित्व मानते हैं तथा पीढियो से चली आ रही सम्पत्ति को कानूनन लेने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं हमारे पूर्वजो की यह सम्पत्ति है और इस पर हमारा अधिकार है।

तो बधुओ, जिस प्रकार कई पीढियो की सम्पत्ति का व्यक्ति मालिक स्वय बन जाता है, उसी प्रकार अनत भवो के उपार्जित कर्मों का भोक्ता भी उसे ही बनना पडता है।

वेदव्यास जी ने भी कहा है —

स्वकर्मफल निक्षेपं विधान परिरक्षितम् ।
भूतग्राममिम काल समन्तात परिकर्षति ।

—*महाभारत*

अपने-अपने कर्म का फल एक धरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर यह काल इस कर्म-फल को प्राणिसमुदाय के पास खीच लाता है।

जिस प्रकार एक बछडा हजारो गायो के बीच मे भी अपनी माँ को पहचानकर उसके पास चला जाता है, उसी प्रकार अनेक जन्मो के पाप-कर्म भी अपने करने वाले को पहचान लेते हैं और उसे परिणाम भोगने को बाध्य कर देते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि पूर्वजन्मो के कर्म भी सासारिक सम्पत्ति के समान पीढियो तक सुरक्षित रहते हैं और प्राणी को उन्हे भोगना ही पडता है। आपने गजसुकुमाल मुनि के विषय मे सुना होगा और पढा भी होगा कि उनके जीव ने निन्यानवे लाख भव से पूर्व जो पाप-कर्म किया था वह उस जन्म मे उदय मे आया और सोमिल ब्राह्मण के द्वारा उनके मस्तक पर जलते हुए अगारे रखे गए। इस प्रकार व्यक्ति अपने दादा, परदादा की पूँजी का मालिक बनता है और आत्मा भी किये हुए पिछले समस्त जन्मो के कर्म का भोक्ता भी अनिवार्य रूप से बन जाता है।

इसलिए आवश्यक है कि व्रतो को ग्रहण करके पूर्व कर्मों की निर्जरा की जाय तथा नवीन कर्मों के बधन से बचा जाय। जब तक व्रत अगीकार नही किये जाते, तब तक कर्मों का बन्धन होना भी रोका नही जा सकता।

एक कवि ने कहा है —

बुद्धि का सार, तत्व विचार,
अर्थ का सार दो पात्र दान।
देह का सार व्रत लो धार,
जबान प्रभु नाम लेने को।

आना जो हुआ मेरा, फकत उपदेश देने को।
नींद गफलत की छोडो, तिरो-तिरो यह कहने को ॥

अत्यन्त सरल भाषा मे कवि ने बडी महत्वपूर्ण बातें कह दी है। पद्य मे कहा गया है—बुद्धि का सार क्या है ? अर्थात् बुद्धि अगर हमे मिली है तो उसका लाभ हमे कैसे उठाना चाहिए ? उत्तर भी इसका साथ ही है कि अगर बुद्धि हमारे पास है तो उससे तत्वो का चितन किया जाय। जीव क्या है ? अजीव क्या है ? पुण्य और पाप मे क्या फर्क है तथा बन्ध और मोक्ष का स्वरूप क्या है ? निर्जरा कैसे की जा सकती है आदि।

जो व्यक्ति इन बातो का विचार नही करता कि मैं कहाँ से आया हूँ ? अब कहाँ जाने का प्रयत्न करना है ? भगवान के आदेश क्या हैं और उनका पालन कैसे हो सकता है ? कर्मों की निर्जरा कैसे की जा सकती है और कर्म-बन्धनो से बचा कैसे जा सकता है ? तो वह व्यक्ति चाहे धन-वैभव के अम्बार खडे कर ले या उच्च से उच्च पदवीधारी बन जाय, उसका समस्त धन और यश आदि सभी निरर्थक हैं।

पद्य मे दूसरी बात कही गई है—'अर्थ का सार दो पात्र दान' अर्थात् अगर प्राप्त हुए धन का लाभ लेना है तो सुपात्र को दान दो। देश के लिए, समाज के लिए, धर्म प्रचार के लिए, अनाथ और विधवा बहनो के लिए तथा धनाभाव के कारण जो शिक्षा प्राप्त नही कर सकते हैं उन गरीब विद्यार्थियो के लिए अपने धन का व्यय करो तो धन का कुछ सार निकाल सकोगे अन्यथा अपने और अपने बच्चो के लिए तो पशु-पक्षी भी प्रयत्न करते ही हैं। मनुष्य के पास भले ही करोडो की सम्पत्ति हो, पर उसकी आत्मा के साथ तो वही पुण्य जाएगा जो दान देकर उपार्जित किया जाएगा। एक उदाहरण से आप यह बात समझ सकेंगे।

तत्वज्ञ सेठ

एक सेठ अत्यन्त वैभवशाली थे। करोडो की सम्पत्ति उनके पास थी किन्तु वे दिल के बडे उदार और परोपकारी वृत्ति के थे। कोई भी याचक उनके द्वार से खाली नही जाता था साथ ही उनकी धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और अटूट लगन थी। उनकी इन विशेषताओ के कारण चारो ओर खूब प्रशसा होने लगी।

एक बार एक महात्मा उनके नगर मे आए। महात्मा जी के यहाँ वे सेठजी और अन्य अनेक व्यक्ति भी दर्शनार्थ गए। कुछ समय पश्चात् वहाँ भी

ठजी के विषय मे चर्चा होने लगी । लोग महात्मा जी से सेठ की भाग्यवानी की सराहना करने लगे ।

किन्तु सेठजी वडे तत्वज्ञ थे । वे अपनी प्रशसा और अपने वैभव की सराहना सुनकर बोले—

“महाराज ! ये लोग कहते हैं कि मैं वडा मालदार हूँ पर यह वात सत्य नही है ।”

सत ने सहजभाव से पूछा—“ऐसा क्यो ? तुम्हारे पास करोडो की सम्पत्ति है और चार-चार सुपुत्र भी हैं। फिर तुम्हारी पुण्यवानी और धन-सम्पन्नता मे क्या कसर है ?”

सेठजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—“भगवन् ! बाह्य दृष्टि से जैसा लोग कहते है मैं करोडपति अवश्य हूँ किन्तु आतरिक दृष्टि से देखा जाय तो मैं केवल वीस हजार का ही मालिक हूँ। क्योकि मेरी जितनी भी दिखाई देने वाली पूँजी है, वह सब मैं यही छोडकर जाने वाला हूँ केवल शुभ खाते मे व्यय किया हुआ वीस हजार रुपये का फल ही मेरे साथ जाएगा ।”

“दूसरे, व्यवहार दृष्टि से मेरे चार पुत्र जरूर है पर वे भी मुझे सिर्फ श्मशान तक ले जाएँगे । अत वे चारो पुत्र नकली हैं ।”

सेठजी की यह वात सुनकर सव विचार करने लगे, यह क्या वात हुई ? क्या पुत्र भी नकली होते हैं ? फिर असली पुत्र कौन से कहलाते हैं ? एक व्यक्ति ने पूछ भी ली यह वात ।

सेठजी वोले—“भाई मेरा साथ देने वाले मेरे असली लडके दो हैं। एक तो धर्म जिसका कुछ ही अशो मे मैंने उपार्जन किया है, और दूसरा है पाप । धर्म सुपुत्र है वह मेरी रक्षा करेगा और पाप कुपुत्र है जो कष्ट देगा किन्तु रहेगा तो मेरे साथ ही । इस प्रकार मेरे पुत्र केवल ये ही दोनो हैं ।”

सेठजी की वात यथार्थ थी । लोगो की समझ मे आ गया कि सच्चा धन और सच्चे पुत्र इस ससार मे कौन से होते हैं। वस्तुत सेठजी ने बुद्धि और अर्थ, दोनो का सार निकाल लिया था ।

पद्य मे तीसरी वात कही गई है—“देह का सार लो व्रत धार ।” अर्थात्—इस मनुष्य पर्याय का कुछ सार निकालना है, यानी लाभ लेना है तो जीवन मे व्रतो को धारण करो । चाहे व्यक्ति अणुव्रत धारण करे या महाव्रत ग्रहण करे उसे अपने जीवन को सयमित अवश्य वनाना चाहिये ।

हम कभी अपने भाइयो से नियम लेने को कहते हैं तो उनका उत्तर होता है —"महाराज ! वदोकडी मे मत नाँखो ।" पर भाई ! जरा विचार तो करो कि अपने मकान मे तुम दरवाजे और उनमे भी ताले क्यो लगाते हो ? इसीलिये न कि कोई धन-सम्पत्ति चुराकर न ले जाए ? तो आत्मा के अन्दर भी तो सद्-गुण रूपी अमूल्य धन है । क्या उसके चुराए जाने की कोई फिक्र नही है ? व्रत आत्मा के लिये ताले के समान ही हैं जिनके लग जाने पर उस धन की चोरी का भय मिट जाता है ।

कभी-कभी हमे समझाने के लिये लोगो को कहना पडता है—"आप अपनी कमीज मे वटन क्यो लगाते हैं ।"

उत्तर वे चट से दे देते हैं—"महाराज ! इनके विना कपडा स्थिर नही रहता ।"

वस ! इसी प्रकार जिस प्रकार वटनो के विना आपकी कमीज स्थिर नही रहती, उसी प्रकार व्रतो के विना आपका मन भी स्थिर नही रह सकता । जो ज्ञानी पुरुप अपने मन को व्रतो के द्वारा नियत्रण मे रख लेते हैं वे चाहे साधु वनें या गृहस्थ वने रहे आत्म-मुक्ति के मार्ग पर वढ चलते हैं । ऐसा क्यो कहा जाता है, इस विपय मे कवि सुन्दरदासजी ने कहा है —

> कर्म न विकर्म करे, भाव न अभाव धरे,
> शुभ न अशुभ परे, याते निधड़क है ।
> वस तीन शून्य जाके, पापहु न पुण्य ताके,
> अधिक न न्यून वाके, स्वर्ग न नरक है ।
> सुख-दुख सम दोऊ नीचहु न ऊँच कोऊ,
> ऐसी विधि रहे सोऊ, मिल्यो न फरक है ।
> एक ही न दोय जाने, वध मोक्ष भ्रम मानै,
> सुन्दर कहत ज्ञानी ज्ञान मे ही रत है ।

जो व्यक्ति नीति और सत्य मार्ग पर चलता हुआ अपना निर्वाह करता है और किसी प्रकार का अभाव होने पर भी उस अभाव को महसूस न करके कोई कुकर्म नही करता, किसी के अधीन नही रहता और अशुभ कृत्य न करने के कारण निधडक रहता है । वह न किसी को कुछ देता है और न किसी से कुछ लेता है, मान-अपमान और सुख-दुख को समान समझता है । अपने परिवार और वन्धु-वान्धवो मे रहकर भी किसी के प्रति ममता नही रखता । शुभा-

शुभ, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक को कोई चीज नही समझता, किसी को ऊँचा और नीचा नही समझता सभी मे ईश्वर का ही अश मानता है। इसके अलावा कर्म-बध और मुक्ति को भी मन का सकल्प मानता है तथा सदा ब्रह्म ज्ञान मे लीन रहता है ऐसा ज्ञानी और जितेन्द्रिय पुरुष निश्चय ही जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति अपने मन तथा इन्द्रियो को अपने नियत्रण मे रख सके। व्रतो को ग्रहण करने के लिए ही इन्द्रियो पर नियत्रण रखना होता है। जिस व्यक्ति का मन उसके वश मे रहता है, उसका चारित्र निष्कलक होता है कभी भी कोई प्रलोभन उसे अपनी ओर आकर्षित नही कर पाता। उसे सदा यही ध्यान रहता है —

ऊँचा महल चिनाइया, सुवरन कली वुलाय।
ते मन्दिर खाली परे, रहे मसाना जाय॥
मलमल खासा पहिरते, करते बहुत गुमान।
टेढे होकर चालते, खाते नागर पान॥
महलन माँही पोढते, परिमल अग लगाय।
ते सुपने दीसे नही, देखत गये विलाय॥

—कबीरदास

सयमी और ज्ञानी पुरुष ससार की विचित्रता और नश्वरता के विषय मे सोचता है—जिन वैभवशाली श्रीमन्तो ने सुनहरा काम कराकर ऊँचे-ऊँचे महल वनवाए थे, वे आज श्मशान मे चले गए है और उनके महल सूने पड़े हैं। कीमती मलमल और खासा कपडो के वस्त्र पहनने वाले, पान के वीडे मुँह मे दवाए अत्यत गर्वपूर्वक ऐंठ कर चलने वाले, इत्र, फुलेल आदि लगाकर महलो मे फूलो की शैय्या पर सुख से सोने वाले भी आज ऐसे विलीन हो गए हैं कि स्वप्न मे भी कभी दिखाई नही देते।

वस! अपने चिन्तन मे ससार की इसी अनित्यता के वारे मे विचार करते हुए भव्य प्राणी अपने मन को जगत से उदासीन वना लेते हैं तथा सयम के द्वारा अपने चारित्र को सुरक्षित रखते हैं, कलकित नही होने देते।

पद्य मे कवि ने आगे कहा है—'जवान प्रभुनाम लेने को।' अर्थात् हमे जिह्वा मिली है तो उसका उपयोग ईश्वर के गुण-गान और प्रार्थना मे करना चाहिये। निरर्थक वाद-विवाद तथा वे सिर-पैर की वातें करने से कुछ भी लाभ

हासिल नही होता, उलटे समय की हानि होती है तथा अनर्गल राग-रग और विपयोत्तेजक बातो के करने से भावनाओ मे विकृति आती है तथा कर्मो का वधन होता है।

इधर-उधर की वकवाद करना पानी को विलोने के समान है। जिस प्रकार घटो, दिनो और महीनो भी पानी को विलोया जाय तो उसमे से मक्खन की प्राप्ति नही होती, उसी प्रकार व्यर्थ की बातें करने से कुछ भी पल्ले नही पडता।

इसके अलावा इसी जिह्वा से अगर कटु शब्दो का उच्चारण किया जाय तो कभी-कभी वडी खून-खराबी, मार-काट और हत्याएं भी हो जाया करती हैं। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

"No sword bites so fiercely as an evil tongue"

—पी सिडनी

कोई तलवार इतना भयानक घाव नही करती जितना कि एक बुरी जिह्वा।

इसलिए वधुओ ! हमे अपनी जवान को व्यर्थ की वकवास मे नही लगाए रहना है तथा उसके द्वारा किसी का दिल दुखाकर कर्म-वध भी नही करना है। इससे हमे लाभ उठाना है और वह तभी मिल सकता है, जवकि हम इसे प्रभु-भक्ति मे लगाए रहें, इसके द्वारा दीन-दुखियो को सान्त्वना प्रदान करें तथा अपनी मधुर वाणी से औरो के दु ख-भार को कुछ न कुछ हलका करे। जिह्वा की महत्ता को समझने वाला ज्ञानी पुरुप कभी भी उसका गलत उपयोग नही करता तथा उसकी सहायता से नाम-स्मरण कर अपने असख्य कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को नाना-प्रकार के कष्टो से वचाता है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी ईश-भक्ति या प्रभु का नाम लेने से होने वाले लाभ के विषय मे कहा है—

प्रभु नाम लिए सव विघन विलाय जाय,
गरुड़ के शब्द सुन त्रास होत व्याल को।
महामोह तिमिर पुलाय ज्यो दिनेश उदे,
मेघ वरसत दूर करत दुकाल को॥
चिन्तामणि होय जहाँ दारिद्र रहे न रच,
धनन्तर आये मेटे वेदन कराल को।
तैसे जिन नाम से करम को न अश रहे,
ऐसे प्रभु अमीरिख जपत त्रिकाल को॥

जो व्यक्ति भगवान का भजन करते हैं उनके समस्त विघ्न कपूर के समान विलीन हो जाते हैं। पद्य मे बताया है—गरुड की आवाज सुनकर जिस प्रकार सर्प भयभीत हो जाता है, सूर्य के उदय होते ही घोर अधकार नष्ट हो जाता है, बरसात आने पर अकाल दूर होता है, चितामणि रत्न के होने पर दरिद्रता नही रहती, तथा धन्वतरि वैद्य आकर बीमार की समस्त पीडाओ को मिटा देता है इसी प्रकार जिनेश्वर का नाम लेने से बँधे हुए कर्मों का लेश भी आत्मा के ऊपर नही रहता। इसीलिए सत-महात्मा प्राणियो को प्रेरणा देते हैं कि अपनी जिह्वा इन्द्रिय को व्यर्थ बातो मे न लगाकर उससे परमात्मा का नाम लो ताकि आत्मा का कल्याण हो सके।

कवि आगे कहता है—'मैं यहाँ पर तुम्हें यही चेतावनी देने आया हूँ कि गफलत की निद्रा का त्याग करो और अज्ञान के अँधेरे से ज्ञान के प्रकाश मे आकर सही मार्ग पर चलो। अपने चारित्र को दृढ रखकर अगर साधना के मार्ग पर चलोगे तो इस ससार-सागर को पार कर लोगे।"

आपने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्त मुनि के बारे मे सुना ही होगा कि उन दोनो के जीवो ने पाँच जन्म साथ-साथ किये थे और उसके पश्चात् छठे जन्म मे वे अलग-अलग हुए।

चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को आकर बोध देना चाहा अत कहा—"ब्रह्मदत्त! हम पिछले पाँच जन्मो मे साथ-साथ रहे हैं पर तुमने नियाणा कर लिया था अत चक्रवर्ती बन गए और मैंने नियाणा नही किया अत धनाढ्य उत्तम कुल मे जन्म लेकर अब मुनि हो गया हूँ।"

"अब भी मैं चाहता हूँ कि तुम अपना हृदय धर्म-ध्यान मे लगाओ, कुछ व्रत अगीकार करो तथा साधना के पथ पर बढो! तुम से अधिक नही बन पाता है तो दान दो तथा व्रतो का अशत ही पालन करो।"

चित्त मुनि के उपदेश का ब्रह्मदत्त पर कोई असर नही हुआ और उसने इन सबके लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया। तब मुनि ने कहा—"अच्छा और कुछ भी नही हो सकता तो कम से कम अनार्य कर्म तो मत करो! आर्य कर्म करने का ही निश्चय कर लो।"

किन्तु चित्त मुनि के समझाने का कुछ भी प्रभाव नही पडा क्योकि—

चित्त कही ब्रह्मदत्त नहीं मानी,
टोला रे नाहीं लगे टाँची।

कवि ने कहा है कि पत्थर पर जिस प्रकार एक भी टाँची का निशान नहीं पडता उसी प्रकार चित्त मुनि का समस्त प्रयत्न निष्फल गया। उनकी एक भी बात ब्रह्मदत्त ने नही मानी।

परिणाम यही हुआ कि मुनि तो सयम-पथ पर चलकर उच्चगति के अधिकारी बने और ब्रह्मदत्त सातवे नरक मे गए।

वस्तुत जो व्यक्ति तनिक भी पुरुषार्थ स्वय नही कर सकता उसकी संत, महात्मा या स्वय भगवान भी क्या सहायता कर सकते हैं ?

मन्दिर से निकलो !

एक चोर चोरी करने गया किन्तु दुर्भाग्य से लोगो को उसके आगमन का पता चल गया और वे उसके पीछे पड गए। आगे चोर दौडता रहा और पीछे-पीछे बहुत से व्यक्ति।

चोर दौडता-दौडता एक मन्दिर मे पहुँचा जिसमे अम्बादेवी विराजमान थी। अन्दर जाकर वह भयाक्रात व्यक्ति गिडगिडाया—"माता मुझे बचाओ ! अन्यथा मैं आज मारा जाऊँगा। बहुत से व्यक्ति मेरा पीछा कर रहे है।"

अम्बादेवी बोली—"वत्स ! भयभीत मत होओ मैं तुम्हे बचा लूंगी। पर एक काम करना कि तुम्हारा पीछा करने वाले व्यक्ति जब अन्दर आएँ तो जोर से एक हुकार कर देना।

"मा ! मैं कैसे हुँकार करूँगा ? मेरा तो डर के मारे गला बैठ गया है।"

"तो तुम आँखें ही दिखा देना उन्हे, उसके बाद मैं सम्हाल लूंगी।"

"मैं तो आँखे भी नही दिखा सकता ये भी तो भय के मारे पथरा गई हैं।" चोर दीनता से बोला।

"अच्छी बात है, तो तुम उठकर दरवाजा बन्द कर लो !" देवी ने तीसरा सुझाव दिया।

पर चोर बोला—"मेरी टाँगे इतनी काँप रही हैं कि मैं उठ भी नही सकता। दरवाजा बन्द कैसे करूँ ?"

"अरे भाई ! इतना क्यो भयभीत हो रहे हो ? तुम उठकर मेरी मूर्ति के पीछे छिप जाओ।" देवी ने दया करके फिर उसे आदेश दिया।

पर चोर अत्यन्त भीरू था। हाथ जोडकर कहने लगा—"देवी माँ ! मुझ से तो हिला भी नही जाता यहाँ से।"

अब तो अम्बामाता को भी क्रोध आ गया। बोली—"तुम महा कायर और निकम्मे व्यक्ति हो। ऐसे पुरुषार्थहीन की मैं कोई सहायता नही कर सकती। चले जाओ मेरे मन्दिर मे से।"

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थी तो होना ही चाहिए। पुरुषार्थ के अभाव मे वह कोई भी शुभ कर्म करने मे समर्थ नही हो सकता। कहा भी है —

अर्थो वा मित्रवर्गोवा ऐश्वर्यंवा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तु तथैवाकृतकर्मभि ॥

—वेदव्यास (महाभारत)

जो पुरुषार्थ नही करते वे धन, मित्र, ऐश्वर्य, उत्तमकुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी, किसी का भी उपयोग नही कर सकते।

पुरुषार्थ के अभाव मे मनुष्य अपने चारित्र को भी दृढ नहीं बना सकता और उसका ज्ञान निरर्थक जाता है। अगर व्यक्ति शुभ विचार रखता है तो उसके अनुरूप उसे कर्म भी करने चाहिए तभी वह चरित्रवान और साधक कहला सकता है। किसी भी व्यक्ति की सच्ची परख उसके पाडित्य अथवा विद्वत्ता के बल पर नही की जा सकती। अपितु उसके कर्मो को देखकर ही उसके अच्छे बुरे की पहचान की जा सकती है।

मनुष्य अपने चरित्र का निर्माता स्वय ही होता है। क्योकि समस्त अच्छाइयो और बुराइयाँ उसके अन्दर ही विद्यमान रहती हैं। ज्ञान और पुरुपार्थ के द्वारा वह अपने अन्दर रही हुई अच्छाइयो को उभार सकता है तथा मिथ्यात्व और अज्ञान के द्वारा बुराइयो को जिस प्रकार रेशम का कीडा अपने आप मे से ही तार निकालकर एक जाल सा अपने चारो ओर बुन लेता है तथा उसमे फँस जाता है, उसी प्रकार चरित्रहीन व्यक्ति अपने अन्दर की बुराइयो को अपने चारो ओर फैला लेता है और उसके परिणामस्वरूप कर्मो के असख्य बधनो मे स्वय ही जकड जाता है।

चरित्रहीनता का सबसे बडा कारण उसकी दुर्बलता, आत्मविश्वास की कमी और अज्ञान होता है। किन्तु जो नर-पुगव इन कमियो को दूर करके अपने ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित कर लेते हैं वे समस्त बाधाओ को जीतते हुए साधना-पथ पर बढते हैं तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते है।

सच्चरित्र व्यक्ति की इच्छा शक्ति अटूट और चमत्कारिक होती है। दूसरे शब्दो मे इसी इच्छाशक्ति को हम भावना कहते हैं जिसके बल पर साधक अल्पकाल मे भी स्वर्ग और मोक्ष तक प्राप्त कर लेता है। परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मन्दिर, मसजिद, गुरुद्वारा या गिरजाघर कही भी बाहर जाने की आवश्यकता नही है। वह तो उसकी आत्मा मे ही निवास करता है।

कवि जोक ने कहा भी है—

वह पहलू मे बैठे हैं और बदगुमानी।
लिए फिरती मुझको कहीं का कहीं है॥

अर्थात्—परमात्मा तो मेरे अन्दर ही स्थित है किन्तु मेरा भ्रम उसकी खोज मे मुझे न जाने कहाँ-कहाँ ले जाता है।

तो बधुओ, अन्त मे मुझे यही कहना है कि अगर हमे मुक्ति की अभिलाषा है तो हमे अपने ज्ञान के द्वारा चारित्रिक दृढता अपनानी है। और चरित्र मे दृढता लाने के लिए व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि के द्वारा मन तथा इन्द्रियो पर पूर्ण सयम रखना है। ऐसा करने पर ही हम अपने आचरण को शुद्ध एव निर्मल बना सकेंगे तथा अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे।

यद्यपि सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान भी मुक्ति के साधन हैं किन्तु मुख्य साधन चारित्र है। दर्शन एव ज्ञान मे परिपूर्णता आ जाने पर भी जब तक चारित्र मे पूर्णता नही आती, आत्मा को मुक्ति नही मिल सकती। और चारित्र मे पूर्णता आते ही वह तत्काल जन्म मरण से सर्वदा के लिए मुक्त हो जाती है। उसके अनादिकालीन कष्टो का और व्यथाओ का अन्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि चारित्र का मूल्य आध्यात्मिक क्षेत्र, तथा व्यावहारिक क्षेत्र दोनो मे ही अत्यन्त महत्व रखता है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह महा विद्वान हो, दार्शनिक हो, वैज्ञानिक हो अथवा अन्य कोई भी महान् विशेषताएँ अपने आप मे रखता हो, जब तक सदाचारी नही बन जाता उसे प्रतिष्ठा प्राप्त नही होती। वही व्यक्ति जीवन मे यश का उपार्जन करता है और मर कर भी अमर बनता हैं जो अपने आचरण मे दृढता प्राप्त कर लेता है तथा जिसका आचरण स्वय ही औरो के लिए आदर्श बनकर उनका मार्ग-दर्शन करता है।

यही हाल आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी है। जब तक साधक दान, शील, तप तथा भाव आदि की आराधना करता है, अपने मन और इन्द्रियो को नियत्रण मे रखता है तथा मरणातक परीषह आने पर भी धर्म-मार्ग को नही छोडता, वही अपनी आत्मा को निर्मल बनाकर उसे पाँचवी गति जिसे मोक्ष कहते है, उसमे ले जा सकता है।

अभिप्राय यही है कि प्राणी जब अपना लक्ष्य मुक्ति को बना लेता है तथा उसकी रुचि विश्वास और श्रद्धा सब उसी दिशा मे स्थिर हो जाते है तभी उसका चारित्र दृढ बनता है और वह उत्तरोत्तर उन्नत होता हुआ आत्मा को समस्त कर्मों से मुक्त करता है। अतएव हमे अपने चारित्र को निष्कलक रखते हुए उसे इतना सबल बनाना है कि मुक्ति स्वय ही आकर हमारी आत्मा का वरण करे।

१४
तपश्चरण किसलिए ?
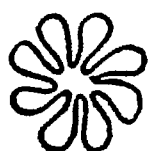
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहिनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा के अनुसार कल चारित्र के विषय मे वताया गया था और आज उसी गाथा के दूसरे चरण मे तप का उल्लेख होने के कारणा तप के विषय मे वताया जायेगा ।

तपश्चर्या के विषय मे क्रिया करने की जो रुचि है वह भी क्रियारुचि कहलाती है । तप करना अन्य क्रियाओ की तरह सरल नही है, उसके लिए शारीरिक कष्ट तो सहन करना ही पडता है साथ ही समभाव रखना और इन्द्रिय सुखो का त्याग भी करना पडता है । किन्तु उसका लाभ अन्य समस्त क्रियाओ की अपेक्षा असख्य गुना अधिक होता है । ढढण ऋपि ने तपस्या के वल पर केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया था तथा आगमो मे अन्य अनेक भव्य आत्माओ के विपय मे वर्णन आता है, जिन्होंने तप के द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त किया है । तप आत्मा मे रहे हुए पापो को तथा दुर्वल-ताओ को दूर करके उसे तपाये हुए सोने के समान निर्मल, निष्कलुप एवं उज्ज्वल वनाता है ।

वने जितना करो !

हमारे जैनागमो मे तप का वडा विस्तृत विवेचन दिया गया है । उसमे तप के मुख्य प्रकार वारह वताये है और उनका विवेचन क्रमश किया जायेगा । अभी तो हमे यह विचार करना है कि अधिक या कम जितना भी हो सके तप अवश्य करना चाहिए। क्योंकि —

> **"सकामनिर्जरासार तप एव महत् फलम् ।"**
>
> *—योगशास्त्र*

इच्छापूर्वक कष्ट, परीपह एव उपसर्ग आदि सहन करने से सकाम-निर्जरा

की उत्पत्ति होती है, जो कि आदर्श तपस्या ही है और इसका महान् फल यही है कि इससे कर्मक्षय हो जाया करते हैं।

इसीलिये मेरा कहना है कि जितना हो सके तप करो। अगर रोज सम्भव नही है तो द्वितीया, पचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी इन पाँच तिथियो के दिन ही कुछ न कुछ करो। जितना भी त्याग कर सकते हो, जो भी व्रत धारण कर सकते हो अवश्य करो।

इनके अलावा पाँच तिथियो मे भी आपसे प्रारम्भ मे न बने तो चतुर्दशी पन्द्रह दिन मे एक वार आती है। उस दिन ही अधिक नही तो रात्रि भोजन का त्याग करो, हरी मत खाओ, ब्रह्मचर्य व्रत रखो और ये भी न वने तो सामायिक ही करो। अगर एक दिन का महत्त्व आप समझ लेंगे और उस दिन कुछ धर्म-क्रिया अथवा तप करने लगेंगे तो आपकी इच्छा अष्टमी को भी इसी प्रकार कुछ न कुछ करने की हो सकेगी। आवश्यकता यही है कि आप प्रारम्भ करे। कोई भी काम प्रारम्भ करने के बाद तो पूरा पडता ही है पर पूरा तभी होता है जब कि आरम्भ किया जाता है। तप का भी यही हाल है। व्यक्ति एक नमोकारसी भी करे उससे नरक के बन्धन टूटते हैं। नमोकारसी का अर्थ है—सूर्य उदय होने के एक घण्टे बाद खाना-पीना। यह कोई कठिन वात नही है। सहज ही एक घण्टा विना खाये-पीये निकाला जा सकता है। पर होगा यह भी तभी, जबकि व्यक्ति इस बात की ओर ध्यान दे, नमोकारसी के महत्त्व को समझे तथा उसके पालन का निश्चय करे।

शास्त्रकारो ने तप का वडा भारी महत्त्व माना है और इसे मोक्ष के चार मार्ग दान, शील तप और भाव मे तीसरा स्थान दिया है। तपस्या का अर्थ केवल एक, दो, दस या अधिक उपवास करना ही नही है अपितु विनय, सेवा, प्रायश्चित आदि-आदि बारह प्रकार के आभ्यन्तर एव वाह्य तप माने गये हैं।

अन्य धर्मों मे तप का स्थान

यह सही है कि हमारे जैन धर्म मे तप की महिमा बडी भारी वताई है तथा इसका सूक्ष्म विवेचन स्थान-स्थान पर दिया है। किन्तु अन्य सम्प्रदायो मे भी इसका महत्त्व कम नही है। वैष्णव सम्प्रदाय तप को अत्यन्त आवश्यक और पवित्र मानता है। वह कहता है—अधिक तप न किया जा सके तो भी एकादशी का व्रत तो प्रत्येक को करना ही चाहिए।

मराठी भाषा मे सन्त तुकाराम जी कहते हैं —

पंधरावे दिवशीं एक एकादशी,
कारे न करिशी व्रतसार ॥१॥

पन्द्रह दिन वाद एक एकादशी आती है तब भी हे प्राणी ! तू उसे क्यो नही करता ? उस दिन व्रत क्यो नही रखता ?

एकादशी का दिन अति श्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु इस व्रत मे कुछ विकृति आ गई है। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय और अनेक बुजुर्ग श्रद्धालु वैष्णव-भक्तो से जानकारी की जाय तो वे वताते हैं—दसमी के दिन एक वक्त खाना चाहिए, एकादशी के दिन निराहार रहकर द्वादशी को पुन एक वक्त आहार करना चाहिये। किन्तु अव इस विधान के अनुसार नही किया जाता। यहाँ तक कि दसमी और द्वादशी को तो एक वार नही खाते सो नही खाते पर एकादशी को भी निराहार रहने के स्थान पर फलाहार के वहाने कुछ न कुछ खाते हैं। अर्थात् एक दिन के लिये भी खाना नही छोडते।

जवकि कहा गया है —

न भोक्तव्यं, न भोक्तव्य सम्प्राप्ते हरिवासरे

—कात्यायन स्मृति

एकादशी के दिन कुछ भी नही खाना चाहिये।

इसीलिये सन्त तुकारामजी ने आगे कहा है —

काय तुझा जीव जातो एक दिवसे
फरालाचे पिसे घेशी घडी ॥२॥

भर्त्सना के स्वरो मे कहा गया है—अरे ! क्या एक दिन न खाने से तेरा जीव चला जायेगा जो तू फलाहार के निमित्त से खाने की तैयारी करता है ?

अभिप्राय यही है कि एकादशी के दिन फलाहार करने का निषेध शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी है और सन्त महात्मा भी यही कहते हैं। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय मे भी तपस्या का विधान है। एक महीने मे दो वार एकादशी आती है, वारह महीने मे चौवीस वार तपश्चर्या हुई। और इसके बीच मे कभी प्रदोष होता है कभी वार। उस दिन भी तपस्या रहती है। एकादशी के महत्त्व को वताते हुए वैष्णव धर्म ग्रन्थो मे एक कथा है —

दुर्वासा ऋषि ने शाप दिया

महाराजा अम्वरीष भगवान के परम भक्त थे तथा एकादशी व्रत के अडिग

व्रती थे। एक बार उनके यहाँ दुर्वासा ऋषि आये। अम्बरीष ने उन्हे द्वादशी के दिन अपने यहाँ भोजन करने का निमन्त्रण दिया। क्योकि वे द्वादशी को ब्राह्मण भोजन कराये बिना पारणा नही करते थे।

दुर्वासा ऋषि स्नान ध्यान आदि करने के लिये बाहर गये। किन्तु उन्हे उसमे बहुत देर लग गई। द्वादशी थोडी ही थी और उसके पश्चात् त्रयोदशी हो जाती थी। इधर शास्त्रो की आज्ञा थी कि एकादशी व्रत करके द्वादशी को पारणा करना चाहिये। अत महाराजा अम्बरीष ने ब्राह्मणो की आज्ञा से इस दोष को मिटाने के लिये तुलसी का एक पत्ता मुँह मे ले लिया।

इतने मे ही दुर्वासा ऋषि आ गये और बिना आज्ञा लिये महाराज को तुलसी का पत्ता ले लेने के कारण क्रोध से आगबबूला हो गये। मारे क्रोध के उन्होंने अम्बरीष को शाप दे दिया—"तुझे जो इस बात का गर्व है कि मैं इसी जन्म मे ससार-मुक्त हो जाऊँगा वह गलत साबित होगा और अभी तुझे ससार मे दस बार जन्म-मरण करना पडेगा।"

कहते हैं कि ऐसा शाप दे देने पर भी ऋषि को तृप्ति नही हुई और उन्होंने कृत्या नामक एक राक्षसी का निर्माण किया जो पैदा होते ही अम्बरीष को खाने के लिये दौडी।

अपने तपस्वी भक्त की यह दुर्दशा भगवान से नही देखी गई और उन्होंने उसी क्षण अपने सुदर्शन-चक्र को भक्त की रक्षा के लिये भेज दिया।

सुदर्शन चक्र आया और वह कृत्या राक्षसी को मारकर दुर्वासा ऋषि के पीछे पड गया। दुर्वासा ऋषि चक्र के डर से तीनो लोको मे भागते फिरे पर किसी ने उन्हे आश्रय नही दिया। अन्त मे वे भगवान विष्णु के पास गये और विष्णु ने उन्हे महाराजा अम्बरीष से ही क्षमा याचना करने के लिये कहा।

मरता क्या न करता ? इस कहावत को चरितार्थ करते हुए दुर्वासा ऋषि लौटे और अम्बरीष के चरणो पर आ गिरे। दयालु राजा ने बडी विनम्रता मे स्तुति करके चक्र को शान्त किया।

इसके पश्चात् विष्णु भगवान ने प्रकट होकर दुर्वासा ऋषि से कहा—आप घोर तपस्वी हैं अत आपका दिया हुआ शाप निष्फल तो नही जा सकता किन्तु अपने भक्त के शाप को मैं ग्रहण करता हूँ अर्थात् इसके बदले मे मैं दस बार शरीर धारण करूँगा।

वन्धुओ ! इस कथा से आपको दो वातो का ज्ञान हुआ होगा । प्रथम तो यह कि अपने एकादशी व्रत अथवा तपस्या के प्रभाव से अम्बरीप ने भगवान को भी अपनी सहायता के लिये वाध्य कर दिया अर्थात् तपस्या मे कितनी चमत्कारिक शक्ति होती है यह सिद्ध किया । दूसरे यह स्पष्ट हो गया कि तपस्या कभी निष्फल नही जाती ।

दुर्वासा ऋपि क्रोधी अवश्य थे किन्तु घोर तपस्वी भी थे अत उनका दिया हुआ शाप खाली नही गया और उसे स्वय विष्णु को लेना पडा । इससे ज्ञात होता है कि तप कभी निरर्थक नही जाता । आज व्यक्ति थोडी-सी भी तपस्या करके उसके फल मे सन्देह करने लगते है कि कौन जाने इसका लाभ मुझे कुछ मिलेगा या नही । वे भूल जाते हैं कि वीज वोने पर फसल पैदा होती तो अवश्यभावी है और इसी प्रकार तप करने पर उसका फल मिलना भी निश्चित है, चाहे उसके लिये इच्छा की जाय अथवा नही । कहा भी है —

"तपोऽथवा किं न करोति देहिनाम् ?"

प्राणियो के लिये तप क्या नही करता है ? अर्थात् सभी प्रकार की सिद्धियाँ तप ही प्रदान करता है ।

तप की इस महत्ता के कारण ही सभी धर्मों ने इसे सम्मान दिया है तथा धर्म का अनिवार्य अग माना है । और तो और मुसलमानो मे भी तप करना आवश्यक माना गया है ।

आप जानते ही हैं कि रमजान का महीना आने पर वे पूरे महीने रोजा रखते है । उन दिनो वे दिन भर कुछ नही खात । रात्रि को चाँद देखने के पश्चात् ही आहार ग्रहण करते हैं ।

आप कहेगे—'वे दिन को नही खाते तो क्या हुआ रात्रि को तो खाते हैं ।" पर भाई ! यह तो मानो कि वे दिन के चार प्रहर तक तो कुछ नही खाते । यह भी क्या कम है ?

हमारे यहाँ तो भोजन मे एक ग्रास भी कम खाया जाय तो उसे ऊणोदरी तप मानते हैं, फिर मुसलमान दिन के चार-चार प्रहर तक भी कुछ नही खाते तो यह उनका तप नही हुआ क्या ? उनके ऐसा करने से सिद्ध होता है कि वे भी तपस्या को कम महत्व नही देते, उसे अपने धर्म का अभिन्न अग मानते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तपश्चर्या चारित्र धर्म का एक सुदृढ अग है । और इसीलिये चाहे जैन धर्म हो, चाहे वैष्णव धर्म, और चाहे मुस्लिम धर्म

हो सभी मे तपस्या का विधान है। इसके अभाव मे कोई भी व्यक्ति अपनी साधना को सम्पूर्ण फलदायिनी नही बना सकता।

हमारे यहाँ सोमप्रभ नामक एक बडे आचार्य हुए हैं, उन्होंने तपस्या को कल्पवृक्ष की उपमा दी है। कल्पवृक्ष ऐसा वृक्ष माना जाता है, जिसके नीचे आकर व्यक्ति जो भी चाहे हो जाता है तथा जो भी वह चाहे मिल जाता है।

आचार्य ने किस प्रकार तप को कल्पवृक्ष माना है यह उनके ही एक श्लोक से विदित होता है। श्लोक इस प्रकार है —

> सतोष स्थूलमूल प्रशम-परिकर-स्कन्ध-बन्ध प्रपञ्च ।
> पञ्चाक्षी शोध शाख स्फुर दभयदल शील सपत्प्रवाल ॥
> श्रद्धाम्भ पूरसेकाद्विपुल कुल बलैश्वर्य सौन्दर्य भोग —
> स्वर्गादि-प्राप्ति-पुष्प शिवपद फलद स्यात्तप. कल्पवृक्ष ॥

आचार्य ने तपस्या को कल्पवृक्ष की उपमा दी है किन्तु आपको जिज्ञासा हो सकती है कि जब प्रत्येक वृक्ष के जड, शाखाएँ, फल, पत्तियाँ आदि होते हैं तो तपस्या रूपी कल्पवृक्ष मे ये सब हैं या नही ? और हैं तो किस प्रकार है ?

श्लोक मे आपकी इस जिज्ञासा का भी समाधान दिया गया है। सर्वप्रथम इसमे तप-रूपी कल्पवृक्ष की जड के सबध मे बताया है। कहा है—तपस्या रूपी इस कल्पवृक्ष की जड सतोष है। अब आप पूछेंगे कि सतोप जड कैसे हुई ? वह इसलिये कि, जिसके हृदय मे सतोप होगा वही त्याग कर सकेगा। सतोष के अभाव मे न तो इन्द्रियो पर सयम रह सकेगा, न मन को वश मे रखा जा सकेगा और न ही तपस्या हो सकेगी। जहाँ व्यक्ति एक उपवास भी नही कर पाता, वहाँ वह आठ-आठ दिन अथवा महीने भर भी उपवास कर जाता है। ऐसा क्यो ? इसलिये कि उसे सतोप रहता है। खाद्य पदार्थों के प्रति आसक्ति और गृद्धता का त्याग करके वह सतोष को धारण करता है और इसीलिये उसमे तप करने की शक्ति स्वय ही आ जाती है।

इसके विपरीत जिस व्यक्ति को इन्द्रियो के विषयो से कभी तृप्ति नही होती, भोग भोगकर भी उससे सतोप नही होता वह चाहे गृहस्थ बना रहे या सन्यासी बनकर वन-वन फिरना प्रारम्भ करदे किन्तु उसका जीवन तपोमय नही बन पाता। न वह किसी प्रकार का बाह्य तप ही कर पाता है और न ही आभ्यतर तप का आराधन कर सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि संतोष के अभाव मे भले ही व्यक्ति साधु बन जाय, वह किसी प्रकार का तपाराधन करने मे समर्थ नही बन सकता, और संतोष को धारण करके वह अपने घर और परिवार मे रहकर भी तपस्वी बन सकता है। प्रत्येक परिस्थिति मे संतुष्ट रहने वाले व्यक्ति का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है —

सभी यात्री हैं

किसी गाँव मे एक व्यक्ति रहता था, उसके एक ही लड़का था। लड़का जवान हो गया और उस व्यक्ति ने लड़के का विवाह कर दिया।

एक दिन पिता ने किसी उद्देश्य से कुछ व्यक्तियो की मीटिंग करने का निश्चय किया और उन्हे सूचना भेजदी। दैवयोग से उसी दिन तीसरे प्रहर मे उसके पुत्र का हार्टफेल हो गया और वह स्वर्गवासी हुआ।

पिता ने पूर्ण शाति से मृत पुत्र को बैठक ही मे लिटाकर उसपर एक कपड़ा डाल दिया तथा स्वय दरवाजे मे बैठकर आमन्त्रित व्यक्तियो के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

समय होते ही एक-एक करके लोग आने लगे और वह व्यक्ति उन्हे अपने-अपने स्थान पर बिठाने लगा। आचनक ही एक व्यक्ति की दृष्टि कपड़ा ओढे हुए किसी व्यक्ति के शरीर पर पड़ी तो उसने पूछ लिया—"यह कौन सो रहा है?"

पिता अपनी उसी शाति के साथ बोला—"मेरा पुत्र मर गया है। मैंने सोचा कि हम सब पहले अपनी मीटिंग का कार्य निपटा ले तो फिर मिलकर इसे श्मशान ले चलेंगे।"

व्यक्ति की बात सुनते ही वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति इस प्रकार चौंक पड़े जैसे वहाँ अकस्मात ही कोई भयकर सर्प निकल आया हो। एक व्यक्ति ने महान आश्चर्य से कहा—"आप कैसे हैं? इकलौता पुत्र मर गया और उसकी लाश पर कफन ओढाकर ऐसी शाति से मीटिंग का कार्य करने जा रहे हैं? क्या आपको अपने इस जवान पुत्र की मृत्यु का रज नही है?"

वह व्यक्ति बोला—'भाई' रज क्या करना? मेरा और इसका क्या नाता है? हम सब सराय के मुसाफिर है। पूर्व जन्मो के कर्मवश एक दूसरे से मिलते हैं और अपना-अपना समय पूरा होने पर अपनी-अपनी राह जाते हैं। आत्मा

का सगा कौन है ? कोई भी नही। अत एक व्यक्ति पहले चल दिया तो क्या हुआ ? सभी को तो जाना है, इसमे रज और शोक करने की क्या वात है ?"

वधुओ, हर परिस्थिति मे इस प्रकार समभाव और सतोष रखने वाला व्यक्ति ही निरासक्त भाव से तपाराधन कर सकता है तथा आत्म-साधना मे सहायक प्रत्येक क्रिया को पूर्ण एकाग्र चित्त से सम्पन्न करने मे समर्थ होता है। भले ही वह व्यक्ति गृहस्थ हो चाहे साधु हो।

तो इस प्रकार तप-रूपी कल्पवृक्ष का मूल सतोप है यह स्पष्ट हो जाता है। अव हमे इसके तने को देखना है कि वह क्या है ?

श्लोक मे वताया गया है—शाति रूपी समूह इस वृक्ष का तना है। जव तक वृक्ष का तना मजवूत और दृढ नही होता, वृक्ष की डालियाँ एव फल-फूल आदि स्थिर नही रह सकते जैसे खभो के मजवूत होने पर ही उस पर छत टिक सकती है।

सतोप रूपी मूल पर शाति रूपी तना होता है, कवि की यह वात यथार्थ है। आचार्य चाणक्य ने भी कहा है —

सतोषामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम्।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

सतोष रूपी अमृत से जो लोग तृप्त होते हैं, उनको जो शाति और सुख होता है, वह धन के लोभियो को, जो इधर-उधर भटकते रहते है, नही प्राप्त होता।

हृदय मे शाति का आविर्भाव होना और उसका वहाँ स्थिर रहना अत्यन्त कठिन होता है, सहज नही। क्योकि शाति उसी को प्राप्त होती है, जो अपनी मारी इच्छाओ का त्याग कर देता है तथा मैं और मेरेपन की भावना से मुक्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को कभी शाति नसीव नही होती जो सदा कहा करता है —

मेरो देह मेरो गेह, मेरो परिवार सव,
मेरो धन-माल, मैं तो वहु विधि भारो हूँ।
मेरे सव सेवक, हुकम कोऊ मेटे नाहिं,
मेरी युवती को मैं तो अधिक पियारो हूँ॥

मेरो वश ऊँचो, मेरे वाप-दादा ऐसे भये,
करत वड़ाई मैं तो जगत उजारो हूँ।
सुन्दर कहत मेरो-मेरो करि जाने शठ,
ऐसे नही जाने, मैं तो काल ही को चारो हूँ ॥

"मेरी देह, घर, कुटुम्व, धन-माल सभी मेरा है। मैं वहुत वडा आदमी हूँ कोई सेवक मेरी आज्ञा का उल्लघन नही करता। मेरी पत्नी मुझे अत्यन्त प्यार करती है, मेद्रा कुल और वश वडा ऊँचा है। मेरे दादा-परदादा बडे नामी व्यक्ति थे और मैं स्वय भी एक दीपक के समान हूँ।"

कवि सुन्दरदासजी कहते हैं कि ऐसी वडाई करने वाला और घमण्ड मे चूर रहने वाला मूर्ख यह नही जानता कि मैं तो स्वय ही काल का एक ग्रास हूँ।

तो मैं आपको वता यह रहा था कि सासारिक पदार्थों और परिजनो को दिन-रात मेरा-मेरा कहने वाला व्यक्ति मोह और आसक्ति के गहरे खड्ड मे जा गिरता है और फिर उसे शाति नसीव ही कैसे हो सकती है ? वह सदा लालची और अशान्त वना रहता है। सच्चा सुख उससे कोसो दूर भागता है। क्योंकि वास्तविक सुख तो सतोप और उससे उत्पन्न शाति मे ही निहित है।

सत तुलसीदासजी ने भी कहा है—

सात द्वीप नव खड लौं, तीनि लोक जग माँहि।
तुलसी शांति समान सुख, और दूसरो नाँहि ॥

शाति का कितना महत्व वताया गया है ? वस्तुत शाति के समान ससार मे अन्य कोई भी और सुख नही है। एक पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है —

"Peace is the happy and natural state of man '

—टामसन

शाति मनुष्य की सुखद और स्वाभाविक स्थिति है। अर्थात्—शाति आत्मा का स्वाभाविक और निजीगुण है। इसके अभाव मे अन्यत्र कही भी सुख की प्राप्ति नही हो सकती। मनुष्य को विपयो का सुख और आत्मा की शाति दोनो मे से किसी एक को चुनना पडेगा। ये दोनो एक साथ नही रह सकते। इस ससार मे रहकर अगर आत्मिक शाति प्राप्त करनी है तो विपयो के सुखो का त्याग करना पडेगा और ऐसा नही किया गया, अर्थात् विपय-भोगो का त्याग नही किया तो जीवन भर अशाति की आग मे जलना पडेगा।

इसलिए प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह सतोष रूपी मूल पर स्थित शाति रूपी तने को सुदृढ बनाए ताकि उसका तप-रूपी कल्पवृक्ष किसी भी प्रकार के भय से रहित रह सके।

आचार्य चाणक्य ने तो शाति को महा तप माना है। कहा है—

शाति तुल्यं तपो नास्ति।

शाति के समान दूसरा कोई तप नही है।

यहाँ भी आचार्य सोमप्रभ ने शाति को तप रूपी कल्पवृक्ष का सबसे महत्व पूर्ण अग, तना माना है जिसके आधार पर सम्पूर्ण वृक्ष टिका रहता है।

श्लोक मे आगे कहा है—'पञ्चाक्षी शोघशाख ।' अर्थात्—पाँच अक्ष, यानी इन्द्रियाँ वृक्ष की शाखाएँ हैं। इन इन्द्रियो को जव पूर्णतया अपने नियत्रण मे रखा जाएगा तभी इन पर मधुर फल और फूल लग सकेंगे। फल और फूल से तात्पर्य है शुभ कर्मों का वध होना।

आप जानते ही हैं कि जो प्राणी अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे नही रख पाते, उन्हे नाना प्रकार के पाप कर्मों का भागी वनना पडता है तथा ससार मे अनादर और अपयश का भागी वनना पडता है। इसके विपरीत जो अपनी इन्द्रियो को वश मे कर लेते है, ससार उनके सन्मुख मस्तक झुकाता है।

तप का प्रभाव

एक राजा वडा प्रमादी था और सदा विपय-भोगो मे अनुरक्त रहता था। वह अपने राज्य-कार्य मे वडी लापरवाही रखता था अत वह सारा कार्य उसके मन्त्री को ही करना पडता था।

मन्त्री प्रथम तो वेचारा दिन-रात राज्य के कार्य मे व्यस्त रहता, और कभी राजा के पास किसी आवश्यक कार्य से जाता तो राजा घटो उसे द्वार पर विठाये रखता। जैसे-तैसे मिलता तो भी सीधे मुँह बात न करता और नाना प्रकार से उसकी भर्त्सना करने लगता था।

यह सव देखकर मन्त्री को इन सासारिक कार्यों से वडी नफरत हो गई। यद्यपि वह राज्य का कर्ता-धर्ता था और उसके पास भी अतुल ऐश्वर्य इकट्ठा हो गया था, किन्तु उसमे उसे तनिक भी सुख नजर नही आता था।

आखिर उसने सव कुछ छोड देने का निश्चय किया और एक दिन अपने पुत्रो को आदेश दिया—"जितना भी धन ले जा सको ले जाकर किसी अन्य राजा के राज्य मे रहो।"

पुत्रो ने पिता की आज्ञा का पालन किया और धन-माल लेकर किसी अन्य स्थान पर चले गये। इधर मन्त्री ने बचा हुआ धन गरीबो को बाँट दिया और स्वय चुपचाप जगल की ओर चल दिया। जगल मे जाकर उसने घास-फूस की एक छोटी सी झोपडी बनाई और उसमे रहकर तप करने लगा।

जब दो चार दिन बाद उस विषयी राजा के राज्य मे मन्त्री के न होने से बडी अव्यवस्था हो गई तो राजा को मन्त्री का ध्यान आया। उसने अपने कर्मचारी मन्त्री को बुलाने के लिए भेजे किन्तु उन्होंने लौटकर यही उत्तर दिया—"मन्त्री तो सन्यासी बन गए हैं और तपस्या करने मे लग गए हैं"

तब राजा स्वय जगल मे मन्त्री के पास गया और बोला—"मन्त्रिवर! तुम तो इतने बडे राज्य के सम्पूर्णत कर्ता-धर्ता थे तथा प्रचुर धन तुम्हारे पास था, फिर क्यो सन्यासी हो गए हो? इस तपस्या मे लग जाने से तुम्हे क्या हासिल हुआ?"

मन्त्री ने उत्तर दिया—"महाराज! मेरे सन्यासी बन जाने और तपाराधन करने से प्रथम तो यही हुआ है कि जहाँ मैं आपके द्वार पर घटो बैठा रहता था और आप दर्शन भी नही देते थे, आज स्वय ही चलकर मेरे पास आए हैं। यह केवल मेरे दो-चार दिन के तप ही का फल है। अधिक करने पर फिर क्या लाभ होगा यह अगला समय बताएगा। किन्तु यह तो निश्चित है कि धन-वैभव और विषय-भोगो का त्याग कर देने पर तुरन्त ही शुभ फल की प्राप्ति होने लगती है। जब तक मैं आपका मन्त्री बनकर इन सासारिक सुखो को सुख मानता रहा, मुझे एक दिन के लिए भी शाति प्राप्त नही हुई। पर आज उस सबको छोड देने से मैं अपने आपको बडा हलका मानता हूँ तथा मेरा चित्त बड़ी शाति का अनुभव करता है। वास्तव मे ही इन्द्रियो का दास बनने से बढकर ससार मे और कोई दुख नहीं है। इसीलिए मैं सब छोड-छाडकर तपाराधन मे लग गया हूँ और अब आपके राज्य मे लौटकर नही आऊँगा।"

मन्त्री की बातें सुनकर राजा की भी आखें खुल गई और वह भी अपने पुत्र को राज्य सौंपकर साधु बन गया तथा अपने मन और इन्द्रियो को पूर्णत वश मे करके तपश्चर्या मे लीन हो गया।

आगे कहते हैं—वृक्ष मे पत्तियाँ भी होती है, वे पत्तियाँ कौनसी हैं? उत्तर दिया है—दैदीप्यमान अभयदान करने की जो प्रवृत्ति है वे ही इस तप-रूपी कल्पवृक्ष की पत्तियाँ हैं।

मेघ कुमार मुनि ने अपने पिछले हाथी के भव मे तीन दिन तक पैर ऊँचा रखकर एक खरगोश के प्राण बचाये। यह अभयदान का उत्कृष्ट उदाहरण है। हमारे आगमो मे बताया गया है कि पशु भी त्याग, व्रत तथा प्रत्याख्यान करके आठवें स्वर्ग तक जा सकता है। फिर मनुष्यो मे तो ऐसी अभयदान की उत्तम भावना हो तो वह क्या नही प्राप्त कर सकता ?

शरणागत की रक्षा करना इतना उत्तम धर्म है कि उसके समक्ष अन्य समस्त धर्म क्रियाएँ भी फीकी है। जो व्यक्ति ऐसा नही करता उसके सभी सुकृत नष्ट हो जाते है। कहा भी है—

शरणागत कहुँ जे तजहिं, हित अनहित निज जानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं विलोकत हानि ॥

—सत तुलसीदासजी

कहते है— जो व्यक्ति अपनी ही लाभ-हानि का विचार करता हुआ शरण मे आए हुए को शरण देने से इन्कार कर देता है उस अधम और पापी व्यक्ति का दर्शन भी महा अशुभ होता है।

और इसके विपरीत प्राणियो की रक्षा करने वाले महान् पापी के समस्त पापो का प्रायश्चित रक्षा करने जैसे पुण्य-कर्म के द्वारा होता है। अभयदान देना व्रत, उपवास, जप, तप आदि समस्त क्रियाओ से उत्तम है।

श्लोक मे कहा है—शील सम्पत्प्रवाल । जो तपस्वी होगा वह शील-धर्म का पालन अवश्य करेगा। शील की महिमा अपरम्पार है और उसका पालन करने वाले विरले ही होते हैं।

महात्मा कबीर ने कहा भी है—

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिमा तपिमा बहुत हैं सीलवत कोई एक ॥

कहत हैं—ज्ञानी, ध्यानी, सयमी, दानी, शूरवीर और जप-तप करने वाले तो बहुत मिल जाते हैं किन्तु शीलवान पुरुप कोई-कोई ही होते है।

कहने का अभिप्राय यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त कठिन है और सच्चा तपस्वी ही इसका पूर्णतया पालन कर सकता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि तपस्या का मूलाधार ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य का अथवा शीलधर्म का पालन न करने पर कठिन से कठिन या घोर तपस्या भी निर्जीव और निष्फल सावित होती है। शील-धर्म के सयोग से ही तपस्या महान बनती है।

श्री सूत्रकृताग मे कहते भी है—

"तवेसु वा उत्तम वंभचेरं ।"

अर्थात्—ब्रह्मचर्य व्रत सव नपो मे उत्तम है ।

स्पष्ट है कि जीवन मे शील-धर्म का वडा भारी महत्व है । इसी के वल पर धर्म, सत्य, सदाचार, वल व लक्ष्मी आदि टिके रह सकते है । शील ही इन सव सद्गुणो का आश्रय-स्थल है ।

महर्षि वेदव्यास ने भी शील की महिमा का वखान करते हुए महाभारत मे लिखा है—

शीलं प्रधानं पुरुषे, तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न वंधुभि ॥

व्यासजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि शील मानव जीवन का अमूल्य रत्न है । उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीना ही व्यर्थ है चाहे वह कितना ही धनी अथवा भरे-पूरे घर का क्यो न हो ।

अव प्रश्न होता है कि तप-रूपी कल्पवृक्ष का सिचन किस प्रकार के जल से होता है ? उत्तर है—श्रद्धा रूपी जल से वह सीचा जाता है । श्रद्धा के अभाव मे तप तो क्या कोई भी शुभ क्रिया फलदायिनी नही वनती क्योकि श्रद्धा वह शक्ति है जो कर्म करने मे उत्साह, प्रेरणा एव आत्मिक वल प्रदान करती है । श्रद्धा के अभाव मे मनुष्य कभी भी इस ससार-सागर से पार नही हो सकता । न कभी ऐसा हुआ है और न होना सभव ही है । ऐसा क्यो ? इसलिए कि—

"श्रद्धावान् लभते ज्ञानं, तत्पर· सयतेन्द्रिय ।"

यह गीता की वात है कि—श्रद्धालु पुरुप ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होने पर ही इन्द्रियो की सयम-साधना हो सकती है ।

आशय यही है कि श्रद्धा के द्वारा व्यक्ति अपनी उत्तम मे उत्तम अभिलाषा को भी पूर्ण कर लेता है । वैष्णव ग्रन्थो मे एक लघुकथा है—

पापों का भागीदार कोई नहीं

रत्नाकर नामक एक व्याध था । यद्यपि वह ब्राह्मण था फिर भी व्याध का कार्य करता था । रत्नाकर जगल मे पशु-पक्षियो का शिकार तो करता था वन-मार्ग से होकर जाने वाले व्यक्तियो को भी लूट लेता था ।

एक दिन सयोग वश उधर से नारद जी निकले । व्याध ने उन्हे भी घेर लिया । छीनने के लिए तो उनके पास था ही क्या ? पर नारद जी ने व्याध से कहा—भाई ! तुम अपने जिन स्वजनो के लिए ये घोर पाप-पूर्ण कार्य करते हो वे सब तुम्हारे द्वारा उपार्जित इस धन के ही भोक्ता हैं, किन्तु तुम जो महान पापो का उपार्जन कर रहे हो इनमे कोई भी हिस्सा नही बटायेगा ।

व्याध ऋषि की बात सुनकर चकित हुआ और बोला—"क्या आप सच कहते हैं ? इन समस्त पापो का फल अकेले मुझे ही भोगना पडेगा ?"

"हाँ यह बिलकुल सत्य है । कोई भी तुम्हारे पापो मे हिस्सा बटाने के लिए तैयार नही होगा, विश्वास न हो तो जाकर अपने घरवालो से पूछ आओ ! मैं तब तक यही खडा रहूँगा ।"

रत्नाकर व्याध की नारद ऋषि के प्रति अनायास ही श्रद्धा उमड पडी थी अत उन पर विश्वास करके वह भागा हुआ घर गया और बारी-बारी से अपनी पत्नी, पुत्र, भाई आदि सभी से पूछा—"मेरे कमाए हुए धन मे से तो तुम सभी हिस्सा बटाते हो पर मेरे पापो का कष्ट भोगने मे कौन-कौन हिस्सा बटाएगा, यह बताओ ?"

व्याध की बात सुनकर सब मौन रह गए, किसी ने भी पापो मे हिस्सा बटाने के लिए हाँ नही की । यहाँ तक कि उसकी पत्नी भी इसके लिए तैयार नही हुई । इसीलिए महापुरुष प्राणी को चेतावनी देते हैं—

पापो का फल एकले, भोगा कितनी बार ?
कौन सहायक था हुआ, करले जरा विचार !
कर जिनके हित पाप तू, चला नरक के द्वार ।
देख भोगले स्वर्ग-सुख, वे ही अपरम्पार ॥

तो रत्नाकर व्याध जिन भयकर पापो का उपार्जन कर रहा था उनका फल भोगने मे जब परिवार का एक भी व्यक्ति तैयार नही हुआ और उन्होंने कह दिया—"हम तुम्हारे पाप के भागी नही हैं" तो व्याध की आँखें खुल गई और वह उलटे पैरो लौटा । नारद जी के समीप आकर वह उनके चरणो पर गिर पडा और बोला—

"भगवन, मुझे क्षमा कीजिये । आपकी बात यथार्थ है । मेरे घर पर एक

भी व्यक्ति मेरे पापो मे हिस्सा लेने को तैयार नही है। अब आप ही बताइये मेरा उद्धार कैसे हो सकेगा ?"

नारदजी ने कहा—"भाई! तुम 'राम-नाम' जपा करो।"

पर आश्चर्य की बात थी व्याध "राम राम" शब्द का उच्चारण नही कर सका।

बजाय उसके व्याध ने प्रसन्नता-पूर्वक इस बात को स्वीकार कर लिया और श्रद्धापूर्वक राम के बदले उलटा 'मरा-मरा' मन्त्र का जप करने लगा। इसी मन्त्र के प्रताप से वह व्याध आगे जाकर 'वाल्मीकि' मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यह सब श्रद्धा का ही प्रताप था। श्रद्धा ऐसी अमूल्य और चमत्कारिक भावना है कि उसके द्वारा मनुष्य के मन के समस्त दुर्गुण दूर हो जाते हैं तथा भावनाएँ विषय-विकारो की ओर से हटकर शुभ-क्रियाओ को प्रेरणा देने लगती हैं। सम्यक् श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल कारण होती है जो मानव को उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर करती है। इसके अभाव मे मनुष्य का जीवन ज्ञान को पीठ पर लादे हुए गधे के समान बन जाता है। अर्थात् श्रद्धा के अभाव मे ज्ञान केवल दिमाग मे बोझ के सदृश ही रह जाता है। उसका कोई उपयोग नही होता। अतएव प्रत्येक साधक और तपस्वी को अपना प्रत्येक शुभ कर्म श्रद्धा की स्निग्धता के साथ करना चाहिये, तभी इच्छित फल की प्राप्ति हो सकती है।

अब हमारे सामने प्रश्न आता है—कल्पवृक्ष मे फूल कैसे लगते हैं? इस विषय मे विवेचन करने की आवश्यकता नही है क्योकि उत्तम कुल, उच्च-जाति, आर्यदेश, सुन्दर शरीर विपुल ऐश्वर्य, एव स्वर्ग की प्राप्ति आदि सभी तप-धर्म के फूल अथवा पुष्प है।

किन्तु हमे केवल पुष्पो से ही सन्तोष नही कर लेना चाहिये अपितु इस वृक्ष से फलो को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान मे रखने की बात है कि तपस्या मे जहाँ चाह की भावना रहती है अर्थात् साधक श्रेष्ठि, राजा, या देव-पद आदि को प्राप्त करने की कामना मन मे रखता है तो स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। पर यह तप का दोष है।

तप का सच्चा और सर्वश्रेष्ठ फल केवल मोक्ष है। जो प्राणी निस्वार्थ

भाव से तप करता है वह अन्त मे आत्म-मुक्ति प्राप्त कर अक्षय सुख का भागी बनता है। इसीलिये महापुरुष प्राणी को बार-बार चेतावनी देते हैं —

"क्रूरद्वारकपाटभेदि दवरे स्फीत तपस्तप्यताम् ॥"

अर्थात् ससार रूपी कैदखाने के क्रूर द्वारो को चकनाचूर कर देने वाले और मोक्ष सुख को देने वाले इस समृद्ध तप की तुम आराधना करो।

बन्धुओ, तप के महत्त्व को आप समझ गये होगे और यह भी समझ गये होंगे कि इसे कल्पवृक्ष क्यो कहा गया है। यह जान लेने के बाद अब आवश्यक है कि हम अपनी शक्ति के अनुसार आन्तरिक और बाह्य तप करके कर्म-मल का नाक करें तथा सर्वोच्च गति की प्राप्ति के प्रयत्न मे जुट जाएँ। तभी हमारा मानव-जन्म सार्थक कहला सकेगा। ●

१५
विनय का सुफल
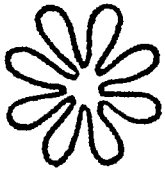
धर्मप्रेमी वधुओ, माताओ एव वहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय की पच्चीसवी गाथा का विवेचन करते हुए कल तपश्चर्या के विषय मे हमने विचार-विमर्श किया था और आज विनय के विषय मे कहना है।

विनय के सात भेद वताये गये हैं। किस किसका विनय करना चाहिये इस वारे मे कहा है—ज्ञान का विनय, दर्शन का विनय, चारित्र का विनय, मन का विनय, वचन का विनय, काया का विनय एव लोकोपचार विनय करना चाहिये। ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र आदि विनयो के साथ लोकोपचार विनय भी अन्त मे वताया है। यह क्या है इस विषय मे ठाणाग सूत्र मे कहा है —

"लोगोवयार विणए सत्तविहे पण्णत्ते तजहा अब्भासवत्तिय, परच्छदाणुवत्तिय, कज्जहेउ, कज्जपडिकइया, अत्तगवेसणया, देस-कालणया, सव्वत्यसुयपडिलोमया।"

इसमे लोकोपचार विनय सात प्रकार का वताया गया है जिनमे से पहला है —

अब्भासवत्तियं—अभ्यास का अर्थ है प्रयत्न करना। किन्तु यहाँ यह अर्थ नही लेना है, यहाँ अभ्यास से अर्थ लिया गया है—गुरु के नजदीक रहने का अभ्यास रखना। गुरु के समीप रहने से शिष्य को अनेक प्रकार का लाभ हासिल होता है। उनसे अध्ययन करने से शास्त्र-ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, साथ ही उनके जीवन से भी मूक शिक्षा मिलती रहती है जो शिष्य के चारित्र को शुद्ध और सुन्दर वनाती है। चारित्र का ज्ञान केवल पुस्तको और धर्म-ग्रन्थो मे पढकर प्राप्त नही किया जा सकता, उसे व्यवहार मे लाकर ही समझा जा

सकता है। चारित्र के बल पर ही मनुष्य अपने जीवन को दूषित करने वाले सासारिक प्रलोभनो से वच सकता है।

इसीलिए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज मनुष्य को चरित्रवान बनने के लिये प्रेरणा देते हुए कहते हैं —

मानुष जनम शुभ पाय के भुलाय मत,
औसर गमाय चित्त, फेर पछितावेगो।
साधु जन सगत अनेक भाँत कर तप,
छोरिके कुपथ एक ज्ञान पथ आवेगो॥
जीव दया सत्य गिरा अदत्त न लीजे कभी,
धारिके शियल मोह ममत मिटावेगो।
ठावेगो सुक्रिया एते मन मे विराग धार,
कहे अमीरिख तबे मोक्षपद पावेंगो॥

कवि ने कहा है—हे जीव! ऐसा महान और शुभ मानव भव पाकर तू भूल मत कर, अगर यह अवसर तूने खो दिया तो फिर जन्म-जन्मान्तर तक पश्चात्ताप करना पडेगा। इसलिए साधु-जनो की तथा गुरुओ की सगति कर, उनके समीप रहकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र एव तप की आराधना करने का प्रयत्न कर तथा अज्ञान एव मिथ्यात्व के कुपथ पर न चलकर ज्ञान के शुभ मार्ग पर आ!

हे साधक! तेरा चारित्र तभी निर्मल बनेगा जव कि तू अहिंसा का पालन करेगा, अपनी जिह्वा से सत्य का ही उच्चारण करेगा, कभी विना दी हुई वस्तु को नही लेगा, शीलवान् बनेगा तथा समस्त सासारिक वस्तुओ पर से आसक्ति हटाकर निरासक्त भाव से अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ आत्मा की उन्नति के लिये भी प्रयत्न करता रहेगा। ऐसा करने पर ही तू अपने सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकेगा।

वस्तुत. जो साधक अपने गुरु के समीप रहकर ज्ञानार्जन के साथ-साथ आत्मा को उन्नत वनाने वाले अन्य सद्गुणो को ग्रहण करने का प्रयतन करेगा तथा अपने गुरु की दिनचर्या, उनके त्याग-प्रत्याख्यान तथा उनकी तप साधना पर प्रगाढ विश्वास और श्रद्धा रखता हुआ उन्हे अपनाने का प्रयत्न करेगा वही अपनी आत्मा को सफल वनाता हुआ आत्म-कल्याण कर सकेगा।

लोकोपचार विनय का दूसरा भेद है —**परच्छदाणुवत्तियं**'। इसका अर्थ है वडो के स्वभाव के अनुकूल रहना अथवा वडो के चरण-चिह्नो पर चलना। यह भी विनय का एक महत्वपूर्ण अग है। जो विनीत साधक या शिष्य अपने गुरु के द्वारा तिरस्कृत होकर भी उनके प्रति आस्था और पूर्ण भक्ति रखता है उसके लिये ससार मे कुछ भी अलभ्य नही होता।

विनय का फल

आपने चन्द्रयश मुनि का उदाहरण सुना होगा। जव उन्होंने दीक्षा ग्रहण नही की थी, एक दिन अपने वहनोई के साथ आचार्य रुद्रदत्त मुनि के दर्शनार्थ गये।

साले वहनोई का रिश्ता हँसी मजाक का होता है, यह आप जानते हैं। इसी दृष्टि से चन्द्रयश कुमार के वहनोई ने मजाक मे आचार्य से कह दिया—"यह हमारे साले चन्द्रयश जी आपके शिष्य होने के लायक हैं।"

आचार्य रुद्रदत्त वडे क्रोधी स्वभाव के थे अत उन्होंने यह सुनते ही पास ही पडी हुई राख मे से मुट्ठी भर राख उठाई और चन्द्रयश के मस्तक के वालो का लुंचन कर दिया। इस घटना को चन्द्रयश ने अन्त करण से स्वीकार किया और उसी वक्त मुनिवेश धारण करके अपने आपको मुनि मान लिया।

पर अव एक समस्या वडी विकट सामने आ खडी हुई। चन्द्रयश मुनि ने सोचा—"मैं अचानक ही मुनि वन गया हूँ अत अव मेरे माता-पिता और कुटुम्वीजन आकर गुरुजी को परेशान करेंगे और वुरी-भली कहेगे अत अच्छा हो कि हम आज ही यहाँ से अन्यत्र चल दें।" यह विचार कर वे विनयपूर्वक आचार्य से वोले—

"भगवन ! हम आज ही यहाँ से चल दें तो कैसा रहे ?"

क्रोधी गुरु ने उत्तर दिया—"तुझे दिखाई नही देता कि मैं चल सकने लायक नही हूँ।"

"मैं आपको अपने कन्धे पर उठाकर ले चलूँगा।" चन्द्रयश मुनि ने कहा और किया भी यही। वे गुरुजी को अपने कन्धे पर विठाकर वहाँ से शाम को रवाना हो गये। रास्ते मे घोर अन्धकार था, कुछ भी सुझाई नही देता था अत पत्थर आदि की ठोकर लगने से आचार्य का शरीर अधिक हिल उठता था और अत्यधिक जर्जरावस्था होने के कारण उन्हे तकलीफ होती थी। परिणाम-

स्वरूप वे अपने हाथो और पैरो से नवदीक्षित मुनि को मारते जा रहे थे तथा जवान से कटूक्तियाँ कहते जा रहे थे।

किन्तु धन्य थे चन्द्रयश मुनि, जो कि गुरु के वाक्य वाणो की अथवा हाथो और पैरो के प्रहारो की परवाह न करते हुए विचार कर रहे थे—"हाय ! मैं कैसा पापी हूँ जिसके कारण मेरे गुरुजी को इतनी तकलीफ हो रही है। उनके इस दुःख और विनय ने उनके परिणामो मे इतनी उच्चता ला दी कि उस समय ही उन्हे वह केवलज्ञान हो गया जो कि वर्षों की घोर तपस्या और महान साधना के पश्चात् भी प्राप्त नही होता।

केवलज्ञान के परिणामस्वरूप उन्हे मार्ग कर-कंकणवत् सुझाई देने लगा और वे पूर्ण सावधानी से गुरु को उठाये हुए मार्ग पर चलने लगे। इसका फल यह हुआ कि चन्द्रयश मुनि को ठोकरें नही लगी और आचार्य को तकलीफ होना वन्द हो गई। पर उन्हें इससे वडा आश्चर्य हुआ और इसीलिए शिष्य से पूछा—"क्या वात है ? मार्ग वही है और घोर अँधेरा भी। फिर तू इतनी सावधानी से कैसे चलने लग गया है ?"

मुनि ने अत्यन्त विनयपूर्वक ही उत्तर दिया—

"गुरुदेव ! यह सव आप ही की कृपा का फल है क्योकि मैं अव सव कुछ और यह मार्ग भी पूर्ण रूप से देख रहा हूँ। इसीलिए चलने मे तकलीफ नही होती और आपको भी कष्ट नही हो रहा है।"

ज्यो ही गुरुजी ने यह वात सुनी, वे समझ गये कि मेरे शिष्य को केवलज्ञान हो गया है। इस वात को जानते ही अव उनके हृदय मे पश्चात्ताप का तूफान उठा। वे विचार करने लगे—"हाय ! मैं कितना दुष्ट हूँ जो अव तक अपने इस विनीत और केवलज्ञान के अधिकारी शिष्य को हाथ-पैरो से चोटें पहुँचाता रहा। धिक्कार है मुझे जो मैंने ऐसे केवलज्ञानी को असातना पहुँचाई।"

पश्चात्ताप की भावना गुरु रुद्रदत्त आचार्य के हृदय मे इतनी उग्र हुई और परिणामो मे इतनी उच्चता तथा तीव्रता आई कि उसी क्षण उन्हें भी केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो साधक विनय को अन्तरतम मे प्रतिष्ठित कर लेता है उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नही रहता। विनय गुण के

द्वारा ही चन्द्रयश मुनि ने स्वय केवलज्ञान प्राप्त किया और अपने गुरु को भी प्राप्त करवाया।

इसीलिए शास्त्र मे कहा गया है कि गुरुजनो के स्वभाव के अनुकूल रहना चाहिये। गुरु क्रोधी हो सकते हैं, पिता क्रोधी हो सकते हैं तथा सास व ससुर भी क्रोधी हो सकते हैं किन्तु महानता उसी व्यक्ति की है जो अपने मधुर व्यवहार और विनय से उन्हे सन्तुष्ट करे और अपने आपको उनके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे।

'कज्जहेउं' यह लोकोपचार विनय का तीसरा भेद है। इसका अर्थ है— कार्य सम्पन्न करने हेतु विनय करना। मान लीजिये, किसी को ज्ञान प्राप्त करना है तो वह जिस किसी के पास भी मिले, विनयपूर्वक ग्रहण करे। कभी भी यह न सोचे कि ज्ञानदाता मुझसे निम्न कुल का है, निम्न जाति का है या कि अन्य धर्म या सम्प्रदाय का है। दो अक्षर सिखाने वाला भी ग्रहण करने वाले के लिये गुरु और पूज्य होता है। एक उदाहरण से आप यह बात समझ सकेंगे।

विनय के अभाव मे विद्या हासिल नहीं होती

राजा श्रेणिक के राज्य मे एक भगी रहता था। एक बार उसकी पत्नी गर्भवती हुई। गर्भावस्था मे उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ और अपने पति से उसने अपनी इच्छा जाहिर की।

भगी पत्नी की इच्छा को जानकर बहुत चिंतित हुआ क्योकि उन दिनो आम का मौसम था नही अत वह कही से आम नही ला सकता था। किन्तु अचानक उसे ध्यान आया कि राजा श्रेणिक के निजी बाग मे आम के ऐसे पेड हैं जिनमे सदा ही आम लगा करते हैं। यह ध्यान आते ही भगी अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने अपनी स्त्री के दोहद को पूरा करने का निश्चय किया।

आप सोचेंगे कि राजा के शाही बगीचे मे से भगी को कौन आम लाने देता, पर यह समस्या हल करना उसके लिये कोई बडी बात नही थी। क्योकि भगी को ऐसी एक सिद्धि हासिल थी कि वह अपने तीर के द्वारा कही से भी कोई भी चीज अपने पास मँगवा सकता था। अत उसने यही किया, अर्थात् बगीचे के बाहर से ही तीर छोडा और एक आम उसमे फँसकर आ गया।

घर जाकर उसने आम पत्नी को दिया और पत्नी ने उसे खाया। पर वह आम उसे इतना अधिक स्वादिष्ट लगा कि वह प्रतिदिन पति को उसे मँगाने

के लिये वाध्य करने लगी। भगी अपनी विद्या के वल से रोज आम लाने लगा। फल यह हुआ कि वगीचे मे आमो की सख्या वहुत कम हो गई और वहाँ का माली वडा चकित हुआ कि वगीचे मे चोर कभी दिखाई देता नही, पर आम घटते जा रहे हैं। उसने जाकर राज-दरवार मे इस वात की शिकायत की।

फलस्वरूप राजा श्रेणिक ने अपने असाधारण वुद्धिशाली मन्त्री अभयकुमार के द्वारा आमो के चोर (भगी) का पता लगवाया और उसे मृत्युदण्ड देने की आज्ञा दी।

भगी जाति से निम्न था किन्तु ज्ञान मे वढा-चढा और एक अद्वितीय विद्या का अधिकारी था। उसने कहा —

"राजन्! आप मुझे सहर्ष मृत्युदण्ड दे दीजिये किन्तु पहले मुझ से वह विद्या सीख लीजिये जिसके द्वारा मैं विना बगीचे मे घुसे ही आम मँगवा लिया करता था। अन्यथा वह मेरी मृत्यु से मेरे साथ ही समाप्त हो जायेगी।"

श्रेणिक को भगी की वात जँच गई और उन्होने उसे दरवार मे विद्या सिखाने के लिये उपस्थित होने का आदेश दिया। भगी दरवार मे लाया गया और उसे अपनी विद्या सिखाने के लिये कहा। भगी ने अपनी विद्या सिखाना प्रारम्भ किया किन्तु राजा श्रेणिक के पल्ले उसका एक अक्षर भी नही पडा। इससे श्रेणिक नाराज हो गये और वोले—"लगता है कि तू मुझे धोखा दे रहा है या कपट करता है। अन्यथा तेरी विद्या मुझे समझ मे क्यो नही आती ?"

मन्त्री अभयकुमार उस वक्त दरवार मे उपस्थित थे और अव उचित अवसर देखकर वोले— 'हुजुर विद्या विनय के अभाव मे नही सीखी जा सकती। आप सिंहासन पर विराजमान है और यह भगी आपके समक्ष खडा है। फिर विद्या आप किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं? गुरु के समक्ष तो आपको पूर्ण नम्रता और विनीतता के साथ ही रहना पडेगा।"

वात राजा की समझ मे आ गई और वे तुरन्त सिंहासन से उतर गये। तत्पश्चात् उन्होंने उस भगी से गुरु के समान ही हार्दिक श्रद्धा अर्पित करते हुए यथा विधि विद्या देने की प्रार्थना की। राजा के विनय का चमत्कारिक फल हुआ और अल्प समय मे ही उन्होंने विद्या मे सिद्धि हासिल कर ली।

विद्या-दान के पश्चात् भगी को मृत्यु दण्ड देने के लिये ले जाया जाने लगा किन्तु मन्त्री अभयकुमार जो कि प्रारम्भ से ही भंगी को काल का ग्रास बनने देना नही चाहते थे,राजा से बोले—"गरीब परवर ! अपराध क्षमा करें, अब यह भगी जो कि आपको विद्या-दान देने के कारण आपके लिये गुरु के समान पूज्य बन गया है आपके द्वारा मृत्युदण्ड दिया जाने लायक नही है। क्या कोई शिष्य अपने गुरु को मृत्युदण्ड दे सकता है ?"

अपने पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार की बात सुनकर राजा श्रेणिक की आँखे खुल गई और उन्होंने उसी क्षण भगी को सजा से बरी करके ससम्मान विदा किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी भी कार्य को सम्पन्न करने, अथवा किसी भी कला को सीखने के लिये विनय गुण की प्रथम और अनिवार्य आवश्य-कता है। इसके अभाव मे मनुष्य कभी भी अपने शुभ लक्ष्य की प्राप्ति नही कर सकता। अत इसे लोकोपचार विनय का तीसरा भेद कहा गया है।

अब हमारे सामने चौथा भेद आता है—'**कज्जपडिकइया**'। इसका अर्थ है—उपकार करने वाले का बदले मे उपकार करना। हमारा धर्म तो कहता है—अपना अपकार कोई करे तो उसका भी मनुष्य उपकार ही करे, अपकार नही। फिर उपकार करने वाले का तो उपकार करना ही चाहिये।

महाकवि कालिदास ने तो कहा है—

> **न क्षुद्रोऽपि प्रथम-सुकृतापेक्षया सश्रयाय।**
> **प्राप्ते मित्रे भवति विमुख किम्पुनर्यस्तयोच्चै ॥**
>
> —मेघदूत

अपने ऊपर उपकार करने वाला मित्र यदि दैवयोग से अपने घर आ जाय तो नीचात्मा भी भक्तिपूर्वक उसका आदर करते हैं, उससे विमुख नही होते फिर उच्चात्माओ का तो कहना ही क्या है। अर्थात् वे तो उपकार करने वाले का उपकार करते ही हैं।

युग प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ टैगौर ने भी बडे भाव भरे शब्दो मे कहा है —

He who wants to do good knocks at the gate , he who loves finds the gate open

जो दूसरो पर उपकार जताने का इच्छुक है, वह द्वार खटखटाता है। जिसके हृदय मे प्रेम है उसके लिये द्वार खुले हैं।

कहने का साराश यही है कि उपकारी का उपकार करना एक प्रकार से अपना ही उपकार करना है और मनुष्य जीवन की सफलता इसी मे है कि वह अपने उपकारी के उपकार को कभी न भूले और उसके किये हुए उपकार से वढकर उसका उपकार करे। उपकार के विषय मे अधिक क्या कहा जाय उसका महत्व तो पशुपक्षी भी समझते हैं।

जीवनदाता को जीवनदान

कहते हैं कि एक बार एक चीटी नदी के जल मे वही जा रही थी। नदी के किनारे पर खडे हुए वृक्ष पर उस समय एक चिडिया बैठी थी उसने चीटी को जल मे वहते हुए देखा तो उसे वडी दया आई किन्तु वह निकाले कैसे ? सोच विचार कर चिडिया ने चीटी के पास एक वृक्ष का पत्ता गिरा दिया। चीटी पत्ते पर आकर वैठ गई तो चिडिया ने उस पत्ते को अपनी चोच से उठाकर नदी से वाहर सूखी जमीन पर रख दिया। परिणाम यह हुआ कि चीटी की जान वच गई। दोनो मे इस घटना के पश्चात् वडी मित्रता हो गई।

चीटी चिडिया के प्रति वडी कृतज्ञ हुई और अपने पर उपकार करने वाली चिडिया का वदला चुकाने का अवसर देखने लगी। आखिर एक दिन उसे मौका मिल ही गया।

एक शिकारी उस जगल मे आया और शिकार करता हुआ घूमने लगा। इसी वीच उसने चीटी की सखी चिडिया पर भी निशाना साधा। चीटी ने ज्योही यह देखा वह दौडकर शिकारी के हाथ पर चढ गई और ज्योही शिकारी ने गोली चलाई, उसने शिकारी के हाथ पर जोर से काट खाया। चीटी के काटते ही शिकारी का हाथ हिल गया और उसका निशाना चूक गया। परिणाम स्पष्ट है कि चिडिया वच गई। इस प्रकार उस नन्ही-सी चीटी ने भी अपनी जीवनदात्री चिडिया की जान वचाकर अपने उपकार का वदला चुका दिया।

आज तो हम देखते हैं कि अनेक वैभवशाली व्यक्ति अपने धन के नशे मे चूर हो जाने के कारण अपने पूर्व के उपकारी किन्तु निर्धन मित्रो के उपकार को ही नही भूल जाते, अपितु उनको अपना मित्र कहने मे भी सकोच और लज्जा का अनुभव करते हैं। ऐसे कृतघ्न पुरुषो के विषय मे महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है —

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादा कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥

अर्थात्—जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर अपने मित्रो के कार्य को पूरा करने की परवाह नही करते उन कृतघ्न पुरुषो के मरने पर मासाहारी जन्तु भी उनका मास नही खाते।

कवि के कथन का यही आशय है कि उपकारी के उपकार को न मानना तथा उसके उपकार को भूल जाना महान कृतघ्नता है और इससे बढकर ससार मे अन्य कोई पाप नही है।

इसीलिए महर्षि वेदव्यास महाभारत के वन पर्व मे कहते है—

पूर्वोपकारी यस्ते स्यादपराधे गरीयसी।
उपकारेण तत् तस्य क्षन्तव्यमपराधिना ॥

जिसने पहले कभी तुम्हारा उपकार किया हो, उससे यदि कोई भारी अपराध भी बन जाय, तो भी पहले के उपकार का स्मरण करके उस अपराधी के अपराध को क्षमा करते हुए उसकी भलाई करनी चाहिए।

उपकार का बदला उपकार से चुकाना भी विनय गुण कहलाता है और लोकोपचार विनय के चौथे अग के रूप मे बताया जाता है।

महापुरुष तो सदा अपने अपकारी का भी उपकार ही करते हैं। मराठी भाषा मे कहा है —

दिधले दुःख पराने, उसणे फेडूं नयेचि सोसावे।
शिक्षा देव तयाला, करिल म्हणोनि उगेंचि बैसावें ॥

बधुओ! आज के युग मे तो कविताएँ मन की लहरो के अनुसार ही लिखी जाती हैं और उनमे शृगार रस की भरमार होती है। किन्तु प्राचीन काल के कवि अपनी प्रत्येक कविता किसी न किसी प्रकार की शिक्षा को लेकर ही लिखते थे। मराठी का यह पद्य जिस समय मैं स्कूल मे पढता था, उस समय बोली जाने वाली कविता मे से है, जिसमे कहा गया है—भले ही दूसरो ने तुम्हे अनेको दुःख दिये है, किन्तु तुम उसके साथ वैसा मत करो अर्थात् उन्हे दुख मत दो।

दुःख देने वाले को सुख पहुँचाना ही महान आत्माओ के लक्षण हैं।

भगवान महावीर को भुजग चण्ड कौशिक ने डसा किन्तु क्या भगवान के मन मे उसका अपकार करने की भावना आई ? नही, उन्होंने तो उसे करुणापूर्वक ऐसा प्रतिबोध दिया कि वह असख्य चीटियो के द्वारा शारीरिक रूप से चलनी के समान बना दिया जाने पर भी, तथा राहगीरो के द्वारा पत्थर मारे जाने पर भी समभाव रखता हुआ, मरकर आठवें स्वर्ग मे गया। साराश यही है कि भयकर रूप से डस लेने वाले सर्प को भी भगवान ने आठवें स्वर्ग मे पहुँचा दिया। इससे वढकर उपकार और क्या हो सकता है ?

सती चदनवाला की कथा भी आपने अनेक वार सुनी और पढी होगी। मूला सेठानी उसे हथकडी वेडियो मे जकड देती है, उसका सिर मुडा देती है तथा नाना प्रकार के अन्य अनेकानेक कष्ट देती है। किन्तु भगवान महावीर को उडद के छिलको का आहार देने पर जव सौनेयो की वृष्टि देवताओ के द्वारा होती है तो वह मूला सेठानी को ग्रहण करने के लिए कहती हुई कहती है "यह सव आपके उपकार का ही परिणाम है।" इस प्रकार मूला सेठानी के दिये हुए कष्ट को भी वह उपकार कहकर अपने असख्य निविड कर्मों की निर्जरा कर लेती है।

इसीलिए कवि कहते हैं—

जो तुझको कांटा वुवे, ताहि वोव तू फूल।
तुझको फूल का फूल है, वाहि शूल का शूल ॥

यानी, "तू किसी की वुराई का वदला वुराई से मत दे ! तुझे तो भलाई के वदले लाभ ही होगा और वुराई करने वाले को स्वय उसके कर्म सजा दे देंगे। तू उसकी वुराई की सजा देकर स्वय पाप-कर्म का भागी मत बन !"

सीधे-सादे शब्दो मे कहे गए इन शब्दो मे कितना रहस्य है ? कितनी महान शिक्षा है यह ? अगर मनुष्य इस वात को समझ ले तो उसकी आत्मा कभी भी निचाई की ओर नही जा सकती। महापुरुष इस गुण को अपनाकर ही अपनी आत्मा को उन्नत वनाते हैं।

सक्षेप मे, इस विपय को लेकर तीन वृत्तियो का रूप दिया जा सकता है। पहली वृत्ति या भावना जो शैतान की कहलाती है, वह है—उपकार करने वाले का भी अपकार करना। दूसरी भावना साधारण मानव की होती है, जो अपने ऊपर उपकार करने वाले का समय मिलते ही उपकार करके वदला चुकाता है। तीसरी सर्वोच्च और महान भावना है जो देवताओ की अथवा

साधु-पुरुषो की कहलाती है। वह है—अपने पर अपकार करने वाले पर भी उपकार ही करना। बुराई का वदला भी भलाई से ही देना। बुराई के वदले बुराई और भलाई के बदले मे भलाई करना कोई वडी वात नही है। महानता तो उसी भव्यप्राणी की मानी जा सकती है जो बुराई के वदले मे भलाई करे। वही सच्चा साधु कहला सकता है।

सस्कृत के एक पद्य में भी कहा गया है—

उपकारिषु य साधु, साधुत्वे तस्य को गुण ?
अपकारिषु यः साधु, स साधु सद्भिरुच्यते ॥

उपकार के वदले मे जो साधु उपकार करे उसमे उसका क्या साधुत्व है? साधु तो वही कहला सकता है जो अपकार का वदला भी उपकार के रूप मे देवे। प्राणी की महानता तभी सावित होती है जब वह दूसरो के किये हुए अपकार को तथा अपने द्वारा किये हुए उपकार को भूल ही जाय। जैसा कि सत तुलसीदास जी ने कहा है—

करी बुराई और ने, आप कियो उपकार।
तुलसी इन दो वात को, चित से देहु उतार ॥

क्या कहते हैं तुलसीदास जी ? वे भी इन दो बातो को भूल जाने की प्रेरणा देते हैं। जो अभी-अभी मैंने वताई हैं। वैसे भी एक कहावत है—"नेकी कर और कुए मे डाल।" इसका अर्थ भी यही है किसी के साथ नेकी करके उसे भूल जाओ, कभी भी पुन स्मरण मत करो। अन्यथा तुम्हारे दिल मे अहकार की भावना पनप जाएगी।

आज तो दुनिया इससे उलटी ही चलती है। वह औरो के सद्गुणो को अथवा उनकी की हुई भलाई को तो याद नही रखती उलटे उनकी की हुई बुराई को अथवा उनके आवेश मे कह दिए गए दुर्वचनो को ही याद रखती है। अनेक व्यक्ति तो मृत्यु के समय तक भी किसी से वँधे हुए वैर को नही त्यागते और कह जाते हैं—"मेरी लाश भी अमुक व्यक्ति को छूने मत देना।"

कितने अज्ञान और अविनय की भावना है यह ? आत्मा को ऐसे वैर से कितनी हानि पहुँचती है ? जन्म-जन्मान्तर तक भी उससे वँधे हुए कर्मो से छुटकारा नही मिल पाता और वह ससार मे पुन-पुन जन्म-मरण करती हुई भटकती रहती है।

इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि किसी के उपकार का बदला तो उपकार रके दो ही, साथ ही अपकार करने वाले का भी उपकार करो, अपकार के दले अपकार करके कर्मों का बन्ध मत करो ।

लोकोपचार विनय का पाँचवाँ भेद है—**'अत्तगवेसणया ।'** इसका अर्थ है, आत्मा की गवेषणा यानी खोज करना । आत्मा की खोज से तात्पर्य है आत्मा की शक्तियो को पहचानना तथा उसमे रहे हुए सद्गुणो को विकसित करना । जो व्यक्ति आत्मा की सच्ची पहचान कर लेता है वह न किसी सासारिक प्रलोभन मे फँसता है और न ही किसी वस्तु के अथवा सम्बन्धी के वियोग पर ही शोक करता है । यहाँ तक कि अपनी मृत्यु के समीप आ जाने पर भी वह भयभीत नही होता, किसी भी प्रकार का दु ख महसूस नही करता । क्योकि वह भली-भाँति जान लेता है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि,
न्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराण,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठोपनिषद

नित्य चैतन्य रूप आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है, न यह किसी से हुआ है और न इससे कोई हुआ है । यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और पुराण है, शरीर के मारे जाने पर भी यह मरता नही है ।

यही वात गीता मे भी कही गई है—

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूत ॥

इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते अग्नि जला नही सकती, जल इसे भिगो नही सकता और पवन इसे सुखा नही सकता ।

स्पष्ट है कि आत्मा अजर-अमर है और अनन्त शक्तिशाली है । सम्यक्-दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चारित्रमय है । आवश्यकता है केवल इनकी पहचान करने की और इनके द्वारा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करते हुए इसे पूर्ण विशुद्ध बनाने की । यह तभी हो सकता है जवकि इस पाप रहित, जरा-रहित, मृत्यु रहित, शोक रहित, भूख और प्यास रहित आत्मा को जानने की मनुष्य इच्छा करे और इसके सच्चे स्वरूप को समझ कर इसकी मुक्ति का

प्रयत्न करने मे लग जाय। वह आत्मा मे रहे हुए सद्गुणो को जगाए त
दया एव अहिंसा की भावना को हृदय मे प्रतिष्ठित करता हुआ अपनी आत
के समान ही अन्य सभी की आत्मा को समझे। अपने दुख-दर्द की तरह ह
औरो के दुख-दर्द को माने। जो प्राणी ऐसा समझ लेता है वह स्वप्न मे भ
किसी अन्य को कष्ट पहुँचाने की कामना नही करता।

दया का महत्त्व बताते हुए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने भी
कहा है —

जगत के जीव ताको आतम समान जान,
सुख अभिलाषी सब दुख से डरत है।
जाणी हम प्राणी पालो दया हित आणी,
यही मोक्ष की निसाणी जिनवाणी उचरत है।
मेघरथराय मेघकुवर धरमरुचि,
निज प्राण त्याग पर जतन करत है।
जनम मरण मेट पामत अनन्त सुख,
अमीरिख कहै शिव सुन्दर वरत है।

कवि कहते हैं—जिस प्रकार हमारी आत्मा दु ख से भयभीत होती है
तथा सुख की अभिलाषा करती है, उसी प्रकार ससार का प्रत्येक प्राणी दु ख
से डरता है तथा सुख प्राप्ति की कामना करता है। यह विचार करके प्रत्येक
मुमुक्षु को पर-हित और पर-दया का पालन करना चाहिए यही भावना मोक्ष
की प्राप्ति कराती है ऐसा जिनवाणी का कथन है। इसी भावना के कारण
राजा मेघरथ, मुनि धर्मरुचि और मेघकुमार आदि ने अपने प्राण देकर भी अन्य
प्राणियो की प्राण रक्षा की। दया की भावना से ही जीव जन्म-मरण का अन्त
करके अक्षय सुख की प्राप्ति करता है तथा शिव-रमणी का वरण करता है।
यह सब आत्मा को पहचान लेने पर ही सभव होता है। इसीलिए इसे लोको-
पचार विनय का अग माना है तथा आत्मा का विनय कहा गया है।

इस विनय का छठा भेद है—'देशकालणया।' देश मे कैसी परिस्थिति
चल रही है और किस वक्त उसे क्या आवश्यकता है इस बात की भी मनुष्य
को जानकारी रखनी चाहिए तथा परिस्थिति के अनुसार अपना सहयोग देने
का प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी जाता है—

जननी जन्मभूमिश्च, स्वर्गादपि गरीयसी ।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं । इसीलिए अनेको देशभक्त देश के लिए अपने प्राण भी न्यौछावर करने मे नही हिचकिचाते । किसी ने तो यहाँ तक कहा है—

"देश-भक्त के चरण स्पर्श से कारागार अपने को स्वर्ग समझ लेता है, इन्द्रासन उसे देखकर काँप उठता है । देवता नन्दन-कानन से उस पर पुष्प-वृष्टि कर अपने को धन्य मानते हैं, कलकल करती हुई सुर-सरिता और ताण्डव नृत्य मे लीन रुद्र भी उसका जय-जयकार करते हैं ।"

कहने का अभिप्राय यही है कि जव तक मनुष्य इस मानव देह को धारण किये रहता है उसे अपने परिवार, समाज और देश मे रहना पडता है । अत सभी के प्रति यथोचित कर्तव्यो का पालन करना उसका अनिवार्य फर्ज हो जाता है । जिस देश मे उसने जन्म लिया है, जहाँ की हवा और पानी ने उसके शरीर का पोपण किया है उसके प्रति मानव का कर्तव्य है कि वह जहाँ जिस प्रकार की जरूरत हो उसे पूरा करने मे तत्पर रहे । यही देश के प्रति विनय की भावना कहलाती है ।

अव लोकोपचार विनय का अन्तिम और सातवाँ भेद हमारे सामने आता है—'**सव्वत्थेसुयपडिलोमया** ।' अर्थात्—समस्त सासारिक पदार्थों पर अना-सक्त भाव रखना । भावना का जीवन मे वडा भारी महत्त्व होता है । क्योकि कर्मों का वन्ध भावनाओ पर ही आधारित है । अगर व्यक्ति की किसी वस्तु मे आसक्ति नही है तो वह भले ही चक्रवर्ती क्यो न हो और अनेकानेक इन्द्रिय-सुखो का उपभोग क्यो न करता हो, अपनी आत्मा को मुक्ति की ओर ले जाता है, तथा आसक्ति रहने पर एक दरिद्र भी परिग्रह के पाप का भागी वनकर नरक की ओर प्रयाण करता है ।

ससार मे अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो गेरुआ वस्त्र पहनकर लम्वी-लम्वी मालाएँ गले मे डाल लेते हैं तथा अपने आपको साधु घोपित कर देते हैं । किन्तु अनेक वार रात के अँधेरे मे उन्हे सिनेमाघरो मे वैठे हुए पाया जाता है । वस्त्र वैरागियो जैसे और मन भोगियो जैसा हो तो आत्म-कल्याण किस प्रकार होगा ? वनाना तो मन को वासनाहीन है न ! मन जव भोगेच्छाओ से रहित हो जाता है तो उस पर सच्चे वैराग्य और भक्ति का रग शीघ्र चढता है । और इसके विपरीत अगर मन वासनाओ की कालिमा से काला वना हुआ है तो उस पर वैराग्य का रग चढना सम्भव नही है ।

सच्चा साधु तो अपने मन और इन्द्रियो को अपने वश मे करता हुआ लक्ष्मी से कहता है—

> मातर्लक्ष्मि भजस्व कञ्चिदपर मत्काक्षिणी मा स्म भू-
> र्भोगेभ्य. स्पृहयालवो नहि वयं का निस्पृहाणामसि ?
> सद्य स्यूतपलाश पत्र पुटिका पात्रे पवित्रीकृते,
> भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वय वृत्ति समीहामहे।
>
> —भर्तृहरि

अर्थात्—'हे मा लक्ष्मी ! अब तो तू किसी और की तलाश कर, मुझे तो विषय भोगो की तनिक भी चाह नही है। मेरे जैसे निस्पृह और इच्छा रहित व्यक्ति के लिए तू सर्वथा तुच्छ है, क्योकि मैंने अब पलाश के पत्रो के दोनो मे केवल भिक्षा के सत्तू से ही गुजारा करने का सकल्प कर लिया है।

वन्धुओ ! जो प्राणी इस प्रकार अपनी इच्छाओ को समाप्त कर देता है, किसी भी पदार्थ पर आसक्ति नही रखता तथा सुख भोग और धन वैभव को तुच्छ समझता है वही परमपद को प्राप्त कर सकता है। और इसके विपरीत जो पर-पदार्थों पर से अपना ममत्व नही हटाता तथा जीवन के अन्त तक भी उनमे आसक्त बना रहता है वह धर्माराधन का दिन-रात ढोग करके भी अपनी आत्मा को रच मात्र भी ऊँची नही उठा पाता। परिणाम यह होता है कि उसकी समस्त ऊपरी क्रियाएँ उसकी अन्तरात्मा को नही छूती और उसका समस्त प्रयत्न व्यर्थ चला जाता है।

इसलिये साधक को चाहिये कि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काम और लोकोपचार विनय को समझे तथा उसको अपने जीवन मे उतारे। तभी वह अपने मानव पर्याय को सार्थक कर सकता है तथा जीवन का सच्चा लाभ उठा सकता है। ●

१६
सत्य का अपूर्व बल
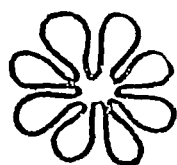
धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाइसवें अध्याय की पच्चीसवी गाथा के आधार पर कई दिन से हम विचार-विनिमय कर रहे हैं। विनय के विषय मे कल बताया जा चुका है। विनय के पश्चात् गाथा मे 'सच्च' शब्द आया है। सच्च का अर्थ है—सत्य। सत्य के विषय मे रुचि रखना तथा सत्य बोलना क्रिया रुचि के अन्दर ही आता है।

सत्य का माहात्म्य

महर्षि वेदव्यास ने सत्य को अत्यन्त महान और सबसे बढकर धर्म माना है। कहा है—

"सत्य से बढकर धर्म नही है। सत्य स्वय परब्रह्म परमात्मा है।"

और महात्मा गाँधी ने कहा है —

"परमेश्वर सत्य है, यह कहने के बजाय सत्य ही परमेश्वर है।" यह कहना अधिक उपयुक्त है।"

एक पाश्चात्य विद्वान के भी यही विचार हैं—

"One of the sublimest things in the world is plain truth."

—बुल्वर

सरल सत्य ससार की सर्वोत्कृष्ट वस्तुओ मे से एक है।

अभिप्राय यही है कि सत्य जीवन का सबसे सुन्दर श्रृंगार है और सर्वोत्तम धर्म है। जो व्यक्ति मन से, वचन से और शरीर से सत्य का आचरण करता है वह परमेश्वर को पहचान लेता है तथा मुक्ति का अधिकारी बनता है। देखा जाय तो सत्यवादी और असत्यवादी दोनो की अन्त मे गति एक सी

ही होती है। एक दरिद्र की कब्र भी उसी प्रकार जमीन मे बनाई जाती है जिस प्रकार एक अमीर की।

किसी उर्दू भाषा के शायर ने कहा है—

झाड उनकी कब्र पै है औ निशा कुछ भी नही,
जिनके धोसो से जमीनो-आसमां थे कांँपते।
चुप पड़े हैं कब्र मे अव हूँ न हाँ कुछ भी नही।
तख्तवालो का पता देते हैं तख्ते गौर के,
दम व खुद है कब्र में वागे अजा कुछ भी नही।।

कितनी दर्दनाक तस्वीर है? कहा है—जिनके उद्‌घोष से पृथ्वी और आसमान भी कांप जाते थे वे ही महा प्रतापी व्यक्ति आज कब्र मे सोये हुए है अब वे न अपने वैभव का प्रदर्शन कर सकते हैं और न ही उनकी वुलन्द आवाज ही कही गूँज सकती है। उनका समस्त गौरव और समस्त वल उनके साथ ही कब्र मे सो गया है। साथ गया है नो केवल उनका पुण्य और अशुद्ध कर्म।

वस्तुत मनुष्य कैसा भी क्यो न हो, अगर वह धर्मपरायण और सत्य-वादी है तो अपने साथ पुण्य ले जाता है और मिथ्याभाषी तथा पापात्मा होता है तो पाप कर्मों का बोझ लादकर ससार मे भटकता है।

हमारे प्रश्न व्याकरण सूत्र के द्वितीय सवरद्वार मे सत्य के विषय मे अत्यन्त विस्तृत वर्णन दिया गया है। सत्य क्या है? सत्य से क्या-क्या लाभ हैं? इसके कितने नाम करण किये गये है? आदि-आदि सभी बातें सूत्र मे समझाई गई हैं। एक स्थान पर यह भी कहा गया है—"**सच्च खु भगव।**" अर्थात्—सत्य ही भगवान है।

सत्यवादिता साधारण वस्तु नही है। एक जबरदस्त कसौटी है, जिस पर विरले ही खरे उतरते हैं। और जो खरे उतर जाते हैं, उनका नाम सदा के लिये अमर हो जाता है। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को हजारो युग वीत जाने पर भी ससार याद करता है। वह क्यो? इसीलिये कि उन्होंने सत्य के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया तथा अपनी पत्नी और पुत्र को भी वेचा। क्या प्रत्येक व्यक्ति सत्य की ऐसी कसौटी पर खरा उतर सकता है? नही ऐसी

महान् आत्माएँ कोई-कोई ही होती हैं। और जो होती हैं वे अधिक काल तक ससार-भ्रमण नही करती।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सत्य भाषण करते हुए अपना आचरण उत्तम वनाना चाहिए तथा झूठ को कभी भी प्रश्रय नही देना चाहिये।

सस्कृत के एक विद्वान् ने असत्य भाषण को अत्यन्त हानिकर वताते हुए कई उदाहरणो से इसकी पुष्टि की है। कहा है—

यशो यस्माद् भस्मीभवति वनवह्नेरिव वन,
निदान दुखाना यदवनिरुहाणा जलमिव।
न यत्र स्याच्छायातप इव तप सयम-कथा,
कथ चित्तन्मिथ्यावचनमभिधत्ते न मतिमान्॥

कवि का कथन है—जिस प्रकार वन मे दावानल लग जाने पर सम्पूर्ण जगल जलकर भस्म होजाता है, उसी प्रकार असत्य भाषण भी इस ससार रूपी वन मे दावानल के समान है जिसके प्रज्वलित हो जाने से मानव का यश और कीर्ति सभी भस्म हो जाते हैं।

दूसरा उदाहरण झूठ के लिये यह दिया गया है कि जैसे वृक्ष के लिये जल मूल के समान होता है अर्थात् जल ही वृक्ष को पल्लवित पुष्पित करता है तथा उसे पुष्ट वनाता है उसी प्रकार झूठ दुख रूपी वृक्ष को पुष्ट करता है। यानी झूठ बोलने से, दुखो की प्राप्ति होती है।

तीसरी वात श्लोक मे वताई गई है—छाया मे धूप नही रहती और धूप मे छाया नही रहती, अर्थात् धूप और छाया एक साथ कभी नही रह सकते उसी प्रकार असत्य जहाँ रहता है वहाँ जप, तप सयम नही रहता तथा जहाँ ये सव रहते हैं वहाँ असत्य नही टिकता।

इसलिये जो वुद्धिमान व्यक्ति होते हैं वे कभी असत्य को धारण करके अपने जप, तप तथा सयम की साधना को नष्ट नही करते।

सन्त तुकाराम जी भी सक्षेप मे सत्य और असत्य की पहचान इस प्रकार कराते है—

सत्य तोचि धर्म असत्य ते कर्म,
आणीक हे वर्म नाहीं दुजे॥

सत्य भाषण करना परम धर्म है और असत्य बोलना कर्म बन्धन का कारण है।

आप भी एक दोहा प्राय बोलते हैं—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥

अर्थात्—सत्य के समान अन्य कोई धर्म या तप नही है तथा झूठ बोलने जैसा अन्य कोई भी पाप नही है। जो व्यक्ति सत्य बोलता है उसके हृदय मे परमात्मा स्वय निवास करते है।

वास्तव मे जो सत्य बोलता है, उसकी ईश्वर भी स्वय सहायता करता है एक उदाहरण से आप इसे भली-भाँति समझ पायेंगे।

सत्य की रक्षा

एक बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके एक ही पुत्र था। इकलौता लडका होने के कारण वह बडे लाड प्यार मे पल रहा था। परिणाम यह हुआ कि उस पर किसी का अनुशासन या अकुश नही रह सका तथा वह दुष्ट मित्रो की सगति मे पड गया। दुर्जनो की सगति के कारण उसमे और अनेक अवगुण तो आ ही गये, साथ ही वह चोरी करने मे भी निपुण हो गया।

धीरे-धीरे कई व्यक्तियो ने आकर श्रावक के आगे शिकायते करना प्रारम्भ किया कि आपका पुत्र चोरी करता है। यह सुनकर पिता को बडा दुख हुआ पर उन्होंने प्रेम से पुत्र को समझाया—"बेटा! चोरी करना महापाप है, साथ ही वह अपयश का कारण भी बनता है अत तुम इस दुर्गुण का त्याग कर दो। लोग मुझे उपालम्भ देते हैं।"

किन्तु पुत्र ने उत्तर दिया—"पिताजी! आपने मुझे चोरी करते हुए देखा है क्या? लोग आकर झूठी शिकायतें करने लग जायँ तो मैं क्या करूँ।"

बेचारा पिता चुप हो गया। कहता भी क्या? उसने आँखो से तो लडके को चोरी करते देखा नही था। पर पाप का घडा कभी न कभी फूटना ही है। एक बार वह लडका चोरी करते हुए पकडा गया और लोगो ने गवाह के रूप मे उसके पिता का ही नाम लिखवा दिया। क्योकि वे जानते थे कि श्रावक कभी झूठ नही बोलते।

अव जब चोर पुत्र का मुकदमा न्यायालय मे उपस्थित हुआ तो उसके पिता को गवाही के लिये बुलवाया गया। जज ने उससे प्रश्न किया—"क्या तुम्हारा लडका चोरियाँ करता है ? इस चोरी मे भी उसका हाथ है क्या ?

अब श्रावक के सामने वडी कठिनाई आ उपस्थित हुई। झूठ वह बोल नही सकता फिर कहे क्या ? सत्य वोले तो वेटा जेल जाता है और असत्य कहे तो उसके व्रत खण्डित होते हैं।

फिर भी उसने पूर्णतया विचार कर सत्य बोलने का ही निश्चय किया और मर्यादित शब्दो मे उत्तर दिया —

"साहव ! आपने मेरे पुत्र के वारे मे पूछा है। यद्यपि मैंने इसे चोरी करते हुए कभी देखा नही है किन्तु लोगो ने समय-समय पर आकर अवश्य इसके चोरी करने की शिकायतें मुझसे की हैं। यह आपके सामने है आप जैसा उचित समझें करें। मुझे कुछ भी नही कहना है।"

श्रावक के और एक पिता के यह शब्द सुनकर मजिस्ट्रेट अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके हृदय मे आया "कितना सत्यवादी पिता है यह ? पर कैसा दुर्भाग्य है कि इसके ऐसा कुपुत्र पैदा हुआ।"

किन्तु अन्त मे उसने निर्णय देते हुए यही कहा—मैं केवल तुम्हारे पिता की सत्यवादिता से प्रभावित होकर तुम्हे इस वार छोड रहा हूँ तथा आशा करता हूँ कि अब तुम कभी चोरी करने जैसा जघन्य कार्य नही करोगे।"

वन्धुओ, इस उदाहरण से यही शिक्षा मिलती है कि मानव चाहे कैसी भी विकट परिस्थिति मे क्यो न हो उसे सत्य का त्याग नही करना चाहिये। सत्य एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके प्रभाव से अनहोनी सम्भव हो जाती है और झूठ के कारण वनता हुआ कार्य भी विगड जाता है। झूठे व्यक्ति का कोई कभी विश्वास नही करता तथा उसे अप्रतिष्ठा का भागी वनना पडता है। भले ही झूठ मधुर शब्दो मे बोला जाय, वह हानि ही पहुँचाता है।

कवि कुलभूषण पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने कहा भी है —

झूठ वतावत साँच समोकर,
जहर मिलाय के देत है गूल।
कहत तिलोक करे मन को वश,
जाय जमा वश झूठ के सूल ॥

कवि का कथन है मधुर शब्दो मे बोला गया झूठ ठीक वैसा ही कहलाता है, जैसे गुड के अन्दर विष मिलाकर किसी को दे दिया जाय। इसीलिये प्रत्येक मानव को अपने मन पर सयम रखते हुए असत्य भाषण की प्रवृत्ति का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। असत्य भाषी अविश्वास का पात्र बनता है।

जब मैं स्कूल मे पढा करता था तो पुस्तक मे एक पाठ आया था, आप लोगो ने भी उसे पढा होगा—एक गडरिये का बालक जब अपनी बकरियो को चराने के लिये जगल मे जाता था तो प्रतिदिन चिल्लाता था—"भेडिया आया, भेडिया आया।"

उसकी आवाज सुनकर आस-पास खेतो मे काम करने वाले किसान दो चार तो बडी तेजी से दौडकर आये पर जब देखा कि लडका झूठ-मूठ ही चिल्लाया करता है तो उन्होंने फिर उसके चिल्लाने पर आना बन्द कर दिया।

पर सयोगवश एक दिन भेडिया सचमुच ही आ गया। उसे देखते ही लडका कांप गया और जोर से चीखा—"अरे दौडो, बचाओ! भेडिया आया है मुझे खा जायेगा।"

किन्तु आप समझ सकते हैं कि उसका क्या परिणाम होना था? यही हुआ कि लोगो ने उसके चीखने-चिल्लाने को झूठ समझा और भेडिया बकरी को उठाकर ले गया।

इस ससार मे आजकल मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया मे असत्य का पुट दिये बिना नही रहता। कचहरी मे देखा जाय तो वकील सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा प्रमाणित करने के प्रयत्न मे रहते हैं, दुकानो पर दुकानदार वस्तुओ की अधिक कीमतें बताकर लोगो को ठगने की कोशिश करते है और परिवार मे भी प्रत्येक सदस्य असत्य भाषण करके अपने पिता का भाई का या अन्य किसी का धन हडप जाने की फिराक मे रहता है।

इन सब बातो को लक्ष्य कर किसी कवि ने मनुष्य को झिडकी दी है —

झूठ कपट सू मन भर्यो ज्ञान ध्यान सू दूर,
काम क्रोध से बन कर्यो रह्यो घमण्ड मे चूर,
नूर सब खोय दियो थारो ।

कहा है—"अरे अज्ञानी! तू जीवन भर झूठ और कपट के धन्धे ही करता रहा और इसी कारण ज्ञान-ध्यान मे तेरा चित्त नही लगा। केवल भोगो की

तृप्ति के लिये और अपने अहकार का पोषण करने की तेरी प्रवृत्ति बनी रही किन्तु इसका परिणाम क्या हुआ ? यही कि तूने अपना नूर या कि गौरव-खो दिया।" और —

सट्टा पट्टा तू किया, किया अनोखा काम।
काल बजारी मे फँस्यो लियो न सत गुरुनाम।
कमायो खोय दियो सारो ··।

"अरे मूर्ख ! यह मानव जन्म पाकर तूने किया क्या ? यही अनोखा कार्य किया कि या तो सट्टे के बाजार मे उन्मत्त की तरह दाव लगाता रहा और इससे भी सब्र नही हुआ तो काला-धन्धा करता रहा। बस इनसे तुझे फुरसत ही नही मिली कि कभी ईश्वर का स्मरण करता। पर क्या तू समझता है मैंने बहुत कमाई कर ली है ? नही यह जान ले कि उलटे इस सब के कारण तूने पूर्व जन्मो मे किये हुए पुण्य की सारी कमाई खो दी है। जिन पुण्य कर्मों के बल पर यह दुर्लभ देह तुझे मिली थी उस सचित कमाई को भी तूने नष्ट कर दिया है।

कवि ने आगे भी कहा है—

बडा बणाया बगलडा, किया पाप रा काम।
रिस्वत सूं धन जोडियो-झूठ कमायो नाम॥
बढायो आरम्भ री बारो ।

"अरे भोले प्राणी ! तूने पाप-कर्म कर करके बडे-बडे बगले बनवा लिये हैं पर क्या तू इनमे हमेशा ही बना रह सकेगा ?

इसी द्वार से निकालेंगे

एक महात्मा घूमते-घामते किसी सेठ के घर जा पहुँचे। सेठ ने उन्ही दिनो अपनी बडी भारी हवेली बनवाई थी। अत महात्माजी को भोजन करा कर वह उन्हे अपनी हवेली दिखाने लगा। आलीशान मकान की महात्माजी सराहना करते चले गए। किन्तु जब सेठ अपने अपूर्व सुन्दर शयनगृह मे उन्हे ले गया और उसमे रखी हुई दुर्लभ वस्तुओ को तथा उसकी अपूर्व बनावट को दिखाने लगा तो महात्मा जी ने कह दिया—"सेठजी ! सब कुछ ठीक है पर एक भूल आपने इसे बनवाते हुए करदी है।"

सेठजी चौंक पडे और बोले—"भगवन् ! क्या भूल हो गई इसका निर्माण करने मे ?"

"तुमने इसमे से निकलने के लिए यह द्वार क्यो बनवा दिया ?" संत शांति पूर्वक बोले

सेठजी हँस पडे और कहने लगे— 'वाह गुरुदेव ! अगर इसमे द्वार नही होता तो आप और मैं अभी इसमे से आते ही कैसे ? और फिर बिना द्वार का भी कमरा होता है क्या ?"

"पर मेरे भाई ? जब तुम्हारे प्राण इस देह को छोडकर चले जाएँगे तो लोग इसी द्वार से तुम्हे निकाल कर भी तो ले जाएँगे न ! फिर क्या इस शयनगृह मे तुम एक दिन भी अधिक रह सकोगे ?

महात्मा जी की बात सुनते ही सेठ को आत्म-बोध हुआ और उसे अपनी भूल महसूस हो गई कि ये सब विशाल मकान और महल मानव के लिए व्यर्थ हैं। आँख मूँदते ही इनके महत्व उसके लिए रचमात्र ही नही रहता।

इसीलिए कवि ने कहा है कि पाप कर्म कर करके बडे-बडे बगले बनाकर तथा घूस और रिश्वत ले लेकर धनवान के रूप मे प्रसिद्धि पा लेना और धन कुबेर कहला कर दुनियाँ मे नाम कमाना व्यर्थ है। इससे केवल ससार-भ्रमण बढता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि असत्य और छल-कपट मनुष्य को पतन की ओर ले जाते हैं। अत प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को सत्य-धर्म की ही आराधना करनी चाहिये। सत्य का पालन करने के लिये यह अनिवार्य नही है कि व्यक्ति साधु ही बन जाय। प्रत्येक साधारण व्यक्ति या चोर, डाकू और कसाई भी सत्य का पालन कर सकता है फिर आप तो इतने बडे-बडे श्रावक हैं, चाहे तो सहज ही सत्य की आराधना कर सकते हैं।

विश्वास बडी भारी चीज है। आप पोस्ट ऑफिस मे जाते हैं और बिना भाव-ताव किये लिफाफे या कार्ड खरीद लेते है। क्या वहाँ आप कार्ड-लिफाफो के पैसे कम करने के लिये कहते हैं ? नही, क्योकि आपको विश्वास है कि यहाँ इनकी एक ही कीमत है। किन्तु आपकी दूकान पर जब ग्राहक आता है तो वह आपसे कितनी हुज्जत करता है ? ऐसा क्यो ? कारण इसका यही है कि आप बीस रुपये की वस्तु के पहले तीस रुपये दाम बताते हैं। ग्राहक भी

जानता है कि आप ज्यादा दाम बताते हैं और वह पन्द्रह रुपये से कहना प्रारम्भ कर देता है। परिणाम यह होता है कि आप कीमत घटाते जाते हैं और वह थोडा-थोडा वढाता जाता है। वडी कठिनाई से एक स्थान पर आकर फैसला होता है और वस्तु की विक्री होती है। ग्राहक कम से कम मे लेना चाहता है और आप अधिक से अधिक वसूल करने की इच्छा रखते है। इस पर कितनी कठिनाई दुकान चलाने मे होती है ?

पर इसकी बजाय अगर आप अपनी प्रत्येक वस्तु की ईमानदारी और सच्चाई से एक ही कीमत रखे तो कितनी झझटो से वच जाय ? कुछ दिन तक तो अवश्य अपनी साख बनाने मे आपको प्रतीक्षा करनी पडेगी। पर ज्यो ही लोगो को मालूम हो जायगा कि आपकी दूकान पर सही और एक ही दाम की वस्तुएँ मिलती हैं तो वे चटपट विना भाव-ताव किये आपकी वस्तुएँ खरीदने लगेंगे।

आज हम देखते हैं कि कितनेक लोग व्यापार करते समय दाम के सम्बन्ध मे झूठी कसमे खा जाते हैं। और कसमे भी किमकी ? अपने या अपने परिवार वालो की नही, अपितु धर्म की और भगवान की। ठीक भी है। जब धर्म का पता नहीं और भगवान को देखा नही तो उनकी कसमे खाने मे विगडता ही क्या है ?

पर याद रखो ! यह जीवन ही आत्मा की आदि और अन्त नही है। पूर्वकृत पुण्यो के वल पर तो आपको यह मनुष्य जन्म और वुद्धि मिल गई पर वेईमानी और झूट-कपट के कारण वँधते जाने वाले कर्मों के कारण अगले जन्म मे सोचने विचारने की शक्ति भी मिलेगी या नही यह कोई नही जान सकता।

ससार के सभी धर्म सत्य की महिमा की मुक्त कठ से सराहना करते हैं। महाभारत मे कहा गया है—

सर्ववेदाधिगमन सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यस्यैव च राजेन्द्र, कला नार्हन्ति षोडशीम्॥

समस्त वेदो का ज्ञान और पठन तथा समस्त तीर्थों का स्नान सत्य के सोलहवें भाग के वरावर भी नही होता।

और तो और, जिस मुस्लिम धर्म को हम अपना धर्म-विरोधी मानते हैं, उसमे भी कहा गया है कि सत्य को अपनाओ, उसे छोडो मत—

"बला तस बिसुल हक्का बिल्बातले व तकमतुल हक्का ।"

इसका अर्थ है—सत्य पर आवरण मत डालो, उसे छिपाओ मत। सत्य अत्यन्त वलशाली और पराक्रमी होता है। जिस प्रकार सूर्य के समक्ष अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के सामने असत्य नही टिकता उसका लोप हो जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्य सभी धर्मो का मुख्य अग माना गया है। तथा सभी ने उसकी महत्ता वताते हुए उसे आत्मा का स्वाभाविक और परम पवित्र गुण माना है। प्रत्येक वह साधक जो मुक्ति का अभिलाषी है तथा साधना के पथ पर वढना चाहता है उसे सर्व प्रथम सत्य धर्म को अगीकार करना चाहिये। सत्य के अभाव मे वह आत्मोन्नति के मार्ग पर एक कदम भी आगे नही वढ सकता। कहा भी है—

"धर्म सत्ये प्रतिष्ठित ।"

सत्य ही महान् है अत अन्य समस्त धर्म उसी मे समाहित हो जाते है।

वास्तव मे ही जहाँ सत्य प्रतिष्ठित होता है वहाँ से छल, कपट, ईर्ष्या, मिथ्याभाषण एव अनीति आदि समस्त दुर्गुण पलायन कर जाते हैं आवश्यकता केवल यही है कि मानव दृढ सकल्प सहित सत्य की आराधना करे तथा उसे दुर्गुणो को आने मे रोकने के लिये एक सजग प्रहरी के समान नियुक्त करे। क्योकि तनिक भी असावधानी से अगर एक भी दुर्गुण हृदय मे प्रवेश कर गया तो उसके साथियो को आते देर नही लगेगी।

सत्य का स्थान

सत्य का स्थान केवल वचन मे ही नही होना चाहिये अपितु मन और शरीर मे उसे स्थान देना चाहिये। अर्थात् वचन से सत्य बोला जाना चाहिये, मन मे भी सच्चे विचार लाने चाहिये और उन्ही के अनुसार कर्म मे भी सच्चाई होनी चाहिये।

किसी कवि ने महात्मा पुरुप के लक्षण वताते हुए कहा भी है—

मनस्येकं वचस्येक, कर्मण्येक महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्, कार्ये चान्यद् दुरात्मनाम् ॥

महात्मा पुरुप के मन वचन तथा कर्म, तीनो मे एकरूपता रहती है तथा दुरात्मा अथवा दुर्जन व्यक्ति इन तीनो मे भिन्नता रखता है। अर्थात्—वह मन मे सोचता कुछ और है तथा कार्य कुछ और ही प्रकार के करता है।

स्पष्ट है कि केवल जिह्वा से वोला हुआ सत्य कभी आत्मा को उन्नत नही वना पाता, जव तक कि उसके अनुरूप मन मे सच्चाई न हो और मन की सच्चाई के अनुरूप क्रिया न की जाय। दूसरे शव्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जैसा मन मे विचार किया जाय। वैसा ही वोला जाना चाहिये और जैसा वोला जाय उसी के अनुरूप कर्म भी किये जाने चाहिये। ऐसा करने पर ही कहा जा सकता है कि सत्य को सच्चे अर्थों मे स्वीकार किया गया है। जो भव्य प्राणी ऐसा करते हैं वे ही अज्ञान के अन्धकार को चीरकर ज्ञान के आलोक की ओर वढते है तथा आत्मा को परमात्मा वनाने की योग्यता हासिल करते हैं।

इसलिये प्रत्येक मुमुक्षु को अगर अपनी आत्मा का कल्याण करना है तथा चिरकाल से इस ससार-चक्र मे पिसती हुई अपनी आत्मा को अनन्त दुखो से वचाना है तो उसे मन, वचन और कर्म इन तीनो मे ही सत्य को रमाना होगा अन्यथा लक्ष्य-सिद्धि उससे कोसो दूर रहेगी।

सत्य भाषण भी वर्जित है

वन्धुओ, सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि क्या सत्य वोलना भी कभी हानिकर होता है और जिसे वोलने से इन्कार किया जाता है ? हाँ, यह सत्य है।

हमारे शास्त्र कहते हैं—सत्य का मूल ऋजुता अर्थात् सरलता है तथा असत्य का मूल क्रोध मान, माया तथा लोभ आदि चारो कपाय हैं। आप जानते ही हैं कि कपाय के वश मे होकर जो भी कार्य किया जाता है, विचारा और वोला जाता है वह सही अर्थो मे अपना शुभ परिणाम नही दिखाता। इसी प्रकार किसी भी कपाय के आवेश मे वोला हुआ सत्य भी असत्य ही सावित होता है। मानव जव वासनाओ के फन्दे मे फँसा रहता है, भोग-लिप्सा मे ग्रस्त रहता है तथा लोभ और लालच मे पडकर अपना विवेक खो वैठता है उस समय अगर वह सत्य भी वोलता है तो वह असत्य ही माना जाता है। इसी प्रकार किसी को अपमानित करने के उद्देश्य से, किसी के प्रति व्यग करने के विचार से अथवा किसी का उपहास करने की दृष्टि से अगर वह सत्य वोले तो असत्य की कोटि मे गिना जाता है।

दशवैकालिक सूत्र मे कहा भी है —

तहेव काण काणत्ति, पडग पंडगत्तिय ।
वाहियं वावि रोगत्ति, तेण चोरेत्ति नो वए ।।

अर्थात्—क्रोध कपाय के वशीभूत होकर किसी काने व्यक्ति को काना कहना, नपु सक को नपु सक कहना अथवा चोर को चोर कहना सत्य होने पर भी कष्ट पहुँचाने का कारण वनता है अत ऐमा सत्य वोलना वर्जित है ।

इसीलिए महापुरुप कभी ऐसी भाषा का प्रयोग नही करते तथा ऐसा सत्य नही वोलते जो अन्य प्राणी को दुख पहुँचाता है और उसके अनिष्ट का कारण वनता है । एक उदाहरण से यह वात स्पष्ट हो जाती है—

मौन सर्वोत्तम भाषा है

एक महात्मा किसी वन मे एक वृक्ष के नीचे वैठे हुए थे । सहसा उन्होंने एक मृग को अपने समीप से भागकर किसी दिशा मे जाते देखा । उसके नेत्रो से लोप होते ही उसके पीछे पडा हुआ शिकारी वृक्ष के समीप आया और महात्मा जी से पूछने लगा—

"महाराज ! अभी-अभी एक हिरण इधर आया था वह किस ओर भागकर गया है ?"

सत ने शिकारी की वात का कोई उत्तर नही दिया, पूर्णतया मौन रहे । अगर वे मृग के जाने की दिशा वता देते तो यद्यपि वह उनका सत्य-भाषण होता किन्तु उससे एक निरपराध प्राणी की हत्या हो जाती अत उन्होंने मौन रहना ही उत्तम समझा । वैसे भी कम वोलना तथा अधिक से अधिक मौन रहना ज्ञानवृद्धि, वुद्धि के विकास तथा स्मरण शक्ति को वढाने मे सहायक होता है । कहते भी हैं —

"मौनं सर्वार्थ साधनम् ।"

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव सत्य वोले पर वह प्रिय और हित-कर हो किसी को पीडा पहुँचाने वाला और अनर्थकारी न हो । अगर उसके सत्य से ऐसा होता है तो वह सत्य, सत्य नही है ।

आशा है आप मेरे आज के कथन को समझ गए होंगे तथा यह भी समझ गये होंगे कि सही अर्थो मे जिसे सत्य कहा जाता है वह कितना महिमामय है

और मन, वचन तथा शरीर से किस प्रकार उसकी आराधना करनी चाहिए। छल, कपट तथा मायाचारी के साथ बोला हुआ सत्य न तो दूसरो को लाभ पहुंचाता है और न ही बोलने वाले की आत्मा को उन्नत बना सकता है। उलटे वह आत्मा के पतन का कारण बनता है।

इसलिए जो प्राणी अपनी आत्मा का हित चाहते हैं, उसे अधोगति की ओर प्रयाण करने से रोकना चाहते हैं तथा सदा के लिए अनन्त सुख और अनन्त शान्ति की गोद मे विश्राम करना चाहते हैं, उन्हे सत्य को उसके शुद्ध रूप मे अपनाना चाहिए तथा इच्छित लक्ष्य की पूर्ति के प्रयत्न मे जुट जाना चाहिए।

●

१७
आत्म-साधना का मार्ग

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहिनो !

कई दिनो से हमारा विषय क्रिया रुचि के स्वरूप की जानकारी के लिये चल रहा है। क्रिया रुचि किसे कहते हैं इस सम्वन्ध मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय और सत्य का वर्णन समयानुसार किया जा चुका है। अव गाथा मे **'समिई'** शब्द है। समिई यानी समिति।

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो समिति मे 'सम्' उपसर्ग है और इति मे 'इण' धातु है। इण् का अर्थ है चलना। यह सव मिलाकर समिति का अर्थ होता है अच्छी तरह से चलना। पर प्रश्न उठता है समिति अच्छी तरह से किधर चलने को कहती है ? क्या दिल्ली वम्वई जैसे वडे-वडे नगरो की ओर या अमेरिका इगलैण्ड जैसे विदेशो की ओर ? नही, वह मोक्ष मार्ग की ओर अच्छी तरह से गति करने को कहती है। मोक्ष मार्ग के विरुद्ध चलना समिति नही कहलाती।

समिति पाँच प्रकार की है—**ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदानभाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति तथा उच्चार प्रश्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिष्ठायनिका समिति।**

(१) पाँच समितियो मे पहली **ईर्या समिति** है। ईर्या समिति किसे कहते हैं यह योग शास्त्र मे वताया गया है—

> **लोकातिवाहिते मार्गे, चुम्विते भास्वदंशुभि।**
> **जन्तुरक्षार्थमालोक्य, गतिरीर्या मता सताम्॥**

अर्थात्—जिस मार्ग पर लोगो का आवागमन हो चुका हो और जिस पर सूर्य की किरणे पड रही हो या पड चुकी हो, उस पर जीव-जन्तुओ की रक्षा

के लिये आगे की चार हाथ भूमि देखकर चलना सन्त पुरुषो के मत से ईर्या समिति है।

इस प्रकार विवेक पूर्वक गमन करने से किसी अन्य प्राणी को कष्ट नही होता, उसकी किसी प्रकार की हानि नही होती उल्टे अपना भी लाभ होगा कि प्रथम तो अन्य प्राणियो को कष्ट पहुँचाने के कारण बँधने वाले कर्मो से बचाव होगा तथा पथ पर बिखरे हुए काँटो से पैरो की तकलीफ नही होगी और ठोकर आदि लगने से गिर पडने का डर भी नही रहेगा।

राजस्थानी भाषा मे भी देखकर चलने से होने वाले लाभ को बडे रुचि-कर शब्दो मे कहा गया है—

नीचे देख्यां गुण घणा, जीव जन्तु टल जाय।
ठोकर की लागे नहीं, पड़ी वस्तु मिल जाय॥

देखकर चलने को कितना कल्याणकर माना गया है? कहा है नीचे दृष्टि डालकर चलने से एक तो जीवो की दया होगी, दूसरा फायदा ठोकर नही लगती, तीसरे सडक पर पडी हुई वस्तु भी प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार आध्यात्मिक और सांसारिक, दोनो दृष्टियो से नीचे देखकर चलने से लाभ होता है।

वैष्णव सम्प्रदाय मे भी ईर्या समिति की दूसरे शब्दो मे पुष्टि की गई है। कहा है—

दृष्टिपूत न्यसेत् पादं, वस्त्रपूत जल पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद् वाच, मन पूतं समाचरेत्॥

—मनुस्मृति

पद्य का पहला चरण हमारे विषय की पुष्टि करता है। इसमे कहा गया है—अगर तुम्हे चलना है तो दृष्टि से पवित्र भूमि पर अपने कदम रखने चाहिये। दृष्टि से पवित्र भूमि का क्या अर्थ है? यह नही कि नजर डाली और जमीन पवित्र हो गई। अर्थ यही है कि अपनी दृष्टि से मार्ग को देखो कि वह कीडे-मकोडे तथा अन्य सूक्ष्म जीवो से युक्त तो नही है। अगर वह सूक्ष्म प्राणियो से रहित है तो उसे पवित्र मानकर उस पर कदम बढाओ। ऐसा करने से द्रव्य और भाव दोनो तरह से लाभ है। द्रव्य दृष्टि मे जीव हिंसा नही होगी और भाव दृष्टि से आत्मा पर पापो का बोझ नही बढेगा।

पद्य के दूसरे चरण मे कहा है—'जल को वस्त्र से छाने विना न पिओ'। विना छाना हुआ जल पीने से अनेक वार कई जीव उदर मे चले जाते हैं जो वहाँ वढकर तकलीफ देते हैं अथवा शरीर के अन्य किसी हिस्से से निकलते हैं जिन्हे 'वाला' कहा जाता है।

आगे कहा गया है—'वाणी को सत्य से पवित्र करके वोलो।' इस विषय मे हम कल काफी विवेचन कर चुके है। वस्तुत वही वाणी पवित्र और उच्चारण किये जाने योग्य है जो सत्य से परिपूर्ण है।

पद्य का चौथा और अन्तिम चरण है—'मन पूत समाचरेत्।' मन मे जो पवित्र विचार आएँ उनके अनुसार कार्य करो। हमारे भाइयो मे कोई इसका गलत अर्थ भी ले सकता है कि मन मे तो चोरी करने की, जुआ खेलने की, शराव या गाँजा पीने की भावना भी आती है तो क्या उसके अनुसार ही कर लेना चाहिये ?

नही, यह पहले ही वता दिया गया है कि मन को जो पवित्र लगे वही कार्य करने चाहिये। यद्यपि मनुष्य गलत कार्य करता है किन्तु वह या तो मजवूरी के कारण, आदत के कारण या लोभ तथा स्वार्थ के कारण उन्हे करता है। किन्तु उसका मन उन्हे गलत तो मानता ही है। क्योकि मन को धोखा नहीं दिया जा सकता। इसलिये स्वय मन की गवाही से पवित्र माने जाने वाले कार्यों को करने का ही पद्य मे आदेश दिया गया है।

'ईर्यासमिति' अर्थात् देखकर चलना। यह वात केवल जैन धर्म या वैष्णव धर्म ही नही कहता, मुस्लिम धर्म भी यही कहता है। उसका कथन है—

"जेरे कदम हजार जानस्त।"

कदम यानी पैर, जेरे यानी नीचे, तथा जानस्त याने जन्तु। तो कहा गया है—'तुम्हारे पैरो के नीचे हजारो जन्तु हो सकते हैं अत पूर्ण सावधानी से देखकर चलो।"

इस प्रकार हमारे वीतराग प्रभु ने ईर्यासमिति के द्वारा सावधानी पूर्वक चलने की जो आज्ञा दी है वह सर्व सम्मत है तथा अन्य धर्म भी उसके पालन का आदेश देते हैं। सज्जन तथा सन्त पुरुष ईर्या समिति का पालन करने मे पूर्ण सावधानी रखने का प्रयत्न करते हैं। हमारे लिये तो दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन मे स्पष्ट आदेश दिया गया है—"तुम्हे गोचरी के लिये भी जाना है तो ध्यान रखो किसी के घर मे सीढी लगाई हुई है तो उस पर मत

चढो।" क्योकि गिर जाने पर लोग उपहास करेंगे कि सन्त असावधान रहे और गिर पडे। इसके अलावा कोई वहन या भाई सीढी से कोई वस्तु साधु को वहराने के लिये उतारे तो वह वस्तु भी ग्रहण मत करो क्योकि कदाचित् वह व्यक्ति गिर पडे तो साधु के निमित्त से ही उसे चोट लगेगी और उसे कष्ट होगा। इसलिये ईर्या समिति का पालन करना साधु के लिये तो आवश्यक है ही प्रत्येक मनुष्य के लिये भी अनिवार्य है।

(२) **भाषा समिति**—दूसरी भापा समिति कहलाती है। इस समिति के विपय मे भी योगशास्त्र मे उल्लेख है—

अवद्यत्यागत सर्वजनीन मित भाषणम्।
प्रिया वाचंयमानां, सा भाषासमिति रुच्यते॥

भाषा सम्वन्धी दोपो से वचकर प्राणी मात्र के लिए हितकारी परिमित भापण करना 'भापा समिति है। भाषा समिति सयमी पुरुपो के लिए अत्यन्त प्रिय होती है।

साधु के लिए मौन धारण करना अत्यन्त उत्तम है किन्तु सदा मौन रखने से जीवन मे कार्य नही चलता अत उसे वाणी का प्रयोग करना जरूरी हो जाता है। अत भाषा के प्रयोग के लिए कुछ नियम भी बनाए गए हैं। यथा साधु क्रोध, मान, माया लोभादि कपाय तथा हास्य और भय से प्रेरित न होकर वोले।

आवश्यक होने पर ही कम से कम वोले निरर्थक वकवाद न करे और विकथाओ से दूर रहे।

अप्रिय एव कठोर भापा का प्रयोग न करे तथा भविष्य मे होने वाली घटनाओ के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ न कहे।

जो वातें सत्य रूप से देखी, सुनी, और अनुभव न की हो उनके विपय मे निश्चित रूप से कुछ न कहे तथा पर-पीडाजनक सत्य भी न वोले। असत्य भापण तो पूर्ण रूप से वर्जित है ही।

इस प्रकार भापा के विपय मे साधु को वडी सावधानी रखने की और भापा के जो सोलह दोप माने जाते हैं उन्हे वचाकर वोलने की आवश्यकता रहती है अन्यथा दूसरा महाव्रत जो कि सत्य है वह भग होता है।

वैसे भी प्रत्येक मानव को अपनी वोली मे विवेक और मधुरता रखना ही

चाहिए। अन्यथा जितने भी वाक्युद्ध और मार-पीट के प्रसंग आते हैं वे भाषा के अनुचित प्रयोग से ही घटते है। विवेक और मधुरता पूर्ण भाषा बोली जाने पर ऐसी अप्रिय घटनाओ की सभावना नही रहती। मैं तो कहता हूँ कि आखिर मधुर वचन बोलने मे व्यक्ति की हानि ही क्या होती है? खर्च तो उससे कुछ नहीं होता उलटे प्रीति और सम्मान की प्राप्ति ही होती है। आपको एक दोहा याद ही होगा—

कागा किसका धन हरे, कोमल किसको देत।
मीठे वचन सुनाय के, जग अपना कर लेत ॥

कौआ और कोयल दोनो ही बोलते हैं। कौआ किसी से धन लेता नही और कोयल किसी को कुछ देती नही। वह केवल अपनी मधुर वाणी से लोगो को वश मे करती है तथा कौआ कर्कश आवाज के कारण व्यक्तियों के मनको नफरत से भर देता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि ताकत बोलने मे नही है वरन बोलने की मिठास मे है। इसलिए चाहे श्रावक हो या श्राविका, साधु हो या साध्वी, प्रत्येक को अपनी वाणी का उच्चारण करते समय बडा विवेक और बडी मधुरता रखनी चाहिए। शास्त्रो के अनुसार कर्कश, कठोर, और मर्मकारी भाषा का प्रयोग करना वर्जित है। इसलिए व्यक्ति को अपनी जबान पर सदा अकुश रखना चाहिए।

साधुओ के लिए दूसरा महाव्रत सत्य-भाषण है तथा पाँच समितियो मे दूसरी भाषा समिति है। दोनो का घनिष्ट सम्बन्ध है। मन मे आया जो बक दिया, यह साधु का लक्षण नही है। साधु को बहुत सोच विचार कर अपने शब्दो का प्रयोग करना चाहिए। क्योकि—

हितं मनोहारि च दुर्लभ वच

लाभप्रद और साथ ही चित्ताकर्षक वचन बहुत अलभ्य होते है।

भाषा का स्थान बडा ऊँचा माना जाता है। उत्तम भाषा बोलने वाला आर्य कहलाता है। ठाणाग सूत्र मे आर्य नौ प्रकार के माने गए हैं। जाति-आर्य, कुल-आर्य, ज्ञान-आर्य दर्शन-आर्य, चारित्र-आर्य, मन-आर्य, वचन-आर्य तथा काया से आर्य।

इस प्रकार आठ तरह के लक्षण आर्य पुरुष के लिए बताये गये हैं तथा इसी मे एक नवां वचन-आर्य भी माना गया है। अर्थात्—जो मधुर, हितकर

एव सत्य-भाषी हो वह भी आर्य कहलाने का अधिकारी है। और वह तभी यह अधिकार प्राप्त करता है, जबकि अपनी भाषा पर सयम रखता है।

श्रेणिकचरित्र के एक कथानक से यह बात आपकी समझ मे आ सकती है कि सत्य वादिता का कितना जबर्दस्त प्रभाव पडता है।

सच्चा साधुत्व

राजा श्रेणिक साधु-सतो पर तनिक भी आस्था नही रखते थे उलटे उन्हे नीचा दिखाने के प्रयत्न मे रहते थे। किन्तु रानी चेलना को जैन धर्म और धर्म गुरुओ पर अटूट आस्था थी तथा वह भी ऐसे सयोग के लिए उत्सुक थी जिसे पाकर वह राजा को सच्चे साधु का महत्व बता सके।

रानी चेलना अत्यन्त बुद्धिमती एव ज्ञानवती थी। एक बार जबकि राजा श्रेणिक राजमहल मे ही थे। एक सत ने महल मे प्रवेश करना चाहा। किन्तु रानी ने उन्हे देखते ही अपनी तीन अगुलियाँ ऊँची की। जिनका अर्थ था—

'अगर आप अन्दर पधारना चाहते हैं तो बताइए कि आपकी मन, वचन एव काय, ये तीनो गुप्तियाँ या योग निर्मल है या नही ?'

मुनिराज ने यह देखकर अपनी दो अगुलियाँ ऊँची की और एक नीची रखी। चेलना ने इस पर सकेत के द्वारा ही अन्दर आने का निषेध कर दिया। सत उसी क्षण उलटे पैरों मन्थर गति से चल दिये।

कुछ समय पश्चात् दूसरे सत राजमहल की ओर आते हुए दिखाई दिये और रानी चेलना ने उसी प्रकार अपनी तीनो अगुलियाँ ऊँची करके मूक प्रश्न पूछा—उत्तर मे दूसरे सत ने भी केवल दो अगुलियाँ ऊँची की और एक नीचे झुकाली। रानी ने उन्हे भी अन्दर आने से इन्कार कर दिया।

इसी प्रकार तीसरी बार एक सन्त पधारे और रानी के द्वारा वही क्रिया दुहराई गई। सन्त ने भी स्पष्ट रूप से एक अगुली नीची करके दो को ऊँचा किया और रानी के इन्कार करने पर उसी प्रफुल्लभाव से लौट गए।

राजा श्रेणिक यह सब अपनी आँखो से देख रहे थे। तीनो सतो का आना, अगुलियो का ऊँचा नीचा करना और उनका रच मात्र भी बुरा न मानते हुए लौट जाना देखकर चकित रह गए। उत्सुकता को न दबा पाने के कारण रानी चेलना मे उन्होंने इस सबका रहस्य पूछा। रानी ने उत्तर दिया- "आप कृपया उन सतो से ही यह बात पूछें तो अधिक अच्छा रहेगा।"

श्रेणिक को इन सव आश्चर्यपूर्ण क्रियाओ का भेद जानने की उत्कठा थी अत वे प्रथम वार आने वाले सत के समीप गए और उनसे पूछा—"महात्मन् ! आप राजमहल मे पधार रहे थे, किन्तु रानी के तीन अगुलियाँ ऊँची करने पर आपने एक नीचे झुकाई वह क्यो ?

सत ने सहज भाव से उत्तर दिया—"राजन् ! महारानी जी ने तीन अगुलियाँ ऊपर की थी उसके द्वारा उन्होंने मुझ से यह पूछा था कि मेरी तीनो गुप्तियाँ अर्थात् मन, वचन और काय ये तीनो योग दृढ़ हैं या नही ? किन्तु मैंने दो अगुलियाँ ऊँची करके और एक नीचे झुकाकर यह उत्तर दिया था कि मन और वचन तो मेरे दृढ है किन्तु काय अर्थात् शरीर सयमित नही है, उससे मुझे दोष लगा हुआ है।"

राजा श्रेणिक वडे चकित हुए और पुन पूछने लगे—"आपको शरीर से क्या दोप लगा ?"

मुनि वोले—"मैं साधना कर रहा था उस समय किसी व्यक्ति ने सम्भवत मुझे पापाण समझकर मेरे पैरो पर अग्नि जलाई और मैंने अग्नि से वचने के लिये अपने शरीर को हिला दिया, इससे अग्निकाय के जीवो की हिंसा हुई और मुझे उस हिंसा का पाप लगा।"

श्रेणिक यह सुनकर स्तव्ध रह गये। सोचने लगे—'कैसे हैं यह महात्मा जो अपने शरीर को वचाने के लिये भी उसे हिला-डुला लेते है तो जीवो की हिंसा मानते हैं तथा उस दोष को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी कर लेते हैं।"

अव श्रेणिक को अन्य दोनो सन्तो के विपय मे भी जानने की उत्सुकता हुई और वे दूसरे सन्त के समीप जा पहुँचे। उनसे पूछा—"महाराज ! आपको तीनो योगो मे से कौन-सा दोप लगा ?"

सन्त ने उत्तर दिया—"महाराज ! मेरे मन मे एक विकार आ गया था। एक वार जव मैं किसी गृहस्थ के यहाँ आहार लेने गया था तो एक वहिन मुझे आहार प्रदान कर रही थी। आहार लेते समय मेरी दृष्टि उस वहन के पैरो की ओर चली गई तथा मुझे यह विचार आ गया कि मेरी पत्नी के पैर भी ऐसे ही सुन्दर थे। इस विचार के कारण मेरी मनोगुप्ति शुद्ध नही रह सकी।"

राजा सन्त की स्पष्टोक्ति से अत्यन्त प्रभावित हुए और तीसरे सन्त के

समीप भी पहुँचे । उनसे भी उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन् ! आप राजमहल मे क्यो नही पधारे ? क्या आपके योगो मे से भी कोई दोषपूर्ण था ?"

मुनि ने उत्तर दिया—"मेरी वचन गुप्ति मे दोष था महाराज !"

"वह कैसे ?" श्रेणिक की उत्सुकता बढ रही थी ।

मुनि बोले—"महाराज ! एक बार मै किसी मार्ग से गुजर रहा था। उसी मार्ग से एक राजा भी अपनी चतुरगिणी सेना लेकर अपने किसी दुश्मन से मुकाबला करने जा रहा था। समीप ही कुछ बच्चे गेद खेल रहे थे। उनमे से कुछ हार गये और बडे नरवस हो गये। यह देखकर मेरी जबान मे निकल गया—"डरो मत, इस बार जीत जाओगे !" राजा ने यह शब्द सुन लिये और सोच लिया कि जब सन्त ने ही कह दिया है कि जीत जाओगे तो फिर मैं अवश्य जीतूंगा। ऐसा सोचकर उसका साहस अत्यधिक बढ गया और वह रण मे विजयी होकर लौटा। आते ही उसने कहा —

'महाराज ! आपकी कृपा से ही मैंने दुश्मनो को समाप्त कर विजय प्राप्त की ।"

मैंने चौकते हुए पूछा—"मैंने आप से क्या कहा था ?"

राजा बोला—आपने कहा था न कि "डरो मत इस बार जीत जाओगे ।"

तो राजन् ! इस प्रकार बच्चो को कहे हुए मेरे शब्दो को उस राजा ने अपने लिये समझ लिया और उनके कारण अपने-आपमे असीम साहस मानकर उसने रणागण मे सैकडो व्यक्तियो की जानें ली। यह सब मेरे असावधानी से कहे हुए शब्दो का प्रभाव था। इसलिये मुझे वचनगुप्ति मे दोप लगा और मैं महारानी चलेणा की कसौटी पर खरा न उतर पाने के कारण राजमहल मे न जाकर वापिस लौट आया ।"

राजा श्रेणिक सन्तो की बात से बहुत ही चमत्कृत हुए और सोचने लगे कितना उच्च जीवन है इन सन्तो का ? अपना छोटे से छोटा दोप भी ये दोप मानते हैं। तथा अपने वचनो पर कितना सयम रखते हैं ? वास्तव मे ही यह सच्चे साधु हैं। अपनी भाषा पर पूर्ण सयम रखना कितनी बडी बात है ?

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा भी है —

स्वस्तुते परनिंदाया, कर्ता लोके पदे पदे ।
परस्तुते स्वनिंदाया, कर्ता कोऽपि न विद्यते ॥

अर्थात् अपनी स्तुति या प्रशसा करने वाले तो आपको कदम-कदम पर मिल जायेंगे किन्तु औरो की स्तुति तथा अपनी निन्दा करने वाले महापुरुप इने-गिने ही मिलेंगे ।

और महापुरुष तभी महापुरुप कहलाते है जवकि वे अपनी भाषा पर पूर्ण-तथा सयम रखते हैं । भाषा की सयमितता के कारण ही अन्य पुरुपो पर उनका प्रभाव पडता है, जिस प्रकार राजा श्रेणिक पर सन्तो की सत्यवादिता और अपने दोषो की स्पष्ट स्वीकारोक्ति का पडा था ।

(३) **एषणा समिति**—तीसरी समिति एषणा समिति कहलाती है। इसका अर्थ है मुनि आहार सम्बन्धी समस्त दोषो का बचाव करते हुए गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा ले ।

इस पर श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र मे एक श्लोक दिया है —

द्विचत्वारिंशता भिक्षा दोषैर्नित्यमदूषितम् ।
मुनिर्यदन्नमादत्ते, सैषणा समितिर्मता ॥

अर्थात्—प्रतिदिन भिक्षा के बयालीस दोषो को टालकर जो मुनि निर्दोष भिक्षा लेते हैं यानी आहार और पानी ग्रहण करते है, उसे 'एषणा-समिति' कहते है ।

आहार के विषय मे इतना ध्यान रखने का निर्देश इसीलिये दिया गया है कि आहार के साथ साधक के आचार और विचार का घनिष्ट सम्बन्ध है। साधक अथवा साधु की सयम यात्रा तभी निर्विघ्नतापूर्वक चल सकती है जवकि उसका आहार सयम के अनुरूप शुद्ध एव निर्दोष हो । किसी ने कहा भी है —

'जिस प्रकार दीपक अन्धकार की कालिमा का भक्षण करके कज्जल की कालिमा ही पैदा करता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जैसा खाता है वैसे ही अपने ज्ञान को प्रकट करता है ।"

अस्वादवृत्ति एव परिमित आहार का वडा भारी महत्त्व है। जो व्यक्ति इस विपय मे लोलुप तथा स्वादिष्ट भोजन का अभिलाषी वना रहता है, वह यथोचित रूप से सयम का निर्वाह नही कर पाता क्योकि अशुद्ध और गरिष्ठ आहार को ग्रहण करने से बुद्धि मलिन हो जाती है । इसीलिये मुनियो को पूर्ण तथा शुद्ध एव संयमित आहार करने का आदेश दिया गया है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि साधु अपनी ओर से लगने वाले सोलह दोष तथा गृहस्थ की ओर से लगने वाले भी सोलहो दोषो का बचाव करके निर्दोष आहार लाए तथा उसकी विना सराहना अथवा निन्दा किये अस्वादवृत्ति से केवल शरीर चलाने का साधन मात्र समझ कर ही ग्रहण करे। इसका परिणाम यह होगा कि शुद्ध आहार के कारण उसकी बुद्धि निर्मल बनेगी तथा बुद्धि निर्मल रहने से आचरण भी उत्तम रह सकेगा। पवित्र अन्न खाने से मन की वृत्तियां निर्मल रहती है।

पवित्र अन्न कौनसा ?

एक बार गुरु नानक घूमते-घामते किसी गाँव मे जा पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते गाँव भर के व्यक्ति प्रसन्नता से भर गये तथा अनेक व्यक्ति अपने-अपने घर से उनके लिये नाना प्रकार के उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ बनवाकर लाये।

उन लोगो मे गाँव का जमीदार भी था जो अत्यन्त स्वादिष्ट और मधुर पकवान बनवाकर लाया था। किन्तु गुरु नानक ने जमीदार की एक भी वस्तु को ग्रहण नही किया तथा एक गरीब लुहार की लाई हुई बिना चुपडी मोटी-मोटी रोटियाँ नमक के साथ खाई।

जमीदार को अपने लाये हुए भोजन का तिरस्कार देखकर बडा क्षोभ हुआ और उसने नानक जी से पूछा—

"महात्माजी ! क्या कारण है कि आपने मेरे लाये हुए पकवानो को तो छुआ भी नही और इस लुहार की सूखी रोटियो को खाया ?"

गुरु नानक ने मुंह से कोई उत्तर नही दिया पर लुहार की रोटी मे से बचा हुआ एक टुकडा उठाया और उसे दोनो हथेलियो मे दबाया। रोटी दबाते ही सब ने आश्चर्य से देखा कि रोटी मे से दूध की बूंदें टपक रही है।

उसके पश्चात् नानक जी ने जमीदार के लाये हुए पकवानो मे से एक मिठाई का टुकडा उठाया और उसे भी अपने हाथो से दबाया। देखने वाले व्यक्ति और भी चमत्कृत हुए, जब उन्होने देखा कि मिठाई मे से खून की बूंदें झर रही है।

अब गुरु नानक जी ने जमीदार को सम्बोधन करते हुए कहा—"देखो भाई ! इस लुहार ने अपना पैसा बडी मेहनत से तथा बडे पवित्र विचारो के साथ कमाया है अत इसका अन्न पवित्रतम है। इसे खाने से मेरी बुद्धि निर्मल

रहेगी। किन्तु तुम्हारा पैसा दूसरो को सताकर तथा उनका पेट काटकर अनीति से कमाया गया है अत इससे तैयार किया हुआ अन्न दूषित है। इसे खाने पर मुझे अपनी बुद्धि और विचारो के दूपित होने का भय था अतएव मैंने नही खाया। अपवित्र और दूपित अन्न से पापवृत्तियाँ पनपती हैं।

जमीदार यह सुनकर वडा लज्जित हुआ और उसने अपनी भूलो के लिये गुरु नानक से क्षमा माँगी।

वन्धुओ, इस उदाहरण से यही साराश निकलता है कि मनुष्य को सदा शुद्ध तथा नेकनीयती से उपार्जित अन्न ही खाना चाहिये। यद्यपि मुनियो को इतनी छानवीन का मौका नही मिल पाता फिर भी उन्हे जहाँ तक हो सके शुद्ध आहार ही लेना चाहिये तथा पूर्ण निरासक्त भाव से उसे ग्रहण करना चाहिये। यही एषणा समिति का लक्षण है।

अब हमारे सामने चौथी समिति आती है—

(४) **आदानभाण्ड निक्षेपण समिति**—इससे तात्पर्य है—"मुनि को अपने पात्र, वस्त्र, पुस्तकें आदि समस्त वस्तुएँ वडी सावधानी और यत्न से रखनी तथा उठानी चाहिये। कहा भी है—

> **आसनादीनि संवीक्ष्य, प्रतिलिख्य च यत्नत ।**
> **गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत्, सादानसमिति स्मृता ॥**

—योगशास्त्र

आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि सयम के उपकरणो को सम्यक् प्रकार से देख-भाल करके यातना पूर्वक ग्रहण करना और रखना आदान समिति कहलाती है।

इस समिति का विधान इसीलिये किया गया है कि सयम के लिये आवश्यक उपकरणो को अगर सावधानी से उठाया और रखा जायगा तो उससे अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुओ की हिंसा नही होगी। जो मुनि सम्यक् प्रकार से इस समिति का पालन करता है वह अनेक प्रकार की हिंसा से अपना वचाव कर सकता है अत प्रत्येक वस्तु को विवेक पूर्वक ही उठाना और विवेक पूर्वक ही रखना चाहिये।

सयम मार्ग मे उपयोग मे आने वाली वस्तुएँ भी दो प्रकार की होती हैं (१) ओघोपधि (२) औपग्रहिकोपधि।

ओघोपधि उन वस्तुओ को कहते हैं जो मुनि को सर्वदा अपने पास रखनी पडती हैं। यथा—रजोहरण। इसे छोडकर कही भी जाना साधु के लिये निषिद्ध है। हमारे आचार्यों ने तो इसके लिये यह मर्यादा रखी है कि पाँच हाथ दूर कही भी रजोहरण को छोडकर मत जाओ।

दूसरे प्रकार की **औपग्रहिकोपधि** वस्तुएँ कहलाती हैं। जैसे—दण्डादिक यानी लकडी वगैरह। इन दोनो प्रकार के उपकरणो को ग्रहण करना और रखना यतना के साथ होना चाहिये।

मान लीजिये आपके पास पूंजनी है। किसी ने वह आपसे माँगी और अगर आपने उसे फेंक कर दे दी तो इसका अर्थ अयतना एव अविवेक माना जायगा। फेंककर वस्तु देने से वायुकाय के जीवो की हिंसा तो होती ही है साथ ही अशिष्टता भी साबित होती है। शिष्टाचार के नाते विनयपूर्वक और प्रेम से माँगी जाने वाली वस्तु समीप जाकर ही देनी चाहिये।

इसके अलावा साधु को अपनी वस्तुएँ यत्र-तत्र बिखरी हुई नही रखनी चाहिये। स्थानक या उपासरे के द्वार सर्व साधारण के लिये सदा खुले रहते हैं। अत वहाँ पर अगर साधु की वस्तु बिखरी हुई इधर-उधर पडी रहे तो एक तो देखने मे अच्छा नही लगता, दूसरे कोई भी मौका पाकर चुरा सकता है, तीसरे अनजान व्यक्ति की ठोकर आदि लगने से भी दण्ड पात्र आदि टूट फूट सकते है।

जब मैं नवदीक्षित था, मुझे इन सब बातो का पूर्णतया विवेक नही था, फलस्वरूप एक दिन सती शिरोमणि रामकुंवर जी के म० व श्री सुन्दर जी म० ने मुझसे कहा था—"छोटे महाराज ! अपनी वस्तुओ को यथास्थान सम्भाल कर रखिये साधु के लिये ऐसा करना अनिवार्य है।"

आज भी मुझे महासती जी के वे शब्द बराबर याद है। उन्होने यह भी कहा था—"हमारे शास्त्रकारो का कथन है कि भण्डोपकरण आदि समस्त वस्तु यथा-स्थान रखने के साथ-साथ वस्त्र तथा रजोहरण आदि की दोनो वक्त प्रतिलेखना करनी चाहिये।"

अनेक श्रावक कहते हैं तथा कोई-कोई सन्त भी कह देते है—"इनमे क्या साँप बिच्छू है जो प्रतिदिन दोनो वक्त इन्हे देखे ?"

पर साँप बिच्छुओ का होना भी कोई असम्भव बात नही है। हम आप लोगो के शहर मे तो अवश्य ही बडी-बडी बिल्डिगो मे ठहरते हैं किन्तु जब

विहार मे होते हैं तव अत्यन्त छोटे कच्चे और गन्दे स्थानो पर भी ठहरने के प्रसग आते हैं और उन वहुत दिनो से वन्द पडे मकानो मे साँप विच्छू और कीडे मकोडे आदि जन्तु कपडो मे तथा भडोपकरण मे आकर वैठ जाते हैं।

एक वार हम वोदवड मे थे। वहाँ एक भाई ने उपवास किया और सायकाल मे पौषध करने के लिये आया। हमने उसें पहले ही कह दिया था "भाई प्रतिलेखन कर लेना।" उसने ज्योही दरी और चद्दर का प्रतिलेखन किया, एक वहुत वडा और काले स्याह रग का विच्छू चद्दर मे से निकलकर भागा।

साराश यही है कि वस्त्रो मे जीव जन्तुओ का आकर छिप जाना कोई वडी वात नही है। आप गृहस्थो को भी अनुभव होगा कि वहुत दिनो से वन्द पडी पेटियो मे गद्दे रजाइयो मे और खाने-पीने की वस्तुओ मे भी अनेक प्रकार के जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये आदान भाड निक्षेपणा समिति के द्वारा अनेक प्राणियो की हिंसा से वचने का निर्देश दिया है।

(५) पाँचवी समिति कहलाती है—'**उत्सर्ग समिति**।' और तनिक विस्तार से कहा जाय तो इसका पूरा नाम है—"**उच्चार प्रश्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिष्ठापनिका समिति**।

इसका अर्थ भी एक श्लोक के द्वारा वताया गया है—

कफमूत्रमल प्रायं, निर्जन्तुजगतीतले।
यत्नाद्यदुत्सृजेत्सा.धु, सोत्सर्गसमितिर्भवेत्॥

कफ, मूत्र, मल जैसी वस्तुओ का जीव-जन्तुओ से रहित पृथ्वी पर यतना के साथ मुनि त्याग करते है। यही उत्सर्ग समिति है।

वन्धुओ, आशा है आप इन पाँचो समितियो के विषय मे भली-भाँति समझ गये होंगे। पर साथ ही यह भी आपको समझ लेना चाहिये कि इनका पालन केवल मुनियो को ही करना चाहिये यह वात नही है। अनेक प्रकार की हिंसा से वचने के लिये जो ये पांच प्रकार के विधान वनाये गये है ये श्रावकों के लिये भी उतने ही आदरणीय हैं जितने श्रमणो के लिये। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को भी इन समितियो को ध्यान मे रखते हुए इनके पालन करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि हिंसा के पाप का भागी वनने से तो प्रत्येक प्राणी को वचना चाहिये।

विशेष तौर से हमारी बहनें जो रसोई बनाती हैं, उन्हे अधिक से अधिक उपयोग और विवेक रखने की आवश्यकता है। उन्हे ध्यान रखना चाहिये कि झूठे बर्तन घन्टो या कि सुबह से शाम तक और शाम से सुबह तक वैसे ही न पडे रहे, अन्यथा उनमे अनेको मक्खियाँ और मच्छर गिरेंगे तथा उनके मरने से महान् पाप उनकी आत्मा को भोगना पडेगा। इसी प्रकार शाक-सब्जी के छिलके वगैर भी बडी सावधानी से और साफ जगह मे डालने चाहिये ताकि प्रथम तो अधिक गन्दगी के कारण उनमे कीटाणु उत्पन्न न हो जांय, तथा असावधानी से खिडकियो और छज्जो पर से उन्हे फेकने से किसी व्यक्ति पर वे न गिरें। अनेक बार हम देखते हैं कि बिना देखे-भाले वे ऊपर से ही जूठन तथा राख आदि का गन्दा पानी सडक पर फेंकती हैं और राहगीरो के वस्त्रो पर उनके छीटे उछल जाया करते हैं। और झगडे भी पैदा हो जाते हैं अत कहने का अभिप्राय यही है कि अभी-अभी बताई हुई इन पाँचो समितियो का मुनि को पूर्ण रूप से तथा गृहस्थो को भी यथाशक्ति विवेकपूर्वक पालन करना चाहिये। तभी हमारी क्रियाएँ शुद्ध बन सकेंगी तथा क्रियाओ के निर्दोष बनने से पाप-कर्मों का भार आत्मा पर कम चढेगा। मनुष्य को कभी नही भूलना चाहिये कि सामायिक, उपवास, पौषध एव अन्य त्याग-नियमो की अपेक्षा भी अपनी क्रियाओ मे विवेक रखना अधिक आत्म कल्याणकारी है। इसके अभाव मे धर्माराधन की बडी-बडी क्रियाएँ भी निष्फल साबित हो जाती हैं। ●

१८
मुक्ति का मूल : श्रद्धा
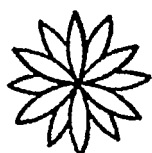
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कुछ दिनो से हम 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' के अट्ठाईसवे अध्याय की पच्चीसवी गाथा के आधार पर क्रिया रुचि के विषय मे स्पष्टीकरण कर रहे थे और उसके सन्दर्भ मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, सत्य तथा पाँच समितियो का वर्णन आप भली-भाँति समझ चुके हैं।

आज हम इसी सूत्र के अट्ठाईसवें अध्याय की तीसवी गाथा के अनुसार यह समझेंगे कि जीवन मे श्रद्धा का महत्त्व कितना है और यह किस प्रकार मुक्ति का मूल माना जा सकता है।

गाथा इस प्रकार है—

नादसणिस्स नाण, नाणेण विणा न हुन्ति चरण गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति दर्शन यानी श्रद्धा रहित है, उसे ज्ञान की प्राप्ति नही होती और ज्ञान के अभाव मे उसके जीवन मे चारित्र गुण नही आ सकता। तथा चारित्र गुण के न होने पर मोक्ष प्राप्ति सम्भव नही है। और मोक्ष के प्रभाव मे आत्मा अक्षय सुख प्राप्त नही कर सकती।

इस गाथा के अनुमार स्पष्ट है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम श्रद्धा आवश्यक है और दूसरे शब्दो मे श्रद्धा ही मोक्ष का मूल है। श्रद्धा का महत्त्व अवर्णनीय है। हम लोग प्रार्थना मे भी कहा करते हैं—

"श्रद्धा है सो सारयार, श्रद्धा ही से खेवोपार,,

यानी श्रद्धा ही जीवन मे एक सार वस्तु है जो ससार-मागर से पार उतार सकती है। इस विराट विश्व मे प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक, मानसिक

अथवा भौतिक, किसी न किसी दु ख से पीडित है और वह इनसे मुक्ति प्राप्त करना चाहता है। किन्तु केवल चाहने मात्र से तो कोई भी मुक्ति प्राप्त कर नही सकता। उसे आत्मा को ससार-मुक्त करने के लिये अनेक पापड बेलने पडते हैं।

श्रद्धा जीवन के निर्माण का मूल मन्त्र है। इसके अभाव मे विश्व का कोई भी प्राणी कर्मों से मुक्त हुआ हो ऐसा कही भी इतिहास नही कहता। व्यक्ति कितनी भी पोथियाँ क्यो न पढ जाय तथा कितनी भी कलाएँ क्यो न सीख जाय, अगर उसमे श्रद्धा नही है तो वह सब विद्वत्ता और कलाओ की परिपूर्णता उसके जीवन को अपूर्ण ही रखती है। अर्थात्—वह उसे इस भव-समुद्र से पार नही करा सकती।

श्रद्धा के द्वारा मन की अनेक उलझने सुलझ जाती हैं तथा बुद्धि विकसित होकर ज्ञान को ग्रहण करती है। क्योकि मन मे श्रद्धा होने पर ही उसमे विनय गुण पनपता है, जिसके द्वारा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रद्धा और विनय का घनिष्ट सम्बन्ध है।

श्रद्धा के रूप

श्रद्धा के दो रूप होते हैं—पहली सम्यक् श्रद्धा और दूसरी अन्धश्रद्धा। इन दोनो मे जमीन और आसमान का अन्तर होता है। अर्थात् दोनो ही परस्पर विरोधी होती है।

सम्यक् श्रद्धा मे विनय गुण का समावेश होता है जो गुरु प्रदत्त ज्ञान को प्राप्त कराता है और अन्ध श्रद्धा मे केवल जिद और अहकार की भावना रहती है जो ज्ञान-प्राप्ति मे बाधक बनती है तथा कर्मों के भार को बढाती है इसीलिये आवश्यक है कि मुमुक्ष सम्यक् श्रद्धा को अपनाए तथा सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति करके अपने आचरण को सुदृढ बनाए।

भगवद् गीता मे कहा भी है—

"श्रद्धावान् लभते ज्ञान, तत्पर संयतेन्द्रिय.।"

श्रद्धालु पुरुप ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होने पर ही इन्द्रियो की सयम-साधना हो सकती है।

साधक अगर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसको वीतराग के वचनो

पर तथा उन वचनो को समझाने वाले गुरु पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये । तभी गुरु सम्यक् रूप से शिष्य को ज्ञान-दान दे सकता है ।

शास्त्रकारो के कथनानुसार ज्ञान भी तीन प्रकार का माना जाता है—जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट । आराधना के थोकडे मे इस प्रकार के भेद बताये गये हैं ।

जघन्य आराधना मे भी पाँच समिति तथा तीन गुप्ति का तो कम से कम ज्ञान चाहिये ही । जघन्य आराधना करने वाले का भी भगवान की वाणी पर विश्वास और भरोसा होता है । ऐसी श्रद्धा भी जिसके दिल मे होती है और ज्ञान अल्प होता है तब भी भगवान कहते हैं कि वह आराधक है । विराधक वही कहलाता है जो भगवान के ज्ञान को न माने, उस पर आस्था न रखे । ऐसे व्यक्ति के पास ज्ञान हो तो भी वह न होने के बराबर है ।

इसके विपरीत श्रद्धालु व्यक्ति सदा यही विचार करता है—"ससार मे मुझसे कितने बडे-बडे सन्त और सतियाँ हैं जिन्हे ग्यारह अग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है । मेरे पास तो है ही क्या ? उसमे यह विश्वास अवश्य होता है कि मुझ मे ज्ञान की कमी जरूर है किन्तु मैं भगवान् की आज्ञा मे तो हूँ, इसीलिये वह आराधक कहलाता है तथा इसी भावना और आस्था के कारण वह शनै-शनै सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है ।

गाथा मे आगे बताया गया है—ज्ञान के बिना चरण गुण की प्राप्ति नही होती । चरण यानी पैर और चरण यानी चारित्र भी होता है । चरण का अर्थ पैरो से इसलिये लिया गया है कि ज्ञान चरण अर्थात् चारित्र के द्वारा ही साधना मे गति करता है । चारित्र के अभाव मे साधना आगे नही बढ सकती चारित्र अगर उत्तम है तो साधक आत्म साधना मे आगे बढेगा, प्रगति करेगा अन्यथा भौतिक ज्ञान कितना भी क्यो न हो, वह कभी मोक्ष के लिये की गई साधना मे सहायक नही बन सकता । ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही साधना-पथ पर चल सकती है ।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान से प्रश्न पूछा गया है—

"नाण सम्पन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयई ?"

अर्थात्—हे भगवन ! ज्ञान सम्पन्न आत्मा होगी उसको क्या लाभ होगा?

उत्तर दिया गया है—

'नाण सम्पन्नयाए जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्नेण जीवे चाउरते संसारकन्तारे न विणस्सई।"

जो ज्ञान सम्पन्न होगा उसके पास दुनिया मे जितने भाव हैं उनका ज्ञान रहेगा। भावो का अर्थ है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि आदि समस्त तत्त्वो की जानकारी होना।

ज्ञान सम्पन्न आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियो मे भटकने के लिये जो अरण्य के समान ससार है उसमे भटकने से बच जाएगा। नरक ससार, तिर्यंच ससार, मनुष्य ससार और देव ससार, इन चारो प्रकार के ससारो से मुक्त हो सकेगा तथा इनमे फँसा नही रहेगा! किन्तु आवश्यकता सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति की तथा जिन वचनो पर सम्पूर्णत आस्था रखने की है।

जिनवाणी का महत्त्व वताते हुए पूज्य श्री अमीऋषि ने कहा है—

केवलवत महत जिनेश प्रकाश करी सवको सुखदानी।
या सुन होय मिथ्या तम दूर लहे निज आतम रूप पिछानी॥
जासप्रसाद अनत तिरे तिरिहै तिरतेजू अमी भव प्राणी।
या सम अमृत और नही धन है, धन है, धन है जिनवाणी॥

कहते हैं—भगवान जिनेश्वर ने जिस वाणी का उच्चारण किया है तथा महापुरुषो ने जिसे सर्व-साधारण के अज्ञानाधकार का नाश करने के लिए उसे प्रकाशदीप वनाकर प्रस्तुत किया है, उसके द्वारा मिथ्यात्व दूर हो जाता है तथा आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान लेता है। जिस अमूल्य वाणी के प्रभाव से अनन्त आत्माएँ भव-सागर पार कर चुकी है, कर रही हैं तथा भविष्य मे भी करती रहेगी उस अमूल्य जिनवाणी को वार-वार धन्य है।

प्रश्न उठता है—जिन वचनो के ज्ञान मे ऐसी चमत्कारिक शक्ति कैसे है, जिसके कारण चारो प्रकार के ससार नष्ट हो जाते हैं?

शास्त्र मे इस वात का उत्तर दिया गया है—

"जहा सूइ ससुत्ता न विणस्सई। तहा जीवे ससुत्ते ससारे न विणस्सई। नाण-विणय-तव चरित्ते जोगे सपाउणइ स-समय पर समय विसारए य असघायणिज्जे भवई।"

जो सुई डोरे सहित होती है वह खो जाने पर भी डोरे की सहायता से अर्थात् डोरा हाथ मे रहने के कारण मिल जाती है। किन्तु अगर उसमे धागा न डला हुआ हो तो फिर उसे खोजना कठिन और कभी-कभी तो असभव ही हो जाता है।

इसी प्रकार जीव के लिए बताया गया है कि वह एक सुई के समान है और उसमे ज्ञान धागे का काम करता है। ज्ञान रूपी धागे सहित जो जीव होगा वह अधिक भटकेगा नही और कदाचित् भटक भी जाएगा तो शीघ्र अपने स्थान पर आ जाएगा। उत्कृष्ट ज्ञानियो के लिए तो कहना ही क्या है ? वे एक ही जीवन मे या अत्यल्प काल मे भी परिणामो की चढती से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उनसे कम ज्ञान रखने वाले भी तीसरे, सातवें, और फिर भी नही तो पन्द्रहवे भव मे भी मोक्ष को प्राप्त कर ही लेते हैं। ज्ञान का धागा इस जीव रूपी सुई को खीच ही लेता है। अनन्त ससार मे सदा के लिए खो जाने नही देता।

गाथा मे आगे कहा गया है—ज्ञान से विनय, तप और चारित्र की प्राप्ति होती है। तो पहली बात यह है कि ज्ञान विनय के द्वारा प्राप्त किया जाए। अगर अविनय का मन मे उदय होगा तो ज्ञान का विकास रुक जाएगा। एक उदाहरण है—

ज्ञान वृद्धि मे रोक

किसी गाँव मे एक बढई रहता था। वह पुराने जमाने का था, अत साधारण वस्तुएँ बनाया करता था। किन्तु उसका लडका नए ढग की वस्तुएँ बनाना सीख गया क्योकि वह अपने काम मे काफी होशियार हो गया था।

लडका प्राय नई-नई वस्तुएँ या मूर्तियाँ बनाकर पिता के पास लाया करता था। बढई अपने पुत्र की कला कुशलता पर मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न होता तथा गौरव का अनुभव करता था किन्तु फिर भी उसके काम मे अधिक से अधिक चातुर्य लाने की भावना से वह पुत्र की बनाई हुई वस्तु मे कुछ न कुछ नुक्स निकाल देता था। यथा—'इसके दोनो हाथ समान नही हैं, अथवा आँखे ठीक नही बनी हैं।'

लडका आँखें ठीक करके लाता तो पिता कह देता—'इसका पैर टेढा है।' इस सबका परिणाम यह हुआ कि बढई का पुत्र अपने कार्य मे अत्यन्त प्रवीण हो गया।

किन्तु एक दिन बात विगड गई। पुत्र अत्यन्त परिश्रम करके एक वडी उत्कृष्ट कलाकृति का निर्माण करके लाया और बोला—"पिताजी! देखिये! आज मैंने कितनी सुन्दर चीज वनाई है?

पिता अत्यन्त हर्षित हुआ किन्तु अपनी आदत के अनुसार बोला—"वेटा! चीज तो तुमने बहुत अच्छी वनाई है पर फिर भी इसकी सुन्दरता मे कुछ कमी रह गई है।"

लडका पिता के द्वारा प्रतिदिन नुक्स निकाले जाते रहने के कारण कुछ अप्रसन्न तो रहता ही था पर आज अपनी अत्यन्त परिश्रम से वनाई हुई कृति मे भी पिता के द्वारा कमी निकाली जाती देखकर क्रुद्ध हो गया और गुस्से से वोला—

"आप हमेशा मेरी बनाई हुई वस्तु मे गलती ही निकाला करते हैं, कभी आपने अपनी जिन्दगी मे ऐसी वस्तु वनाई भी है?"

अव वाप वोला—"मैं जानता हूँ तुम मुझ से वहुत होशियार हो, और मैं तुम्हारे समान सुन्दर वस्तुएँ वना भी नही सकता हूँ किन्तु मैंने तुम्हे अधिक से अधिक होशियार कलाकार वनाने की इच्छा से तुम्हारी कृतियो मे कमियाँ वताई थी। तुम्हे आज मेरा कहना वुरा लगा है, अत आज से कुछ नही कहूँगा। पर याद रखना अव तुम आगे वढने वाले नही हो।"

आज भी हम देखते हैं कि पुत्र थोडा वहुत भी पढ-लिख जाते हैं तो अपने गुरुजनो को और माता-पिता को अपने से हीन समझने लगते है। कहते है—"थे काँई जाणो मैं म्हारो काम आप निपटा लेऊँ।"

ऐसे अविनयी व्यक्ति जिनके हृदय मे वडो के प्रति श्रद्धा और विनय की भावना नाम मात्र को भी नही होती वे किस प्रकार सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करके आत्म-मुक्ति के मार्ग पर वढ सकते हैं? ऐसे व्यक्तियो को जव गुरु के प्रति ही श्रद्धा नही होती तो जिनवाणी या जिन वचनो मे रुचि किस प्रकार हो सकती है?

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने समस्यापूर्ति पद्यो मे वडे सरल और सुन्दर शब्दो मे वताया भी है कि किन व्यक्तियो को जिन भगवान के वचनो मे रुचि नही होती? पद्य इस प्रकार है—

शुभ शब्द अनूप गम्भीर महा,
स्वर पचम वाणि वदे विवुधा।
नर नारी पशु सुर इन्द्र शची मिल,
आवत बैन पीयूष छुधा ।।
सव लोक अलोक के भाव कहे,
षट्द्रव्य पदारथ भेद मुधा।
चित मोद अमीरिख होय तवै,
'किनको न रुचे जिन वेन सुधा ।।

कहा गया है—भगवान के जिन गम्भीर, कल्याणकारी, और ज्ञान गरिमा से ओत-प्रोत वचनो को सुनने के लिए स्त्री, पुरुप, पशु, देवता और इन्द्र भी आते हैं तथा उन्हे अमृतमय मानकर अपनी आत्मा की क्षुधा को तृप्त करते हैं। और जो वचन, लोक, अलोक पट्द्रव्य एव समस्त पदार्थों को कर ककण-वत् स्पप्ट करके समझा देते हैं तथा समस्त प्राणियो के हृदयो को प्रफुल्लित कर देते हैं वे ही सुधामय वचन किनको नही रुचते हैं ?

इसी प्रश्न का उत्तर दूसरे पद्य मे दिया गया है जिसे समझना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। पद्य मे वताया है—

नहि जानत जेह निजातम रूप—
रता पर द्रव्य चले विरुधा।
घट जोर मिथ्याज्वर को तिहसे,
सब दूर भई निज धर्म छुधा ।।
मन लीन परिग्रह आरम्भ मे,
प्रभु सीख न धारत भेद दुधा।
जु अमीरिख जीव अभव्य हुवे,
तिनको न रुचे जिन वैन सुधा ।।

कहा गया है—जो व्यक्ति अपने आत्म-स्वरूप को नही समझता, उसकी अनन्त शक्ति पर विश्वास नही करता तथा उसमे रहे हुए सम्यक् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र के गुणो को विकसित करने का प्रयत्न नही करता अपितु पर-पदार्थों मे ही आसक्त वना रहता है, ऐसे व्यक्तियो के हृदय मे सदा मिथ्यात्व

मना रहता है और उस मिथ्यात्व रूपी ज्वर के कारण उसकी आत्मा मे धर्म की क्षुधा कभी वलवती नही होती। वह सदा स्वार्थ मे अधा वना रहता है तथा निरन्तर परिग्रह की वृद्धि मे लगा रहता है। एक उदाहरण है—

तृष्णा का फल

एक लकडहारा प्रतिदिन लकडियाँ काटने के लिए जगल मे जाया करता था। दिन भर वह लकडी काटता और शाम के वक्त जव भारीगट्ठा लेकर लौटता तो उसे दो— चार आने उन्हे वेचकर प्राप्त होते थे। परिवार मे पत्नी और छोटे-छोटे वच्चे थे अत उन इने-गिने पैसो से सवकी उदर पूर्ति होना कठिन हो जाता था और इसी कारण लकडहरा काफी कृश हो गया था।

लकडहारा जिस मार्ग से प्रतिदिन गुजरता था उसी मार्ग पर एक पेड के नीचे एक सत ध्यान किया करते थे। वे उस दुर्वल लकडहारे को प्रतिदिन उधर से गुजरते हुए तथा दिन भर के परिश्रम स्वरूप एक गट्ठा लकडी का लाते हुए देखा करते थे।

एक दिन उन्होंने लकडहारे से उसके विषय मे पूछा—लकडहारे ने अपना पूर्ण दुखद वृत्तान्त उन्हे वताया। सत को दया आई और उन्होंने यह सोचकर कि दो-चार आने से इसका परिवार सदा भूखा रह जाता है, उन्होंने लकडहारे की हथेली पर एक का अक लिख दिया और कहा—"आज से तुम्हे प्रतिदिन एक रुपया अपनी लकडी की कीमत का मिल जाया करेगा।"

लकडहारा वडा प्रसन्न हुआ और खुशी के मारे लगभग दौडता हुआ सा ही घर लौटा। वहाँ पर अपनी पत्नी से उसने समस्त घटना कह सुनाई। पत्नी वडी चालाक थी वोली—"अरे! जव सत ने दया करके तुम्हारी हथेली पर एक का अक लिखा था तो तुमने उस पर एक विन्दी और क्यो न लगवा ली? क्या तुम्हे इतना भी नही सूझा?"

वेचारा लकडहारा स्त्री की वात सुनकर अपनी भूल पर दुखी हुआ पर वोला—"भागवान्! अभी इस एक के अक की परीक्षा तो हो जाने दे। अगर यह सचमुच ही मुझे एक रुपया रोज दिलायेगा तो वाद मे देख लूंगा। सत तो मेरे मार्ग मे ही रहते हैं।"

इस घटना के वाद दो-चार दिन निकल गए और प्रतिदिन लकडहारे को अपनी लकडी का एक रुपया रोज मिलने लगा। यह देखकर तो लकडहारा

लालच मे आ गया और उसने एक दिन पुन जाकर सत से कहा—"महाराज ! आपकी कृपा से मुझे अव एक रुपया रोज मिल जाता है और किसी तरह मैं वाल-वच्चो सहित पेट भर लेता हूँ किन्तु हम मे से किसी के तन पर पूरे वस्त्र नही हैं और शीतऋतु आ रही है अत आप मेरी हथेली पर एक अक के आगे एक विन्दी और लगा दें तो हमे पहनने को वस्त्र और ओढने विछाने के लिए विस्तर मिल जाएँगे। आपकी वडी कृपा होगी अगर आप ऐसा करदें।"

महात्मा जी ने दया करके एक के आगे विन्दी लगाकर वहाँ दस वना दिये और लकडहारे को प्रतिदिन दस रुपये प्राप्त होने लग गये। किन्तु आप जानते ही है—

"जहा लाहो तहा लोहो"

जहाँ लाभ होता है वहाँ लोभ वढता ही जाता है।

इसी लोभ के वशीभूत होकर लकडहारा कई वार महात्मा के पास पहुँचा तथा सुन्दर मकान तथा पत्नी के लिये जेवर आदि की आवश्यकताएँ वताकर एक के अक पर कई विन्दियाँ लगवाता चला गया।

परिणाम यह हुआ कि वह अपने शहर का एक धनाढ्य रईस वन गया और अत्यन्त विलासितापूर्वक सुख से जिन्दगी गुजारने लगा। किन्तु आप जानते ही हैं कि तृष्णा का कभी अन्त नही होता, उसका विराट उदर कभी भी तृप्ति का अनुभव नही करता।

महात्मा सुन्दरदास जी ने कहा भी है—

तीनहिं लोक अहार कियो सव,
सात समुद्र पियो पुनि पानी।
और जहाँ-तहाँ ताकत डोलत,
काढत आँख डुरावत प्रानी॥
दाँत दिखावत जीभ हिलावत
या हित मैं यह डाकिनी जानी।
सुन्दर खात भये कितने दिन,
हे तृस्ना ! अजहूँ न अघानी॥

तृष्णा के विषय मे कहा है कि यह तीनो लोको का आहार कर-करके भी घाती नही तथा सातो सागरो का पानी पी-पी करके भी तृप्त नही होती । ह सर्वत्र डोलती हुई अपनी भयकर दृष्टि से प्राणियो को डराती तथा धम-काती है और उन्हे अपने वश मे कर लेती है । मुझे तो ऐसा लगता है कि यह सदा भूखी रखने वाली तथा अतृप्त रहने वाली एक डाकिनी ही है ।

वस्तुत इस तृष्णा के फेर मे पडकर वडे-वडे बुद्धिमान और समझदार भी अन्त मे वडे दु खी होते है और पश्चाताप करके अन्त मे इसे कोसते हैं ।

यही हाल उस लकडहारे का भी हुआ । अतुल वैभव प्राप्त करके भी उसे सन्तोष नही हुआ और वह फिर एक दिन सन्त के पास जा पहुँचा । सन्त उसे देखकर चकित हुए और बोले—"भाई ! अव तो तुम इतने वडे सेठ हो गये हो, अपार दौलत तुम्हारे पास है फिर अव क्या चाहते हो ?"

सेठ बोला—"भगवन् ! आपकी कृपा जव मेरे ऊपर हो ही गई है तो एक छोटा मोटा राज्य भी मिल जाय तो क्या वडी वात है । इतनी कृपा और हो जाय आपकी तो जीवन भर आपका एहसान नही भूलूंगा ।"

सन्त को सेठ की वात सुनकर वडा आश्चर्य हुआ और मन मे क्रोध आया सोचने लगे—'इस व्यक्ति को मैंने लकडहारे से आज इतना वडा सेठ वना दिया तव भी इसकी तृष्णा समाप्त नही हुई ?'

उन्होने कहा—"लाओ हथेली फैलाओ ।" सेठ जी ने वडी आशा और उत्साह से हथेली महात्मा जी के आगे फैलादी ।

सन्त ने उसी क्षण सेठजी की हथेली पर से समस्त विन्दियो को छोडकर एक का अक मिटा दिया । परिणाम यह हुआ कि सेठ राजा वनने के स्थान पर पुन लकडहारा वनकर रह गया । वह कहावत सार्थक हुई कि 'चौवेजी छव्वे वनने गये और दुवे ही रह गये ।'

इसीलिये पूज्यपाद कवि श्री अमीऋषि जी म० ने कहा है—जो पर द्रव्य मे रत रहते हैं और तृष्णा के फेर मे पडकर अपने हृदय मे मिथ्यात्व का पोषण करते है, उनकी आत्मा मे धर्म की क्षुधा नही जागती । आगे कहा है—

मन लीन परिग्रह आरम्भ मे,
प्रभु सीख न धारत भेद दुधा ॥

जु अमीरिख जीव अभव्य हुवे,
तिनको न रुचे जिन वैन सुधा ॥

अर्थात्—जो परिग्रह मे लीन रहते हैं और जिन भगवान की शिक्षा को हृदय मे धारण नही करते ऐसे अभव्य जीवो को जिन वाणी रूपी अमृत भी रुचिकर नही लगता।

किन्तु जिन वचनो पर विश्वास न करने से और उन्हे ग्रहण न करने से मानव का जीवन कितना अपूर्ण रहता है ? ज्ञान के अभाव मे उसका आचरण सदाचरण नही कहला सकता तथा सदाचरण न होने से मोक्ष प्राप्ति की सभावना ही नही रहती। और इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने आचरण को उन्नत वना लेता है वह शनै-शनै अपनी आत्मा को परमात्मा वनाने के प्रयत्न मे सफल हो जाता है।

सत विनोवा भावे ने कहा है —

"जिसने ज्ञान को आचरण मे उतार लिया उसने ईश्वर को ही मूर्तिमान कर लिया समझो।"

मनुष्य का आचरण ही यह सावित करता है कि वह कुलीन है या अकुलीन ! वीर है या कायर, सदाचारी है या अनाचारी। भौतिक ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही सच्चा ज्ञानी नही माना जा सकता। इसके अलावा अनेक शास्त्र पढकर भी व्यक्ति मूर्ख और अज्ञानी की कोटि मे ही आता है, अगर वह उसके अनुसार आचरण नही करता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रोगी डाक्टर द्वारा लिखे हुए नुस्खे को वार-वार पढता है किन्तु उसमे लिखी हुई औपधियो का सेवन नही करता। सच्चा ज्ञानी वही है जो जिन वचनो को पढता है तथा उसको अपने आचरण मे उतारता है। ऐसे महापुरुप दूसरो के लिये भी प्रदीप का काम करते हैं, जिसके प्रकाश मे अन्य व्यक्ति अपना मार्ग पा लेते हैं।

गीता मे कहा भी है —

यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्ततदेवेतरो जन ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ पुरुप जो-जो करते हैं अन्य पुरुप भी उससे शिक्षा ग्रहण करके उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। वह जो आदर्श स्थापित कर देता है, लोग उसके अनुसार चलते हैं।

ज्ञान से विवेक जागता है और विवेकयुक्त विचार आचरण को शुद्ध बनाते हैं। मनुष्य के जैसे विचार होते है वैसा ही उसका आचरण बनता है। अच्छे विचार सुन्दर भविष्य का निर्माण करते हैं और बुरे विचार मनुष्य को अव पतन की ओर ले जाते हैं। सक्षेप मे मनुष्य वैसा ही बनता है जैसे उसके विचार होते हैं क्योकि उत्तम विचार ही मनुष्य को उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। सुन्दर विचार ही मनुष्य के सबसे घनिष्ठ एव हितकारी मित्र होते है।

एक पाश्चात्य विद्वान के विचारो की महत्ता बताते हुए कहा है —

"They are never alone that are accompanied with noble thoughts"

सुन्दर विचार जिनके साथ हैं वे कभी एकान्त मे नही रहते।

अभिप्राय यही है कि जिसके विचार सुन्दर होते हैं वह कभी अकेलापन महसूस नही करता क्योकि उत्तम विचार पर पदार्थ अथवा बाह्य जगत की ओर जाने की अपेक्षा अपने अन्दर की ओर झांकते हैं अर्थात् आत्म-स्वरूप को पहचानने का तथा उसकी अनन्त शक्ति को खोजने और उसे उपयोग मे लेने का प्रयत्न करते है। इसी प्रयत्न मे लगे रहने के कारण उन्हे बाहरी जगत की अपेक्षा महसूस नही होती तथा उनके हृदय मे बाह्य परिग्रह को बढाने की प्रवृत्ति नही जागती।

यह सब होता है श्रद्धा के द्वारा। श्रद्धा होने पर ही व्यक्ति अपने विनय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करता है तथा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसे अपने आचरण मे उतारता हुआ इन्द्रियो पर सयम रखता है और दान, शील, तप तथा भाव की आराधना करता हुआ मुक्ति का अधिकारी बनता है। स्पष्ट है कि मुक्ति का मूल श्रद्धा है।

बधुओ ! यह कभी नही भूलना चाहिये कि श्रद्धा हृदय की अमूल्य वस्तु है और बुद्धि मस्तिष्क की। श्रद्धा मे विश्वास होता है और बुद्धि मे तर्क। अगर ये दोनो टकराते है तो उसका परिणाम कभी-कभी बडा भयकर रूप ले लेता है। भौतिक ज्ञान की प्राप्ति करने वाले तथा अनेको पोथियाँ पढकर जो व्यक्ति जिन वचनो मे अविश्वास करता है तथा आत्मा के सच्चे स्वरूप और उसके सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र रूपी गुणो को लेकर कुतर्क करता रहता है, वह हृदय की आस्था को खो बैठता है तथा मुक्ति के

मार्ग से भ्रष्ट होकर अवनति अथवा अधोगति की ओर प्रयाण करता है। इसलिये अगर हमे मुक्ति की कामना है तो सर्वप्रथम हृदय मे आस्था अथवा श्रद्धा की सुदृढ नीव रखनी चाहिये।

आपने सुना होगा—श्रद्धा एक-एक ककर को शकर वनाने की क्षमता रखती है और तर्क शकर को भी ककर वना कर छोडता है जिसके हृदय मे श्रद्धा होती है उसकी दृष्टि समदृष्टि वन जाती है।

महात्मा कवीर का कथन है—

समदृष्टि सतगुरु करो, मेरो भरम निकार।
जहँ देखूं तहँ एक ही, साहव का दीदार॥
समदृष्टि तव जानिये, शीतल समता होय।
सव जीवन की आतमा, लखे एक सी सोय॥

चित्त मे समता का होना ही जीवन की सर्वोत्तम अवस्था है। यह अवस्था उन्ही को प्राप्त होती है जिनके पूर्व पुण्यो का उदय होता है। समदृष्टि ही योग-सिद्धि का सच्चा स्वरूप है। जो प्राणी अमीर, गरीव, पशु-पक्षी, सर्प एव विच्छू आदि समस्त प्राणियो मे एक समान चेतन आत्मा को देखता है, तव उसके हृदय में किसी एक के प्रति राग, किसी एक के प्रति विराग, किसी के प्रति वैर-विरोध अथवा किसी के भी प्रति ममत्व नही रह जाता है। उसे न कोई शत्रु दिखाई देता है और न कोई मित्र। न स्वर्ण पर उसे लोभ होता है और न मिट्टी से उदासीनता। ऐसी अन्त करण की अवस्था होने पर उसे आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है। पर यह समस्त फल श्रद्धा का ही होता है। श्रद्धा के अभाव मे आत्मा मे सम-भाव कभी नही आता और सम-भाव या समाधि न आने पर आचरण अथवा क्रियाएँ पाप रहित नही वन पाती।

इसलिये वन्धुओ, अगर आपको आत्म-मुक्ति की अभिलाषा है तो सर्वप्रथम हृदय मे श्रद्धा को मजवूत वनाओ। इसके दृढ होने पर ही ज्ञान एव चरण अर्थात् चारित्र की प्राप्ति होगी तथा आप शनै शनै मुक्ति के पथ पर चल सकेंगे। ●

१९
समय का मूल्य आँको
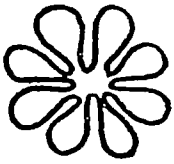
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दसवे अध्याय मे भगवान महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को सम्बोधन करते हुए पुन-पुन कहा है—"**समयं गोयम ! मा पमायए ।**"

अर्थात्—हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

प्रश्न उठता है—प्रमाद किस बात मे नही करना ? खाने-पीने मे ? घूमने फिरने मे ? कीमती वस्त्राभूषण वनवाने मे ? या कि इन्द्रियो के सुखो को भोगने मे ? नही, भगवान ने इन बातो मे प्रमाद न करने के लिए नही कहा है। उन्होंने कहा है—आत्म-साधना करने मे प्रमाद मत करो, धर्मध्यान करने मे आलस्य मत करो !

गौतमस्वामी से ही यह क्यो कहा गया ?

जिज्ञासा होती है कि भगवान के अन्य हजारो शिष्य थे फिर उन्होने अपने प्रधान शिष्य गौतम, जो कि स्वय ही चौदह पूर्व का ज्ञान रखते थे, मति ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एव मन पर्याय ज्ञान, इन चारो ज्ञानो के धनी थे। अन्य प्राणियो के मन की समस्त बाते जानने की जिनमे ताकत थी और अढाई द्वीप के अन्दर जिसमे जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और अर्धपुष्कर आते हैं इनमे जितने भी पचेन्द्रिय प्राणी थे उन सवकी भावनाओ को जानने और समझने की शक्ति थी। ऐसे महाज्ञानी गौतम को ही भगवान ने एक समय का भी प्रमाद न करने की शिक्षा क्यो दी ?

वह इसीलिए कि प्रधान शिष्य होने पर भी उन्हे जो बात कही जाय उसे अन्य चौदह हजार शिष्य समझें और मानें। व्यवहार मे भी हम देखते हैं कि हमारे घरो मे बडे व्यक्ति जैसे कार्य करते हैं, छोटे भी उनका ही अनुकरण

करने लगते है । साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, क्रमश चार तीर्थ माने जाते है । मुख्यता प्रथम तीर्थ साधु को दी जाती है और साधुओ मे भी गौतम-स्वामी सबसे बडे थे, अत उन्हे ही सम्बोधित करके भगवान ने समय मात्र का भी प्रमाद न करने की शिक्षा दी थी । वह केवल उनके लिए ही नही थी अपितु चारो तीर्थों के लिए उस समय भी थी और आज भी है ।

बडो का कार्य है छोटो को समझदार एव बुद्धिमान समझकर भी उन्हे सदुपदेश देना । आपको अनुभव भी होगा कि जब आपका पुत्र व्यवसाय सम्बन्धी कार्य करने के लिए यानी माल खरीदने या बेचने के लिए जाता है तो आप उसे घर पर और स्टेशन पर ट्रेन मे बैठते-बैठते तक भी चेतावनी देते हैं—"बेटा ! जोखिम साथ है । बहुत रुपये-पैसे पास मे है अत बडी सावधानी रखना, अधिक निद्रा मत लेना, सजग रहने का प्रयत्न करना ।"

ऐसा आप क्यो कहते है ? आप जानते है कि आपका पुत्र होशियार है, और अपने कार्य मे चतुर है । अन्यथा आप उसे धन व अन्य जोखिम का सामान देकर भेजते ही क्यो ? किन्तु फिर भी आपका मन उसे शिक्षा देने का होता है अत बार-बार सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं । पिता अपने समस्त बेटो को कोई बात कहना चाहता है तो वह बडे लडके को सम्बोधित करके ही वह बात कहता है । ससुर बहुओ को उपदेश देना चाहता है तो अपनी पुत्री को सीख देता है ताकि बहुएँ उसे सुनकर स्वय ही उस हित-शिक्षा को ग्रहण कर सके ।

इसीलिए भगवान महावीर ने अपने प्रिय एव सबसे बडे शिष्य गौतम को प्रमाद न करने की शिक्षा दी जो आज भी हमारे और आप सबके लिए उतना ही महत्त्व रखती है ।

एक दृष्टान्त और भी आपके सामने रखता हूँ—वासुदेव के अवतार श्रीकृष्ण ने महाभारत मे युद्ध के समय अर्जुन को उपदेश दिया था । जोकि आज विश्वविख्यात गीता के रूप मे हमारे समक्ष है । किन्तु क्या वह केवल अर्जुन के लिए ही था ? नही, वह उपदेश उस समय भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए था और आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए है । अन्यथा क्यो घर-घर मे 'भागवत-गीता' पढी जाती ?

मुस्लिम धर्म मे कुरान सर्वोच्च और पवित्र ग्रन्थ माना जाता है । हजरत मोहम्मद ने जिन्हे मुसलमान अपना पैगम्बर मानते है अपने चार दोस्त हजरत

अली, हजरत अबूबकर आदि को जो उपदेश दिया वह कुरान शरीफ के रूप मे है। पर क्या वह उपदेश उन्होने केवल अपने दोस्तो को ही दिया था ? नही, आज उसका एक-एक शब्द प्रत्येक मुसलमान के लिए ब्रह्मवाक्य के समान है और प्रत्येक मुसलमान उसका प्रगाढ श्रद्धा और भक्ति से पारायण करता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि भगवान महावीर ने गौतमस्वामी को सम्बोधन करके काल का एक समय भी व्यर्थ न गँवाने का जो उपदेश दिया है वह आज हम सबके लिए है और हम सभी को प्रमाद का त्याग करके प्रत्येक पल का सदुपयोग करना चाहिए क्योकि जीवन क्षणिक है और न जाने किस दिन किस वक्त वह समाप्त हो सकता है। कहा भी है—

दुम-पत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए॥

उत्तराध्यायन सूत्र अ १० गा १

कहा गया है—वृक्ष के ऊपर जो पीले पत्ते हैं वे कब तक ठहरने वाले हैं ? हवा का एक झोका आते ही वे नीचे गिर जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन है जो किसी भी समय नष्ट हो सकता है। अत हे गौतम ! समय मात्र का भी विलम्ब आत्म-साधना मे मत करो।

जीवन की क्षणिकता का एक और उदाहरण उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्याय की दूसरी गाथा मे दिया है—

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एव मणुयाण जीविय समयं गोयम ! मा पमायए॥

जिस प्रकार कुश के अग्रभाग पर जल का बिन्दु चमकता है। किन्तु उसकी चमक कितने समय तक ठहरती है ? सूर्य की एक किरण के पडते ही वह सूख जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन अल्पकाल का है, अत हे गौतम ! एक समय के लिए भी प्रमाद मत करो।

वस्तुत जिस प्रकार गौतम स्वामी का जीवन एक-एक पल करके बीत रहा था, उसी प्रकार हमारा जीवन भी एक-एक पल करके ही समाप्त होता जा रहा है और उन जैसे दिव्य पुरुष को भी जब भगवान ने चेतावनी दी थी तो हम किस गिनती मे हैं ? गौतम स्वामी का तो प्रत्येक क्षण ही उच्च-तम साधना मे व्यतीत हो रहा था और आज हमारा जीवन किस प्रकार

ससार के प्रपचो मे वीत रहा है, हम जानते ही है। इसीलिए उनकी अपेक्षा हमे इस चेतावनी की अनिवार्य आवश्यकता है। अगर यह इसी प्रकार बीतता चला गया तो अन्त मे पश्चात्ताप के अलावा क्या हाथ आएगा ? कुछ भी नही।

एक हिन्दी के कवि का कथन है—

जीवन एक वृक्ष है फानी,
वचपन पत्ते साख जवानी।
फिर है पतझड़ खुश्क वुढ़ापा,
इसके वाद है खतम कहानी।

फानी का अर्थ है नाशवान। तो कवि कहता है—यह जीवन एक वृक्ष के समान नाशवान है। कोई व्यक्ति प्रश्न करता है—जीवन और वृक्ष मे समानता कैसे हुई ? वचपन, जवानी और वुढापा क्या ये तीनो चीजे वृक्ष मे पाई जाती हैं ?

इसका उत्तर देने वाला व्यक्ति भी कम चतुर नही है। वह वताता है—जव वृक्ष उगता है, उसमे सर्व प्रथम कोमल पत्ते आते है, इसी प्रकार मनुष्य का वचपन होता है, उसके पश्चात् वृक्ष मे वडी-वडी और पुष्ट डालियाँ आती हैं वह मनुष्य की जवानी के समान कहलाती हैं। फल, फूलो और सुदृढ शाखाओ से भरपूर वृक्ष प्रत्येक के मन को मुग्ध कर लेता है तथा प्रत्येक प्राणी उससे फल प्राप्ति की तथा उसकी छाया मे विश्राम करने की इच्छा करते हैं। इसी प्रकार जव व्यक्ति पूर्ण युवावस्था को प्राप्त कर लेता है तो उसके स्नेही, स्वजन तथा पुत्र, पुत्री, पत्नी, पिता अथवा माता उससे अनेक प्रकार की आशाएँ रखते हैं और मनुष्य की वह अवस्था अन्य दोनो अवस्थाओ से भिन्न तथा अहकार से भरी हुई होती है। उसे गर्व होता है कि मैं इन सवका पालन-पोपण करता हूँ तथा सवका आश्रय रूप हूँ। किन्तु क्या वह युवावस्था भी सदा टिकती है ? नही, उसके लिये यही कहा जा सकता है—

रहती है कव वहारे जवानी तमाम उम्र।
मानिन्द वूये गुल, इधर आई उधर गई॥

अर्थात्—जवानी की वहार क्या सम्पूर्ण उम्र तक वनी रहती है ? वह तो फूल की सुगधू के समान इधर मे आती है और उधर चली जाती है।

आशय कहने का यही है कि युवावस्था भी स्थायी नही रहती तथा जिस प्रकार वृक्ष कोमल कोपलो से वढकर हरा-भरा तथा फल और फूलो से एक दिन लद जाता है। किन्तु अन्त मे पतझड के आते ही उसके हरे पत्ते पीले पड जाते हैं, और उन सबके झड जाने से वृक्ष ठूँठ के समान खडा रह जाता है तथा कुछ समय पश्चात् उखडकर धराशायी होता है। उसी प्रकार युवावस्था की रगीनियो मे भूला हुआ प्राणी अल्पकाल मे ही समस्त राग-रग से हाथ धोकर जरावस्था को प्राप्त करता है।

वृक्ष के पतझड के समान ही मनुष्य वृद्धावस्था मे पूर्णतया शक्तिहीन हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते पीले पड जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कमजोर हो जाता है तथा त्वचा झुर्रियो से भर जाती है, इन्द्रियाँ निर्वल हो जाती हैं तथा सम्पूर्ण शरीर जर्जर हो जाता है।

भर्तृहरि ने भी वृद्धावस्था का अत्यन्त दयनीय चित्र उपस्थित किया है—

गात्र सकुचित गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि,
दृष्टिर्नश्यति वर्धते वधिरता वक्त्र च लालायते।
वाक्य नाद्रियते च वान्धवजनो भार्या न शुश्रूपते,
हा कष्ट पुरुषस्य जीर्णवयस. पुत्रोऽपि मित्रायते॥

कहा गया है—मानव की वृद्धावस्था अत्यन्त खेदजनक होती है। इस अवस्था मे शरीर सिकुड जाता है। चाल धीमी हो जाती है, दन्तपक्ति टूटकर गिर जाती है दृष्टि मन्द हो जाती है, कान वहरे हो जाते हैं, मुँह से लार टपकती है, वन्धुवर्ग वातो से भी सम्मान नही करते, पुत्र भी शत्रु हो जाते हैं, यहाँ तक कि स्त्री भी सेवा-सुश्रुपा नही करती।

वास्तव मे ही ससार मे ऐसा होता है। जिस पुत्र को मानव अनेकानेक कष्ट सहकर भी उसे पाल-पोस कर वडा करता है, अनीति और वेईमानी से धन कमाकर अपने लिये अनेकानेक कर्म-वधन करता हुआ भी धन जोडता है वही पुत्र होश सम्हालने के पश्चात् तथा अपनी पत्नियो के आ जाने के वाद पिता की अवज्ञा करता हुआ उन्हे अपशब्द कहता है तथा उसे एक दिन भी सुख से भरपेट अन्न नही खाने देता।

वृद्धावस्था की दशा

किसी नगर मे एक सेठ रहता था। अपनी युवावस्था मे उसने अपा वैभव इकट्ठा किया तथा वृद्धावस्था मे अपने पुत्रो को अपना सम्पूर्ण कारोव

सभाल दिया। परिणाम यह हुआ कि उसके पुत्रो ने समस्त व्यापार और धन को अपने हाथ मे कर लेने के पश्चात् पिता को वाहर के वरामदे मे एक टूटी चारपाई पर सुला दिया और एक लाठी हाथ मे देकर कह दिया—"पिताजी यह लाठी आपके पास रखी है, अगर घर मे कुत्ते-विल्ली अथवा चोर भिखमगे आ जाये तो उन्हे भगाते रहना।"

सेठजी वेचारे क्या करते ? निरुपाय होकर यही कार्य करने लगे। घर के सव सदस्य जव खा चुकते थे तव उन्हे वचा-खुचा खाना वाहर ही मिल जाया करता था। उनकी वहुएँ खाने की थाली और लोटे मे पानी रख जाया करती थी।

कुछ दिन इसी तरह वीत गए। पर सेठजी की पुत्र वधुओ को यह व्यवस्था भी रुचिकर न लगी। वे कहने लगी—"ससुर जी वाहर वैठे रहते है अत उन्हे वार-वार वाहर आने-जाने पर घूंघट निकालना पडता है इससे वडी परेशानी होती है। अच्छा तो यह हो कि इन्हे हवेली की ऊपरी मजिल के चौवारे मे रख दिया जाय। एक घन्टी इन्हें दे देंगे ताकि कोई काम होगा तो यह घन्टी वजा देंगे और इन्हे वस्तु पहुँचा दी जाएगी।"

सेठजी के पुत्रो ने अपनी पत्नियो की सलाह से कही हुई वात जव सुनी तो उसे तुरन्त मजूर कर लिया और अपने पिता को ऊपरी मजिल पर ले जाकर वहाँ रहने की उनकी व्यवस्था कर दी।

वेचारे वृद्ध सेठ ऊपर ही रहने लगे। जव उन्हे भोजन, पानी या किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता होती तो वे घटी वजा दिया करते थे। घटी की आवाज सुनकर नौकर-चाकर उन्हे उनकी आवश्यक वस्तु वही दे आया करते थे।

यह क्रम भी काफी दिनो तक चलता रहा। पर एक दिन सेठ के दुर्भाग्य से उनका पौत्र खेलता-खेलता ऊपर चला गया और घटी को अपने लिये सुन्दर खिलौना समझकर उठा लाया। घटी ज्योही नीचे गई वूढे की मुश्किल हो गई। घटी के न वजने से किसी व्यक्ति को उनका ध्यान न आया और भोजन तथा पानी के लिये दवे कठ मे चीखना-चिल्लाना कोई सुन भी न सका।

परिणाम यह हुआ कि दो दिन वीत गए। भोजन के विना तो फिर भी सेठ के प्राण टिके रहते, पर जल के न मिलने से वे कूच कर गए।

तो वधुओ, इस जीवन का अनेक वार इस प्रकार अन्त होता है। कहा भी है —

यावद् वित्तोपार्जनशक्त, तावत् निज परिवारे रक्त ।
तदनु च जरया जर्जर देहे, वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥

—मोहमुद्गर

जव तक धन कमाने की सामर्थ्य रहती है, तव तक कुटुम्व के व्यक्ति सव तरह से प्रसन्न रहते हैं। इसके वाद वुढापे मे शरीर के जर्जर होते ही कोई वात भी नही पूछता।

इसीलिये मानव को समय रहते ही चेत जाना चाहिये अर्थात् जिस अवस्था मे उसका शरीर सशक्त रहता है, समस्त इन्द्रियाँ काम करती हैं तथा वह अपनी इच्छानुसार अपने धन का दान-पुण्य द्वारा सदुपयोग कर सकता है उसे कर लेना चाहिये। धर्माराधन के लिये वृद्धावस्था की प्रतीक्षा करना जीवन को व्यर्थ नष्ट कर देना ही है।

हम जानते हैं कि ससार के सभी पुरुप गृह त्याग कर साधु नही वन सकते किन्तु ससार मे रहकर भी जो मन को ससार मे नही रमाते वे आत्म-मुक्ति के मार्ग पर सफलतापूर्वक चल सकते हैं। त्याग (दान) मन से किया जाता है। चोरो के द्वारा चुरा ले जाने पर, स्पर्धा के कारण दान देने पर अथवा पुत्र-पौत्रो के द्वारा ले लिया जाने पर वह त्याग धन का त्याग नही कहलाता।

महाभारत मे कहा गया है —

"जिसने इच्छा का त्याग किया है, उसको घर छोडने की क्या आवश्यकता है, और जो इच्छा से वँधा हुआ है, उसको वन मे रहने से क्या लाभ हो सकता है ? सच्चा त्यागी जहाँ रहे वही वन और वही भवन-कदरा है।"

जो व्यक्ति इस वात को ममझ लेते हैं, वे अपने जीवन का एक भी अमूल्य क्षण व्यर्थ नही जाने देते। नीतिकारो ने कहा भी है —

'क्षणश कणशश्चैव, विद्यामर्थं च साधयेत।"

अर्थात् मनुष्य क्षण-क्षण का उपयोग करके ज्ञान हासिल करे तभी ज्ञानार्जन हो सकता है तथा व्यापारी एक-एक कण का, ज्ञानी एक-एक अनाज के दाने को सग्रह करे तो धन का सग्रह कर सकता है।

व्यक्ति मोह मे अन्धा होकर अपना हानि-लाभ नही देखता । इन्द्रिय-सुखो के फेर मे पड जाने से उसकी तृष्णा वलवती होती जाती है और उसकी पूर्ति न हो पाने के कारण वह आकुल-व्याकुल होता है आसक्ति के कारण क्रोध करता है तथा क्रोध जनित मोह के कारण इस ससार मे फँसता चला जाता है ।

इसका कारण यही है कि वह न मानव जन्म के महत्त्व को समझता है और न ही समय की कीमत आँककर ज्ञान-दृष्टि से जगत की असारता को जान पाता है। केवल भौतिक ज्ञान की पुस्तको को रट-रटाकर अवश्य ही अपने आपको वह विद्वान और चतुर व्यक्ति की श्रेणी मे समझने लगता है तथा अपनी शिक्षा के हठ से जिस प्रकार तोता वहेलिये के जाल मे फँस जाता है और वन्दर रोटी के लोभ मे मदारी के कब्जे मे आ जाता उसी प्रकार वह विपयो के लालच मे आकर ससार के जाल मे उलझ जाता है। भोगो की लालसा उसे ठीक उसी प्रकार जगत के वन्धन मे वाँध देती है, जिस प्रकार काँटे मे लगी हुई रोटी या आटे को खाने के लालच मे मछली जाल मे फँस जाती है ।

कितने खेद की वात है कि मनुष्य इस दुर्लभ देह, आर्य क्षेत्र, उच्च जाति अथवा परिपूर्ण इन्द्रियाँ पाकर भी आत्म-मुक्ति के अपने विराट उद्देश्य और लक्ष्य की ओर ध्यान नही देता । वह केवल दुनियादारी के धन्धे मे ही फँसा रहता है । जिस प्रकार पशु अपने भविष्य की कोई कल्पना नही करते उसी प्रकार ससार के सुखो मे गृद्ध प्राणी भी अपने भविष्य का ख्याल नही करते । ऐसे मूढ प्राणियो मे और पशुओ मे आकृति भेद के अलावा और क्या अन्तर समझा जाय ? कुछ भी नही । ऐसे व्यक्तियो को महापुरुप वार-वार समझाते हैं । कहते हैं—

> क्या देख दिवाना हुआ रे ?
> माया वनी सार की सुई और नरक का कुआ रे।
> हाड चाम का वना पीजरा, तामे मनुआँ सूआ रे।
> भाई वन्धु और कुटुम्व कवीला, तिनमे पच-पच मूआ रे।
> कहत कवीर सुनो भाई साधो, हार चला जग जूआ रे।

महात्मा कवीर का कथन है—हे भोले प्राणी ! तू इस ससार मे क्या देखकर दिवाना हो रहा है ? इस जगत मे जो कुछ भी दिखाई देता है सव

नश्वर और मिथ्या है, केवल माया है जो कि सार की सुई के समान आत्मा को सदा कोचती रहती है। दूसरे शब्दो मे यह जगत अपने नाना प्रकार के आकर्षणो से मनुष्य को लुभाता है और उस पर कर्मों का अनन्त बोझा लादकर नरक रूपी गहरे कुए मे ढकेल देता है।

यह आत्मा जो कि अनन्त शक्ति, अनन्त सुख एव अनन्त तेज का कोश है, इस हड्डी और चमडे के पिंजरे मे कैद है किन्तु इस मायामय ससार को भी वह सुखमय मानकर मिथ्यात्व की गहरी निद्रा मे सोया हुआ है।

यह जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूल गया है, अपने लक्ष्य का उसे भान नही है। केवल इस देह के सम्बन्धी कुटुम्बियो और स्वजन-परिजनो के लिये अहर्निशि पचता रहता है, उन्ही के सुख के लिये अन्याय, अनीति और नाना प्रकार के पापो से धनोपार्जन करता हुआ कर्म-बन्धन करता है तथा अन्त मे एक जुआरी जिस प्रकार अपने धन को खोकर खाली हाथ घर लौटता है, उसी प्रकार यह भी इस जीवन का कुछ भी लाभ न उठाता हुआ अपने अनन्त पुण्यो से प्राप्त दुर्लभ मानव भव को खोकर चौरासी लाख योनियो मे भटकने के लिये चल देता है।

इसलिये बन्धुओ ! हमे समय की कीमत समझनी चाहिये तथा जीवन के एक क्षण को भी व्यर्थ खोये बिना ज्ञान-प्राप्ति एव आत्म-साधना मे निरत रहते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढना चाहिये। समय के एक-एक क्षण को भी अगर हम सार्थक कर लेंगे तो भविष्य के अनेकानेक कष्टो मे बच सकते हैं। अंग्रेजी मे एक कहावत भी है—

"A stich in time saves nine."

समय पर थोडा सा प्रयत्न भी आगे की बहुत सी परेशानियो को बचाता है।

इसलिये भगवान महावीर के उपदेश को हृदयगम करते हुए हमे अपने एक-एक क्षण को सार्थक करना चाहिये। यह कभी नही भूलना चाहिये कि बीता हुआ समय पुन लौट कर नही आता और अगर उसे खो दिया तो अन्त मे केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। ○

व्यक्ति मोह मे अन्धा होकर अपना हानि-लाभ नही देखता। इन्द्रिय-सुखो के फेर मे पड जाने से उसकी तृष्णा वलवती होती जाती है और उसकी पूर्ति न हो पाने के कारण वह आकुल-व्याकुल होता है आसक्ति के कारण क्रोध करता है तथा क्रोध जनित मोह के कारण इस ससार मे फँसता चला जाता है।

इसका कारण यही है कि वह न मानव जन्म के महत्त्व को समझता है और न ही समय की कीमत आँककर ज्ञान-दृष्टि से जगत की असारता को जान पाता है। केवल भौतिक ज्ञान की पुस्तको को रट-रटाकर अवश्य ही अपने आपको वह विद्वान और चतुर व्यक्ति की श्रेणी मे समझने लगता है तथा अपनी शिक्षा के हठ से जिस प्रकार तोता वहेलिये के जाल मे फँस जाता है और वन्दर रोटी के लोभ मे मदारी के कब्जे मे आ जाता उसी प्रकार वह विषयो के लालच मे आकर ससार के जाल मे उलझ जाता है। भोगो की लालसा उसे ठीक उसी प्रकार जगत के वन्धन मे बाँध देती है, जिस प्रकार काँटे मे लगी हुई रोटी या आटे को खाने के लालच मे मछली जाल मे फँस जाती है।

कितने खेद की वात है कि मनुष्य इस दुर्लभ देह, आर्य क्षेत्र, उच्च जाति अथवा परिपूर्ण इन्द्रियाँ पाकर भी आत्म-मुक्ति के अपने विराट उद्देश्य और लक्ष्य की ओर ध्यान नही देता। वह केवल दुनियादारी के धन्धे मे ही फँसा रहता है। जिस प्रकार पशु अपने भविष्य की कोई कल्पना नही करते उसी प्रकार ससार के सुखो मे गृद्ध प्राणी भी अपने भविष्य का ख्याल नही करते। ऐसे मूढ प्राणियो मे और पशुओ मे आकृति भेद के अलावा और क्या अन्तर समझा जाय ? कुछ भी नही। ऐसे व्यक्तियो को महापुरुप वार-वार समझाते है। कहते है—

> क्या देख दिवाना हुआ रे ?
> माया वनी सार की सुई और नरक का कुआ रे।
> हाड चाम का वना पींजरा, तामे मनुआँ सूआ रे।
> भाई वन्धु और कुटुम्ब कवीला, तिनमे पच-पच मूआ रे।
> कहत कवीर सुनो भाई साधो, हार चला जग जूआ रे।

महात्मा कवीर का कथन है—हे भोले प्राणी! तू इस ससार मे क्या देखकर दिवाना हो रहा है ? इस जगत मे जो कुछ भी दिखाई देता है सव

नश्वर और मिथ्या है, केवल माया है जो कि सार की सुई के समान आत्मा को सदा कोचती रहती है। दूसरे शब्दो मे यह जगत अपने नाना प्रकार के आकर्षणो से मनुष्य को लुभाता है और उस पर कर्मों का अनन्त बोझा लादकर नरक रूपी गहरे कुए मे ढकेल देता है।

यह आत्मा जो कि अनन्त शक्ति, अनन्त सुख एव अनन्त तेज का कोश है, इस हड्डी और चमडे के पिंजरे मे कैद है किन्तु इस मायामय समार को भी वह सुखमय मानकर मिथ्यात्व की गहरी निद्रा मे सोया हुआ है।

यह जीव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भूल गया है, अपने लक्ष्य का उसे भान नही है। केवल इस देह के सम्वन्धी कुटुम्बियो और स्वजन-परिजनो के लिये अहर्निशि पचता रहता है, उन्ही के सुख के लिये अन्याय, अनीति और नाना प्रकार के पापो से धनोपार्जन करता हुआ कर्म-वन्धन करता है तथा अन्त मे एक जुआरी जिस प्रकार अपने घन को खोकर खाली हाथ घर लौटता है, उसी प्रकार यह भी इस जीवन का कुछ भी लाभ न उठाता हुआ अपने अनन्त पुण्यो से प्राप्त दुर्लभ मानव भव को खोकर चौरासी लाख योनियो मे भटकने के लिये चल देता है।

इसलिये वन्धुओ ! हमे समय की कीमत समझनी चाहिये तथा जीवन के एक क्षण को भी व्यर्थ खोये विना ज्ञान-प्राप्ति एव आत्म-साधना मे निरत रहते हुए अपने लक्ष्य की ओर वढना चाहिये। समय के एक-एक क्षण को भी अगर हम सार्थक कर लेंगे तो भविष्य के अनेकानेक कष्टो मे वच सकते हैं। अग्रेजी मे एक कहावत भी है—

"A stich in time saves nine"

समय पर थोडा सा प्रयत्न भी आगे की वहुत सी परेशानियो को वचाता है।

इसलिये भगवान महावीर के उपदेश को हृदयगम करते हुए हमे अपने एक-एक क्षण को सार्थक करना चाहिये। यह कभी नही भूलना चाहिये कि वीता हुआ समय पुन लौट कर नही आता और अगर उसे खो दिया तो अन्त मे केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। ●

२०
मानव जीवन की सफलता

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

कल के प्रवचन में मैंने बताया था कि भगवान महावीर ने अपने प्रधान शिष्य गौतम को बार-बार कहा था—"**समय गोयम मा पमायए।**" अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

मैंने यह भी कहा था कि भगवान का यह उपदेश केवल गौतम स्वामी के लिये ही नही था अपितु उनके समस्त शिष्यो के लिये, अन्य समस्त साधु-साध्वियो के लिये तथा श्रावक-श्राविकाओ के लिये था। आज भी वह उपदेश इसी प्रकार हमारे और आप सभी के लिये है।

भगवान ने गौतम को उपदेश देते हुए एक गाथा और कही थी वह इस प्रकार है—

> **इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहु पच्चवायए।**
> **विहुणाहि रय पुरे कडं, समय गोयम मा पमायए ॥**

कहा है—"*हे गौतम ! यह मनुष्य का आयुष्य अत्यल्प है और उसमे भी अनेकानेक विघ्न आते रहते है इसलिये विना विलम्ब किये पूर्वकृत कर्म रूपी रज को आत्मा से अलग करो तथा जीवन को कल्याणकारी मार्ग पर लगाओ।*

कल मैंने आपको बताया था कि यह जीवन एक वृक्ष के समान है जिसमे बचपन रूपी अकुर, फल एव फूलो मे लदा हुआ यौवन तथा वृद्धावस्था के समान पतझड आता है तथा उसके पश्चात सब खत्म हो जाता है, कहानी मात्र रह जाती है।

कोई प्रश्न करता है कि यह सब क्यो हो जाता है? क्यो यह जीवन रूपी वृक्ष इस प्रकार समाप्त होता है? उत्तर मे यही कहा जाता है—

आयुष्य रूपी चूहे इसे कुतरते रहते हैं। चूहे दो प्रकार के कहे जा सकते हैं एक सफेद और दूसरा काला। दिन रूपी चूहा श्वेत रग का है और रात्रि रूपी काले रग का। ये दोनो वारी-वारी से वृक्ष को कुतरते रहते हैं तथा वृक्ष का आयुष्य इससे समाप्त होता जाता है। मनुष्य के जीवन को भी इसी प्रकार काल रूपी चूहे समाप्त कर देते हैं।

काल की शक्ति

हम सदा देखते हैं कि यह अनन्त वलशाली काल हमारे देखते-देखते ही नए को पुराना बनाता है और पुराने को नष्ट कर देता है। काल की शक्ति को अथवा इसकी गति को कोई नही रोक पाता। एक पल का भी विलम्ब किये विना तथा एक पल का भी विराम लिए बिना निर्बाध रूप से यह अपना कार्य किये जाता है। बच्चे को युवा, युवा को वृद्ध बनाता हुआ एक दिन वह उसे इस ससार से ले जाता है।

खेद है कि अपनी आँखो से यह सब देखते हुए भी हम इस अल्प-जीवन का लाभ नही उठाते तथा हमारा मन इस ससार से विरक्त नही होता।

सस्कृत के एक श्लोक मे कहा गया है—

> प्रतिदिवसमनेकान् प्राणिनो नि सहायान्।
> मरणपथगतास्तान् प्रेक्षते मानवोऽयम ॥
> स्वगतिमपि तथा ताम् बुध्यते भाविनी वा।
> तदपि नहि ममत्व दु खमूल जहाति ॥

कवि का कथन है—प्रतिदिन अनेकानेक प्राणी निस्सहाय के समान मृत्यु के मार्ग पर जाते हैं। हम स्वय भी देखते है कि काल वली के सामने किसी का वश नही चलता। साथ ही हम भी जानते हैं कि हमे भी एक दिन इसका शिकार बनना पडेगा किन्तु फिर भी दु ख के मूल ममता का हम त्याग नही कर पाते।

एक दिन मुझे भी मरना है, यह भली-भांति जानते हुए भी व्यक्ति मोह-माया मे अधिकाधिक फँसता चला जाता है। वह अधिकाधिक परिग्रह इकट्ठा करता है तथा जीवन के अन्त तक भी उसे छोडना नही चाहता है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने इसीलिए मानव को चेतावनी देते हुए लिखा है—

खलक में आय ललचायो है विपय सुख,
फूलो फिरे काल भय चित्त से विसार के।
वडे-वडे राया घनछाया ज्यो विलाय ताको,
लेड गयो काल जडामूल ते उखार के ॥
श्वास ही की आस फेर कौन विसवास करे,
ले जावन माही करे छार तन जारि के।
अमीरिख कहे आय, वसे थे जगत माही,
अन्त को सिधाये महिमान दिन चार के ॥

कहा है—"अरे मूढ। जीव! तू इस जगत मे आकर विपय-सुख मे आसक्त वना हुआ गर्व से फूला नही समाता। लगता है कि काल का तुझे तनिक भी भय नहो है। तभी तो अनिवार्य रूप से आने वाली मृत्यु के डर को हृदय मे विसार कर अपने धन-वैभव तथा कुटुम्बियो के मोह मे आसक्त वना हुआ है।

किन्तु याद रख! इस जगत मे तू तो क्या चीज है, तेरे से भी अधिक समृद्धिशाली पुरुप और वडे-वडे राजा महाराजा भी इस ससार मे आकर विलीन हो गए हैं। काल उन्हे इस प्रकार जड-मूल मे उखाड कर ले गया है कि आज उनका चिह्न भी कही दिखाई नहीं देता।

क्या तू यह नही जानता कि जव तक तू कुटुम्बियो के लिए पचता रहता है, उनके लिए नाना प्रकार के पाप कर्म और अनीति कर करके अर्थ का उपार्जन करता है तथा तेरी सांस चलती है तभी तक तुझे सव चाहते हैं पर श्वास के समाप्त होते ही वे ही लोग एक क्षण का भी विलम्व किये विना तेरी देह जलाकर राख कर देते हैं। यही तो ससार का नियम है कि जो भी इस पृथ्वी पर आता है चार दिन मेहमान के समान रहकर अन्त मे सव छोड-छाडकर यहाँ से सिधार जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को अपने दुर्लभ जीवन और उसकी क्षण-भगुरता को समझकर अपने एक-एक क्षण का सदुपयोग करना चाहिए। उसे प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिए कि मुझे कोटि पुण्यों के फलस्वरूप जो पर्याय मिली है उसे कैसे सार्थक वनाया जाय?

वस्तुत इस मिथ्या और नाशवान ससार की वस्तुओ मे आसक्ति रखना वृथा है। यहाँ कोई किसी का नही है। फिर उनकी चिन्ता और फिक्र मे इस दुर्लभ देह को व्यर्थ नष्ट कर देना कहाँ की बुद्धिमानी है ? पुत्र, स्त्री, पति या अन्य कोई भी स्वजन सम्बन्धी मर गया तो क्या हुआ ? प्रत्येक मनुष्य को ही तो एक दिन अपनी राह पर जाना है। हाँ, अगर वे चले जाँय और हम सदा यहाँ बने रहे, तब तो कोई बात भी है पर जब सभी को जाना है तो फिर मोह और ममता किसलिए ?

इसीलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह समस्त सासारिक प्रलोभनो को जीते तथा सासारिक बन्धनो मे अपनी आत्मा को बँधा न रखे। इसके साथ ही वह समभाव मे रहे।

समदर्शी कैसे बना जाय ?

समदर्शी बनना मुक्ति प्राप्ति का दूसरा साधन है। अगर मनुष्य के हृदय मे सम-भाव आ गया तो समझना चाहिए कि उसके लिये सिद्धि प्राप्ति मे कुछ भी बाकी नही रहा। ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण विश्व के प्राणियो मे एक ही चेतन आत्मा मानता है। अमीर-गरीब, छोटा-बडा, पशु-पक्षी तथा जगत का प्रत्येक अन्य प्राणी उसकी दृष्टि मे समान मालूम देता है। सभी को आत्मवत् मानना ही समदर्शी कहलाता है। जब प्राणी की ऐसी दृष्टि हो जाती है तो उसके हृदय मे किसी के भी प्रति राग और किसी के भी प्रति विराग की भावना नही रहती। किसी से उसका विरोध नही होता और किसी के भी प्रति प्रणय भाव नही रहता। न उसे कोई अपना शत्रु दिखाई देता है और न कोई मित्र। चित्त की ऐसी अवस्था मे भव्य प्राणी का हृदय परम सन्तोष और एव आनन्द का अनुभव करता है।

कवि नजीर का कथन है —

> ये एकताई ये एकरगी, तिस ऊपर कयामत है।
> न कम होना न बढ़ना और हजारो घट मे बँट जाना ॥

कवि के कथन का आशय है—ईश्वर एक है और एक रग है। वह निर्विकार और अक्षय है। उसमे न कोई परिवर्तन आता है और न ही वह कम होता है या बढता है। फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि वह घट-घट मे इस प्रकार प्रकट होता है जैसे एक सूर्य का प्रतिबिम्ब असख्य जलाशयो मे एक ही जैसा दिखाई देता है।

निस्सदेह जीवात्मा और परमात्मा मे कोई अन्तर नही है। सागर मे

सैंकडो नावें और जहाज चलते हैं। असख्यो मगर, मछलियाँ और जल-जन्तु उसमे रहते है। सैंकडो व्यक्ति उसमे स्नान करते हैं किन्तु उसी सागर के जल को एक लोटे मे भर लिया जाय तो उसमे न नावें चल सकेंगी और न ही कोई उसमे स्नान कर सकेगा। सागर मे अथाह जल राशि है और लोटे मे थोडा सा जल है। दोनो एक है और उनके एक होने मे कोई सन्देह नही किया जा सकता। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के एक होने मे भी सन्देह नही किया जा सकता। एक चीटी के शरीर मे भी वही शक्तिशाली आत्मा है और हाथी के शरीर मे भी।

ससार के समस्त धर्मशास्त्र इस विषय मे यही कहते हैं। कुरान मे कहा है—

"ला इलाही इल्ला अन्ना।"

यानी आत्मा के सिवा दूसरा ईश्वर नही है।

बाइबिल मे भी ईसामसीह द्वारा कहा गया है—

"You are the living temples of God."

—तुम ईश्वर के जीवित मन्दिर हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो प्राणी अपनी आत्मा को परमात्मा के रूप मे लाना चाहता है उसे ससार के समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के समान ही मानना चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

श्री शकराचार्य ने भी कहा है —

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ, मा कुरु [illegible] सन्धौ।
भव सम चित्त सर्वत्र त्व वाञ्छस्यचि[illegible] व।

अर्थात्—हे प्राणी! अगर तू शीघ्र ही मे[illegible] न
शत्रु और मित्र, पुत्र [illegible] मे विरोध [illegible]
को एक नजर से दे[illegible] भेद मत

ऐसी समदृष्टि [illegible] बनाती
हुए उसे परमात्मपद [illegible] है। इसी
इतिहासो मे देखते [illegible]
बकरियो के समान [illegible]
करते थे। इनका [illegible] कि

उन भयकर प्राणियो को भी अपने समान ही मानती थी। उनकी आत्मा यही प्रार्थना करती थी —

समदृष्टि सतगुरु करो, मेरो भरम निवार।
जहँ देखूं तहँ एक ही, साहब का दीदार॥
समदृष्टि तब जानिये, शीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखें एक सी सोय॥

और जब उनकी यह कामना फलीभूत हो जाती थी तो वे गद्गद होकर कहते थे —

समदृष्टि सतगुरु किया, भरम किया सब दूर।
दूजा कोई दिखै नहीं, राम रहा भरपूर॥

जीवन की ऐसी अवस्था ही सर्वोत्तम मानी जा सकती है। और यह उन्ही को प्राप्त होती है जिनके पूर्व जन्मो के असख्य पुण्य सचित होते हैं।

तो बन्धुओ हमने आज की बात का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के गौतम को दिये हुए उस उपदेश से किया था—"हे गौतम ! तेरा शरीर सब तरह से जीर्ण हो रहा है, बाल श्वेत हो गए हैं, शक्ति बल क्षीण हुआ जा रहा है अत समय मात्र का भी प्रमाद अब मत कर।"

इसलिये हमे चाहिये कि इसी क्षण से हम सजग और सतर्क हो जायें। उम्र भले ही हमारी कुछ भी हो केवल अपनी आत्मा और उसकी शक्ति पर विश्वास होना चाहिये।

पचतन्त्र मे कहा है —

आदौ चित्ते पुन काये, सतां सम्पद्यते जरा।
असता तु पुन काये, नैव चित्ते कदाचन॥

अर्थात् सत्पुरुषो को पहले चित्त मे और बाद शरीर मे बुढापा आता है तथा असत्पुरुषो को शरीर मे ही बुढापा आ जाता है चित्त मे कभी नही।

इस बात को हमे गम्भीरता पूर्वक समझना चाहिये। पद्य के अनुसार सज्जन पुरुषो के चित्त मे पहले बुढापा आ जाता है अर्थात् उनके हृदय मे ससार के प्रति उदासीनता आ जाती है। परिणामस्वरूप वे पहले से ही जगत से विरक्त होकर आत्म-साधना मे लग जाते हैं।

किन्तु जो असत्पुरुष अर्थात् दुर्जन होते हैं वे शरीर के वृद्ध हो जाने पर

भी विषय-भोगो मे रुचि रखते हैं तथा तृष्णा और ममता का त्याग नहीं करते। ऐसे व्यक्ति जीवन के अन्त तक भी सतर्क नही हो पाते तथा अगले जन्म मे साथ ले जाने के लिये पुण्य का तनिक भी सचय नही कर सकते।

अतएव हमे शरीर के वृद्ध होने न होने की परवाह नही करनी है तथा 'जव जागे तभी सवेरा।' वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए ससार से विरक्त रहकर आत्म-कल्याण मे जुट जाना है। शरीर के वृद्ध हो जाने पर भी आत्मा की अनन्तशक्ति मे कमी-कमी नही आती यह विचार करके अपने विचारो को उच्चतम वनाते हुए कर्मों की निर्जरा करनी है।

मृत्यु से डरो मत !

जो अज्ञानी व्यक्ति यह विचार कर घवराने लगते है कि अव हमारी वृद्धावस्था आ गई और हमे काल का ग्रास वनना पडेगा, वे शोक और चिन्ता के कारण हाय-हाय करके अपने कर्मों का वन्धन करते हैं तथा अगले जन्म को भी विगाड लेते हैं।

किन्तु ज्ञानी पुरुप मृत्यु को एक वस्त्र वदलकर दूसरा पहन लेने के समान ही साधारण मानते हैं। उन्हे इस शरीर के नष्ट हो जाने का तनिक भी भय नही होता। क्योंकि वे आत्मा को अमर और अविनाशी मानते हैं। वे विचार करते हैं—'इस देह का नाश होने से मेरी क्या हानि है ? यह नष्ट हो जायेगी तो दूसरी नवीन देह मिलेगी। मेरी आत्मा तो शाश्वत है जिसे कोई नष्ट नही कर सकता।

भगवद्गीता मे कहा भी है —

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि. नैन दहति पावक ।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
> अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
> विनाशमव्ययस्यास्य, न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

अर्थात् इस आत्मा को शस्त्र काट नही सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे भिगो नही सकता और पवन इसे सुखा नही सकता। कोई भी शक्ति इस अजर-अमर और अविनाशी आत्मा को नष्ट करने मे समर्थ नहीं है।

भीष्म पितामह कई दिन तक शर-शैय्या पर लेटे रहे और उसमे उन्होंने रंचमात्र भी दु:ख या कष्ट का अनुभव नहीं किया। क्योंकि वे भली-भांति विश्वास करते थे कि मेरी आत्मा पहले भी थी, अब भी है और भविष्य मे भी

रहेगी। यही कारण था कि अन्तिम क्षण तक उन्होंने परम पिता परमात्मा का स्मरण किया और स्मरण करते-करते ही प्रसन्नतापूर्वक अपना चोला बदल लिया।

महापुरुष इसी प्रकार स्वय प्रबुद्ध रहते हैं तथा औरो को भी वोध देते हैं महात्मा बुद्ध के समय मे एक स्त्री का इकलौता पुत्र काल कवलित हो गया। स्त्री अपने पुत्र की मृत्यु से अत्यन्त शोकाकुल हुई और उसे लेकर रोती-पीटती हुई बुद्ध के पास आकर बोली—

"भगवन्! मेरा यही एक बेटा था और यह भी मर गया कृपा करके इसे किसी भी प्रकार जीवित कर दीजिये।

भगवान् बुद्ध स्त्री का दुख-देखकर व्यथित हुए किन्तु उसकी आत्मा को जगाने के लिए बोले – 'बहन! मैं तुम्हारे पुत्र को जीवित कर दूंगा पर एक शर्त है कि तुम किसी ऐसे घर से राई के थोडे से दाने ले आओ जिस घर मे किसी की भी कभी मृत्यु न हुई हो।"

पुत्र-शोक से विह्वल स्त्री बुद्ध की बात सुनकर आश्वस्त हुई और नगर की ओर दौडी। किन्तु प्रत्येक घर मे घूमने पर भी उसे कोई ऐसा कहने वाला न मिला जहाँ पर किसी की मृत्यु न हुई हो। कोई पिता की, कोई दादा की, कोई पुत्र की और कोई पत्नी की मृत्यु हुई है, यही कहता था।

अन्त मे निराश होकर वह पुन बुद्ध के पास आई और बोली—"भगवन्! ऐसा तो कोई भी घर मुझे नही मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। सभी के घर मे कोई न कोई मरा है।"

बुद्ध ने यह सुनकर कहा—"बहिन! तुम अब तो समझ ही गई होगी कि मृत्यु का आना अनिवार्य है। जो जन्मा है वह मरेगा ही। आगे पीछे हमे भी यह देह छोडनी है, अत धैर्य धारण करो तथा अपने आत्म-कल्याण की ओर ध्यान दो।"

महात्मा बुद्ध की बात सुनकर स्त्री को बोध हुआ और उसने मृत्यु को अवश्यम्भावी मानकर अपने चित्त को शान्त किया तथा मृतक पुत्र के शव को लेकर उसका क्रिया-कर्म करने चल दी।

इसलिये बन्धुओ, हमे भी न वृद्धावस्था के लिये शोक करना है और न ही मृत्यु से भयभीत होना है। अपितु यही प्रयत्न करना है कि हम त्याग, तपस्या, व्रत तथा नियमादि के द्वारा कर्मो की निर्जरा करके ऐसा प्रयत्न करे जिससे पुन जन्म न लेना पडे और मृत्यु का कष्ट भी न भोगना पडे।

हमे अपने जीवन के बचे हुए समय का ही बडी सतर्कता पूर्वक सदुपयोग करना है। बीता हुआ समय कभी लौटकर नही आता। अगर हम यह बात भली-भाँति समझ लेते हैं तो निश्चय ही अपना परलोक सुधार कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो सकते है।

प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने भी कहा है —

तजो मोह-ममता भज समता, आत्म-स्वरूप निहारो।
हृदय पटल का राग-रग धो धर्म भाव उर धारो।
यह अनित्यता भव्य भावना जो प्रतिदिन भाते हैं।
दु.ख-शोक से मुक्त भव्य वे शाश्वत सुख पाते हैं।

तो शाश्वत सुख पाने का यही सर्वोत्तम नुस्खा है कि ससार की अनित्यता का ध्यान रखते हुए मोक्षाभिलाषी प्राणी मोह-ममता का त्याग करके हृदय मे समता को धारण करे तथा अपने हृदय-पटल से राग-द्वेष की कालिमा को मिटाकर उसे स्वच्छ बनाए तथा धर्माराधन मे जुट जाए।

जो भव्य प्राणी ऐसा करेंगे, वे निश्चय ही शाश्वत सुख की प्राप्ति करेंगे तथा सदा के लिये जन्म-मरण के कष्टो से मुक्त हो जाएँगे। वृद्धावस्था तो क्या जीवन के अन्तिम समय मे भी अगर उनका समाधि भाव रहेगा तथा वे पण्डित मरण को प्राप्त करेंगे तो उन्हे पुन इस लोक मे आना नहीं पडेगा।

●
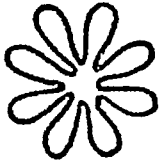
२३
वमन की वाञ्छा मत करो !

धर्मप्रेमी वन्धुओ ! माताओ एव वहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दसवे अध्याय मे भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी को लक्ष्य करके सयम मार्ग से तनिक भी विचलित न होने का आदेश दिया है। उन्होंने कहा है :—

> चिच्चा ण धण च भारियं,
> पव्वइओहिसि अणगारिय।
> मा वतं पुणो कि आविए,
> समय गोयम ! मा पमायए ॥

अर्थात्—"हे गौतम ! तू धन और भार्या आदि को छोडकर—अनगार भाव को प्राप्त हुआ है अर्थात् दीक्षित हो गया है। अव इस वमन किये हुए को फिर तू ग्रहण न कर। और समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।"

इस गाथा के द्वारा शिक्षा दी गई है कि धन, धान्यादि समस्त वस्तुएँ, अतुल वैभव और स्त्री, पुत्र आदि सभी का त्याग करके जिन मोक्षाभिलाषी व्यक्तियो ने सयम ग्रहण किया है उन्हे पुन कभी भी इन सवकी वाछा नही करनी चाहिये। क्योकि त्यागी हुई वस्तु वमन के समान होती है और उन्हें ग्रहण करना वमन को ग्रहण करना ही कहलाता है।

राजुल और रथनेमि की कथा इसका ज्वलत उदाहरण है। जब भगवान् नेमिनाथ विवाह करने के लिये गए पर तोरण द्वार से लौटकर दीक्षित हो गए तो उनका छोटा भाई रथनेमि मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। यह विचार कर कि अव राजीमती से मेरा विवाह हो सकेगा।

वह राजीमती के पास स्वय ही गया और उससे अपने साथ विवाह करने का आग्रह किया। किन्तु राजीमती सती बुद्धिमान थी। उसने उत्तर दिया—

"पहले तुम मेरे लिये भेंट मे ऐसी वस्तु लाओ जो ससार मे प्रत्येक प्राणी को प्रिय और लाभकारी हो।"

रथनेमि ने बहुत सोचा और विचारा कि ऐसी वस्तु क्या हो सकती है जो ससार के समस्त प्राणियो को प्रिय हो ? अन्त मे उसे यह सूझा कि गौ का दूध ऐसी वस्तु है जो ससार के प्रत्येक प्राणी के लिये प्रिय और हितकर होता है। यह विचार आते ही वह रत्न-जडे कटोरे मे शुद्ध गाय का दूध राजीमती को भेट मे देने के लिये ले आया।

राजीमती ने रथनेमि की भेंट देखकर प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—'तुम मेरे लिये वास्तव में बड़ी सुन्दर भेंट लाए हो, पर तनिक देर ठहरो ताकि मैं भेट का प्रत्युत्तर दे सकूं।"

रथनेमि बडा प्रसन्न हुआ और इस आशा से वहाँ बैठा रहा कि उसकी सौगात के उपलक्ष मे राजीमती विवाह के लिये हाँ कहेगी। राजीमती कटोरा उठाकर अन्दर चली गई और दूध पीने के पश्चात् कुछ ऐसी दवा खाई जिससे उसे वमन हो गया। उसने उस रत्न-जटित कटोरे मे ही वमन किया और उसे वहाँ लाई जहाँ रथनेमि बैठा हुआ था। पास आकर बोली—"रथनेमि! अगर मुझसे तुम्हे सच्चा प्यार है तो इसे पी जाओ।"

रथनेमि यह सुनकर बडा चकित हुआ और क्रोधित भी। लाल आँखें करता हुआ बोला—"क्या वमन की हुई वस्तु भी पीने योग्य रहती है ? यह तो मेरा सरासर अपमान है।"

रथनेमि की बात सुनकर राजुल मुस्कराती हुई बोली—"भाई! मैं भी तो तुम्हारे बडे भाई के द्वारा त्यागी हुई अर्थात् वमन की हुई स्त्री हूँ। अगर तुम मुझे ग्रहण कर सकते हो तो इस मेरी वमन की हुई वस्तु को क्यो नहीं ग्रहण कर सकते।"

राजुल की यह बात सुनते ही रथनेमि को होश आ गया और उसने अपनी इच्छा को धिक्कारते हुए सोचा—'सचमुच ही मैं वमन किये हुए को ग्रहण करना चाहता था।' घोर पश्चात्ताप करते हुए वह वहाँ से उलटे पैरो लौट गया और प्रव्रज्या ग्रहण करके साधु बन गया। इधर राजीमती ने भी अपने पति नेमिनाथ का अनुसरण करते हुए संयम अंगीकार कर लिया। उसने सोच लिया कि मुझे भी इस संसार मे रहकर अब क्या करना है ?

कुछ समय बीत गया और राजुल दृढतापूर्वक अपने संयम का पालन करती रही। किन्तु एक बार अजीब सयोग आ उपस्थित हुआ। सती

राजीमती अन्य साध्वियो के साथ विचरण कर रही थी कि एक पहाडी स्थान पर घनघोर वर्षा बरसने लगी। वर्षा के कारण साध्वियाँ भीग तो गई ही, एक दूसरे से बिछुड भी गईं। राजीमती ने भी वर्षा से बचने के लिये एक गुफा का आश्रय लिया और उसे निर्जन समझकर उसमे अपने गीले वस्त्रो को सुखा लेने के इरादे से खोलना प्रारम्भ किया।

किन्तु दुर्भाग्यवश उसी गुफा मे साधु-रथनेमि भी अपने ध्यान मे बैठा हुआ था। राजीमती के गुफा मे पहुँचने के कारण कुछ आहट हुई और रथनेमि का ध्यान भग हो गया। इधर कुछ क्षण पश्चात् अँधेरे मे कुछ दिखाई देने का प्रारम्भ होने पर राजीमती की दृष्टि भी गुफा मे चारो ओर घूम गई तथा उसने रथनेमि को वहाँ देखा। उसे देखते ही वह लज्जित होकर गीले वस्त्र पुन पहनने ही लगी थी कि रथनेमि जो पुन एकान्त मे राजीमती को पाकर कामवासना का शिकार बन गया था बोला—

छोड जोगने भोग आदर तू,
सांभल सोहनवरणी जी।
सुख विलसी ने सयम लेस्या,
पीछे करस्या करणी जी।

क्या कहा रथनेमि ने ? यही कि—'हे सुन्दर नवयौवना ! मेरी बात सुन, मेरा यह कहना कि अभी तो तू यह योग छोड दे और मैं भी इसे छोड़ देता हूँ। कुछ दिन हम भोग-विलास कर लें और सासारिक सुखो का रसास्वादन करें। उसके पश्चात् पुन सयम ले लेंगे और उत्तम क्रियाएँ करेंगे।

इस प्रकार पचमहाव्रतधारी साधु रथनेमि के हृदय मे त्यागे हुए भोगो की लहर पुन उठी और उसने पुन-पुन राजीमती साध्वी से प्रणय-निवेदन किया।

किन्तु सती साध्वी राजुल कच्ची मिट्टी की बनी हुई नही थी कि रथनेमि की काम-वासना की लहर आते ही गल जाती। उसने रथनेमि को धिक्कारते हुए स्पष्ट कह दिया —

गायाँ को धणी गवालियो, तू मत जाणे कोय।
सयम रो धणी तू नहीं, हिये विमासी जोय।
चदन वाले बावनो, जो करणी चाहे राख।
चौया सू चूयया पछे धारे फुलने लागे दाग॥

कितने तिरस्कारपूर्ण शब्द थे राजीमती के ? वह कहती है—"अरे

रथनेमि ! जिस प्रकार गायो को चराने वाला ग्वाला गायो का स्वामी नही होता उसी प्रकार लगता है कि महाव्रतो को धारण करके तथा संयम को ग्रहण करके भी तू सयमी नही है ।"

"अरे मूर्ख ! तू यह भी नही सोचता कि बावने चन्दन को जला देने पर उसका क्या मूल्य रह जाता है ? केवल राख ही तो हाथ आती है । इसी प्रकार चार-चार महाव्रतो को नष्ट कर देने पर क्या हाथ आने वाला है ? उल्टा तेरे महान् कुल मे दाग लग जाएगा । इसलिये अब भी कुछ नही बिगडा है अत सभल जा और अपने व्रतो का, त्याग का तथा बात का ध्यान रखते हुए मन मे आए हुए विकारो पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप कर तथा सयम की अविचल साधना कर ।"

साध्वी राजीमती की बात सुनकर रथनेमि जो कि वासना के क्षणिक प्रवाह मे वह जरूर गया था किन्तु कुलीन और सुलभ-बोधि था अत उसी वक्त चेत गया । राजीमती की बाते सुनते ही उसकी आँखें खुल गई और उसने अपनी निकृष्ट भावनाओ के लिए घोर पश्चात्ताप करते हुए शुद्ध हृदय मे क्षमा याचना की तथा उसके पश्चात् घोर तपस्या करके आत्म-कल्याण किया ।

मन की इसी प्रकार की चचलता का विचार करते हुए भगवान ने उपदेश दिया है कि ससार की जिन वस्तुओ का और भोगो का त्याग कर दिया जाय उन्हें किये हुए वमन के समान मानकर पुन ग्रहण करने की इच्छा कदापि नही करनी चाहिए । आज तक जिन भव्य प्राणियो ने मोक्ष प्राप्त किया है, वह कर्म से, धन से अथवा सन्तान से नही अपितु त्याग के द्वारा ही उसे पाया है । इसलिए जिस वस्तु का त्याग कर दिया जाय उसकी पुन वचन और शरीर से ही नही, अपितु मन से भी कामना नही करनी चाहिए । त्याग और नियम अगीकार करने के पश्चात् उनका पालन करने से ही कल्याण हो सकता है ।

कहने का अभिप्राय यही है कि कोई भी व्रत-नियम धारण कर लिया जाय तो फिर चाहे जैसे उपसर्ग और कष्ट क्यो न आये उन्हे छोडना नहीं चाहिए । छोटे से छोटा नियम ग्रहण करके भी उन्हे छोडने से अनन्त कर्मों का बध होता है तो फिर चार महाव्रतो को धारण करके छोडने वाले की तो क्या दुर्दशा होगी इसका अनुमान लगाना भी असम्भव है ।

कुण्डरिक और पुण्डरिक के विषय मे तो आप जानते ही है । पुण्डरिक को राज्य मिलना है तथा कुण्डरिक दीक्षित हो जाते है किन्तु वर्षो सयम पालन

करने के पश्चात् भी वे विचलित हो जाते हैं तथा नरक के बँध बाँध लेते हैं। ज्ञाता धर्मकथा सूत्र मे तो यहाँ तक वर्णन आता है कि उन्होने ग्यारह अगो का ज्ञान किया था किन्तु कर्मों की गति विचित्र है। स्थविर महाराज के साथ विहार करते हुए उनके शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो जाती है और उसी नगर मे उनका इलाज होता है, जहाँ उनका भाई पुण्डरिक राज्य करता था। राजा ने मुनि कुण्डरिक का इलाज स्थविर महाराज की आज्ञा से किया।

इलाज होने पर शरीर की व्याधि तो दूर हो गई किन्तु वे खाने-पीने की ममता मे ऐसे आसक्त हुए कि साधु धर्म को छोडकर राज्य ही माँग बैठे। राजा पुण्डरिक ने उन्हे समझाने का बहुत प्रयत्न किया। कहा :—

"आप तो मुनि हैं, अत राजाओ के भी राजा हैं। आप त्यागी हैं अत महाराजा भी आपके चरणो मे मस्तक झुकाते हैं।" और भी अनेक प्रकार से कुण्डरिक मुनि को समझाने का प्रयत्न किया। इन्द्रिय-पराजय शतक मे एक गाथा दी गई है —

दहइ गोसीस सिरिखण्ड छारक्कए।
छगल गहणट्ठ मेरावण विक्कए॥
कप्पतरु तोडि एरण्ड सो वावए।
जुज्झि विसएहि मणुअन्तणं हारए॥

अर्थात्—मुनि को समझाने के लिए दृष्टान्त देते हुए कहा है—अगर आपको राख की जरूरत है तो राख तो बहुत मिलती है। उसके लिए इस सयम रूप बावने चन्दन को जलाकर राख करना ठीक नही है। जो व्यक्ति ऐसा करते हैं वे बडी मूर्खता कर जाते हैं। चन्दन को जलाकर राख करने वाला मूर्ख नही तो और क्या कहलायेगा ?

दूसरा दृष्टान्त दिया है—बकरे को खरीदने के लिए ऐरावत हाथी को बेचना। यह भी बुद्धिमानी की बात नही है। सयम ऐरावत हाथी के समान है, उसे देकर बकरा लेना किनारे पर आकर पुन फिसल जाने के समान है।

तीसरी बात है—कल्पवृक्ष को उखाडकर एरण्ड का पेड लगाना। पूर्व-जन्म के असख्य पुण्यो के फलस्वरूप तो प्रव्रज्या रूपी कल्पवृक्ष चित्तरूपी आँगन मे उगता है किन्तु उसे उखाडकर अथवा हटाकर विषय-कषाय रूपी एरण्ड के वृक्ष को स्थापित करना साधक के लिए हीरे को छोडकर ककर को ग्रहण करना है।

चौथी शिक्षा पद्य मे दी गई है—थोडे से विषय सुखो के लिए मनुष्य-जन्म को ही निरर्थक कर देना बुद्धिमानी नही है।

इस तरह अनेक प्रकार से कुण्डरिक मुनि को समझाया पर उनके हृदय पर कोई असर नही हुआ तथा उन्होने राज्य-प्राप्ति का आग्रह किया। पुण्डरिक ने आधा ही क्या सम्पूर्ण राज्य ही उन्हे देकर स्वय साधु का वाना धारण कर लिया और त्याग नियम अपना कर अपनी आत्मा का कल्याण किया। किन्तु कुण्डरिक ने राज्य लेकर अपनी ही आत्मा का पतन किया और सातवे नरक की ओर प्रयाण किया।

उदाहरण का साराश यही है कि लिए हुए नियम अर्थात् त्याग की हुई वस्तुएँ वमन के समान होती है जिनको पुन ग्रहण करने की कदापि कामना नही करनी चाहिए।

आप गृहस्थ है आप से वडा त्याग नही होता किन्तु किसी दिन अगर आपने यह नियम ले लिया कि आज मैं हरी सब्जी नही खाऊँगा तो वही त्याग छोटा होते हुए भी वडा और महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसा क्यो होता है ? इसलिए कि जब तक किसी वस्तु का त्याग नही किया जाता है उसके सामने आते ही चित्त उसे ग्रहण करने की इच्छा करने लगता है किन्तु त्याग करने के पश्चात् वह वस्तु सामने आए भी तो मन उसे पाने के लिए लालायित नही होता। क्योकि आपकी भावना यही रहती है कि आज मेरे लिए यह त्याज्य है।

व्रत ले लेने पर यह कहना—"अमुक वस्तु का त्याग तो कर दिया पर क्या करूँ अव निभना कठिन है।" यह वडी निर्वलता है। अगर ऐसी निर्वलता हृदय मे आ जाय तो फिर अपने नियम पर दृढ रहना कठिन हो जायेगा। आप व्यापार करते हैं, कभी उसमे नफा होता है और कभी घाटा। पर घाटा आने पर उसे छोड देते हैं क्या ? यही वात चारित्र के सम्वन्ध मे है। पहले तो चारित्र उदय यो ही नही आता है। अनन्त पुण्य सचित हो तो चारित्र लेने की भावना किसी के हृदय मे जागती है और वह व्रत नियम ग्रहण करता है। किन्तु उन अनन्त पुण्यो के फलस्वरूप प्राप्त किये गये चारित्र को पुनः त्याग कर देने की वांछा करना कितनी हीन एव निकृष्ट भावना है। अधिक त्याग करके उसे फिर ग्रहण करने की अपेक्षा तो थोडा त्याग करके उसका ही दृढता से पालन करना ज्यादा अच्छा है।

इसी बात को एक गाथा मे कहा गया है —

अबले जह भारवाहए,
मा मग्गो विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए ।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३३

अर्थात्—"विषम मार्ग मे चलता हुआ निर्बल भारवाहक, भार को फेंक कर पीछे से पश्चात्ताप करने लगता है, उसी प्रकार हे गौतम ! तू मत वन अत इस विषय मे समय मात्र भी प्रमाद मत कर।"

जिस व्यक्ति के शरीर मे कम शक्ति होती है और वह भार अधिक उठा लेता है अर्थात् पाँच सेर वजन उठाने की ही ताकत हो पर बीस सेर वजन अपने शरीर पर लाद कर चल पडता है उसे आखिर मे भार फेंककर पश्चात्ताप करना पडता है। इससे लाभ के बजाय हानि ही होती है। अत बोझ उतना ही लेना चाहिए जितना उठाया जा सके। यह बात त्याग नियम और महाव्रतो के धारण करने के लिए लागू होती है। अर्थात् त्याग करने से पहले मन को पक्का करके ही उन्हे करना चाहिए और उतना ही त्याग करना चाहिए जो अन्त तक निभाया जा सके। अपनी मन की शक्ति और दृढता से अधिक त्याग कर देना यानि नियम ग्रहण कर लेने से उन्हे निभाना कठिन हो जाता है तथा उन्हे भग करके घोर पश्चात्ताप करना पडता है। अत जिस काम का बीडा लो, जिसे उठाओ उसे पूरा करके छोडो तभी कल्याण हो सकता है। जोश या औरो की देखा-देखी के कारण शक्ति से अधिक व्रत-नियम ग्रहण करके उन्हे बिना अन्त तक निभाए छोड देने मे आत्मा का अकल्याण होता है तथा असख्य कर्मों का बन्धन होता है।

आपने शास्त्रो मे अरणक श्रावक तथा कामदेव श्रावक आदि के विषय मे पढा होगा। वे लोग भगवान महावीर के दर्शनार्थ आये और उनके उपदेश को भी सुना। सुनकर मन मे विचार आया—'भगवान् का कथन यथार्थ है, इस ससार मे कोई किसी का नहीं है। केवल धर्म आखिरी समय मे सहारा देने वाला है। इसीलिए अनेको राजा, महाराजा, श्रेष्ठि और बडे बडे महारथी अपना सब कुछ त्यागकर भगवान् की सेवा मे उपस्थित हुए है तथा आत्म-साधना मे जुटे हुए है। हमे भी इन सासारिक उलझनो से निकल कर आत्म-कल्याण करना चाहिए।'

इस प्रकार उनके हृदय मे विरक्ति की भावना आती है और वे इस सम्बन्ध मे सोचते हैं। किन्तु साथ ही अपनी सामर्थ्य पर भी दृष्टिपात करते है कि चारित्र धर्म अगीकार कर तो लें पर उसे निभा सकेंगे या नही ? विचार करते-करते आनन्द जी ने निश्चय किया—अभी मेरा चारित्र धर्म ग्रहण करना उचित नही है। भावना है पर उतनी सामर्थ्य नही है। क्योकि मेरे पास चार गोकुल है, पाँच सौ हल चले उतनी पृथ्वी है, चार करोड सोनैया जमीन मे है, चार करोड घर के पसारे मे और चार करोड व्यापार मे तथा अनेको जहाज हैं। ऐसी स्थिति मे मेरा सयम ग्रहण करना उचित नही है अत ठीक यही है कि मैं श्रावक के बारह व्रत धारण करूँ। अपने विचारानुसार उन्होंने श्रावक के व्रत ही धारण किये। पर उन्हें निभाया किस प्रकार ?

अरणक श्रावक को देवता ने परीक्षा लेने के लिए नाना प्रकार से सताया, उनके जहाज को समुद्र मे डुबा देने की धमकियाँ दी, यहाँ तक कि उन्हे मार डालने का भी डर दिखाया। किन्तु वे अपने धर्म से रचमात्र भी नही डिगे। मर जाना तथा सर्वस्व का विनाश हो जाना कबूल कर लिया किन्तु धर्म का त्याग नही किया। समुद्र मे जो उनके अनेको साथी थे उन सब ने तो कह दिया—"अरणक श्रावक धर्म को नही त्यागते तो न सही हम सब उसे छोडने के लिए तैयार हैं।" किन्तु देवता थककर उन लोगो से यह कहकर चल दिया कि तुम लोगो मे धर्म है ही कहाँ ? वह तो केवल अरणक श्रावक मे ही है।

कहने का अभिप्राय यही है कि भले ही सयम ग्रहण न किया जाय, बारह व्रत भी न लिये जायँ किन्तु छोटा सा एक व्रत भी ग्रहण करके उसे पुन खडित नही करना चाहिए। त्यागी हुई वस्तु, त्यागा हुआ भोग वमन के समान समझ कर पुन उसके नजदीक आने की इच्छा करना साधक के लिए घृणित और निषिद्ध है।

बन्धुओ, प्राचीन समय मे श्रावक कितने दृढ हुआ करते थे। अतुल वैभव होते हुए भी बारह व्रत तो अगीकार करते ही थे साथ ही उनका पालन भी मृत्यु तक की परवाह न करते हुए करते थे। उनके मुकाबले मे आज आपके पास कितनी सामग्री है ? फिर भी क्या आप कोई व्रत ग्रहण करते हैं ? कितने नियम है आपके ? पुराने श्रावक एक महीने मे छः-छः पौषध कर लिया करते थे पर आप क्या एक भी कर पाते है ? नही, क्योकि उसके लिये ऐश-आराम और इन्द्रिय सुखो का त्याग करना पडता है। त्याग के महत्व को आप समझते नही हैं, उन पर विश्वास नही करते हैं। अन्यथा जान पाते कि दृढतापूर्वक त्याग करने मे अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति भी हो सकती है।

भगवद्गीता मे कहा गया है —

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

—इच्छापूर्वक प्राप्त भोगो के परित्याग का अन्तिम परिणाम "अनन्त शाति" है।

इसीलिये मुमुक्षु प्राणी ससार के दु खो से घबराकर सर्वदा यही भावना भाते हैं —

सर्प सुमन को हार उग्र बैरी अरु सज्जन।
कंचन मणि अरु लोह कुसुम शय्या अरु पाहन॥
तृण अरु तरुणी नारि सवन पर एक दृष्टि चित।
कहूँ राग नहिं रोष द्वेष कितहूँ न कहूँ हित॥
ह्वै हैं कब मेरी यह दशा- गगा के तट तप जपत।
रस भीने दुर्लभ दिवस ये, बीतेंगे 'शिव-शिव' रटत॥

मोक्ष की सच्चे हृदय से कामना करने वाला भव्य प्राणी अपने हृदय से राग और द्वेष का सर्वथा नाश करके तथा उनका सर्वथा त्याग करके इतना समभाव अपने हृदय मे लाना चाहता है कि चाहे उसके गले मे पुष्पो का हार हो अथवा सर्पों का हार समान मालूम हो। कचन हो या लोहा, तथा फूलो की शैय्या हो या पत्थर की शिला एक जैसी महसूस हो। दृष्टि के सामने घास का तिनका हो या रति के समान सुन्दर नारी, दोनो पर समान दृष्टि पडे। किसी से भी न प्रेम रखे और न किसी से कटु बात कहे।

इस प्रकार मोह-ममता तथा राग और द्वेप का त्याग करके वह चाहता है कि मैं इस प्रकार विरक्त बनकर पतित पावनी गगा के किनारे पर बैठकर जप-तप करके अपना समय व्यतीत करूँ। वह कहता है—हे भगवान! मेरी ऐसी स्थिति कब आएगी, जबकि मैं अपने जीवन के अत्यन्त दुर्लभ दिन 'शिव, शिव' करते हुए व्यतीत करूँगा।

साराश यही है कि अपनी आत्मा का हित चाहनेवाले प्राणी को अधिक से अधिक त्याग करने की भावना रखनी चाहिए, लेकिन क्रमश त्याग नियम उतना ही अगीकार करना चाहिए जितना पूर्णतया निभाया जा सके। कोई भी व्रत धारण करते समय दृढ निश्चय और पूर्ण विचार कर लेना चाहिए कि यह मुझसे निभ सकेगा या नहीं। पूर्ण विचार पूर्वक काम न करने पर वह पूरा नहीं पडता तथा खण्डित हो जाने पर अन्त मे उसके लिए पश्चात्ताप करना पडता है।

सन्त महापुरुष सदा यही उपदेश देते है कि दुनियादारी की मोह-माया को कम करते हुए आत्म-साधना मे लगो, जितना बन सके उतना त्याग नियम करो पर उसका पूर्णतया पालन करो। उनके अनुभव कहते हैं —

जगत मे झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुख सो सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥

कहा गया है—इस जगत मे मैंने अच्छी तरह देखा है कि प्रेम या प्रीत सब झूठ है। किसी का भी किसी के प्रति सच्चा प्रेम नही है। सब अपने-अपने स्वार्थ के लिये मुहब्बत प्रदर्शित करते हैं। किन्तु जब स्वार्थ साधन होना बन्द हो जाता है तो आँखें फेर लेते हैं। एक दृष्टान्त इस विषय मे दिया गया है—

मा का प्रेम भी झूठा है

एक स्थान पर पडितो की सभा थी। उसमे वे इसी बात पर बहस कर रहे थे कि ससार का प्रत्येक प्राणी स्वार्थी है। बिना स्वार्थ के कोई भी किसी से प्रेम नही करता। किन्तु एक पडित ने कहा—"यह गलत है और किसी का प्रेम सच्चा हो या न हो, माता का प्रेम कभी झूठा नही होता। वह प्राण देकर भी अपने पुत्र की रक्षा करती है। किन्तु दूसरे ने इस बात को नही माना और वह कहने लगा—"नही माता भी समय आने पर अपने पुत्र को छोडकर अपने प्राण बचाती है।" पर पहले पडित ने अब इस बात को नही माना तो दूसरे ने कहा मैं प्रत्यक्ष बताता हूँ।

उसने दो हौज खुदवाये। एक हौज मे पानी भरवा दिया और दूसरे को खाली रखा। किन्तु खाली हौज मे दूसरे हौज का पानी आ सके ऐसा छेद करवा दिया। खाली हौज मे एक बदरिया और उसके बच्चे को रख दिया। उसके पश्चात् भरे हुए हौज का छेद खोल दिया जिसमे धीरे-धीरे पानी खाली हौज मे आने लगा।

जब पानी थोडा भरा और बच्चा उसमे डूबने लगा तो बदरिया ने अपने बच्चे को ऊपर उठा लिया किन्तु जब और पानी बढा और स्वय बन्दरिया डूबने लगी तो उसने बच्चे को छोड दिया और स्वय उछलकर अपनी जान बचाने की कोशिश करने लगी।

सभी के प्रेम को स्वार्थमय बताने वाले पडित ने कहा—"देखो, अपनी जान बचाने के लिए इस बन्दरिया ने माता होकर भी अपने बच्चे को छोड दिया है और अपनी जान बचाने की कोशिश कर रही है। ऐसा ही सदा होता है।

घर मे आग लग जाती है तो माँ-बाप भी दौडकर बाहर आ जाते हैं और फिर चीखते है—'हमारा बच्चा तो अन्दर ही रह गया, बचाओ उसे।"

इस प्रकार महापुरुष ससारी सम्बन्धियो के स्वार्थ का दिग्दर्शन कराते हैं, पर फिर भी मन के न चेतने पर उसकी भर्त्सना करते हुए कहते है—

मन मूरख अजहूँ नहि समझत, सिख दे हार्यो नीत।
जगत मे झूठी देखी प्रीत!

अर्थात्—अरे मूर्ख मन! तू थोडा तो समझ। नाना प्रकार की नीतिपूर्ण शिक्षाएँ दे-देकर मैं थक गया पर अभी भी तुझे अकल नही आई। तू कैसा है? जगत का व्यवहार देख-देखकर भी सावधान नही होता। अपना पेट तो पशु भी भर लेता है पर दिमाग से काम नही लिया तो फिर तू इन्सान कैसा?

तीन प्रकार के मनुष्य

मनुष्य को अगर श्रेणियो मे विभक्त किया जाय तो तीन प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी का मनुष्य पशुवत् होता है जैसे हमाल। हमाल अर्थात् कुली। कुली दिन भर पशु के समान बोझा ढोता फिरता है और उनसे चन्द पैसे पाकर पेट भर लेता है। वह चिन्तन-मनन नही कर पाता क्योकि उसके दिमाग मे शक्ति नही होती बुद्धि नही होती। बुद्धि के अभाव मे उसका विवेक जागृत नही हो पाता तथा अपनी आत्मा की शक्ति और उसके स्वरूप को जानने का वह प्रयत्न ही नही कर सकता।

दूसरे प्रकार का व्यक्ति कारीगर के समान होता है। वह कुछ शरीर से काम लेता है और कुछ दिमाग से। दिमाग से काम लेता हुआ वह ससार के स्वरूप को समझता है किन्तु अज्ञान और मिथ्यात्व के अन्धकार मे भटक जाता है तथा कर्तव्य के स्थान पर अकर्तव्य करने लगता है। आत्म-साधना के लिए भी वह क्रियाएँ करता है किन्तु सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् ज्ञान न होने के कारण वे क्रियाएँ बनावटी और विवेक रहित साबित होती हैं तथा वे लक्ष्य की सिद्धि नही करा सकती।

तीसरे प्रकार का व्यक्ति कलाकार के समान होता है। जिस प्रकार कलाकार अनेक प्रकार की कलाएँ दिखाता है, थोडे खर्च मे भी विशेष प्रकार की कुशलताएँ लोगो के सामने रखता है उसी प्रकार कलाकार के समान बन जाने वाला व्यक्ति शरीर, दिमाग और अन्त करण से भी काम लेता है। उनका

विवेक जागृत रहता है अत वह भोगो को हेय समझकर उनका त्याग करता जाता है। अन्त करण मे विवेक जागृत रहने के कारण वह सत्य-असत्य की पहचान कर लेता है तथा कलाकार के समान सत्य को अपने जीवन मे उतारता हुआ अपने चारित्र को निष्कलक वनाता है। उसे सच्चे देव, गुरु तथा धर्म पर पूर्ण विश्वास होता है अत उसकी साधना मुक्ति की सही दिशा की ओर बढती जाती है। अपने शरीर को वह आत्मा का कारागार समझता हुआ ऐसे शुभ अवसर और समय की प्रतीक्षा मे रहता है कि कब मेरी आत्मा इस कैद से मुक्त हो तथा पुन किसी भी शरीर रूपी पिंजरे मे कैद न हो पाए।

वह ससार मे रहता है, ससार की सुख-सामग्रियो का उपभोग भी करता है किन्तु पूर्णतया निर्विकार भाव से। क्योकि वह इस बात पर विश्वास करता है कि जब तक मेरे कर्मों की स्थिति या अवधि पूर्ण नही होगी, तब तक मेरी आत्मा को विवश होकर ससार-भ्रमण करना पडेगा। ऐसा विचार कर वह सासारिक पदार्थों की प्राप्ति मे सुख और उनके वियोग से दु ख का अनुभव नही करता।

एक विद्वान ने कहा भी है—

> उत्तम क्लेश-विक्षोभं सोढु शक्तो नहीतरः।
> मणिरेव महाशाणघर्षण, न तु मृद्कणम्॥

—उत्तम पुरुष ही दु ख और शोक को सहने मे समर्थ होता है, अधम मनुष्य नही। जैसे मणि खराद के घर्षण को सहन कर सकता है, मिट्टी का ढेला नही।

जिस प्रकार सच्चा कलाकार प्रतिमा के निर्माण मे भावो को भी बडी बारीकी से अंकित कर सकता है, उसी प्रकार सच्चा विवेकी अपनी आत्मा मे बारीकी के साथ प्रत्येक सद्गुण एव प्रत्येक कल्याणकारी भावना को समाहित कर लेता है। परिणाम यह होता है कि उसकी आत्म-शक्ति दृढ से दृढतर बनती जाती है तथा वह क्रमश. हेय विषयो का त्याग करता जाता है और त्यागे हुए विषयो को वमन के समान समझकर पुन कभी भी उन्हे ग्रहण करने की इच्छा नही करता।

और तो और वह मृत्यु की भयकरता को भी जीत लेता है। मृत्यु को वह दु खदायी और शोक का कारण नही मानता अपितु एक साधारण और स्वाभाविक क्रिया मानता है। अपने पुराने और जीर्ण शरीर का त्याग करना वह पुराने और जीर्ण वस्त्र का त्याग करने के समान समझता है। परमार्थ दृष्टि से

विचार करके वह मृत्यु के आने पर रोता नही, चीखता-चिल्लाता नही, वरन पूर्ण निर्भयतापूर्वक उसका सामना करता हुआ कहता है —

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने ही ते पाइये, पूरण परमानन्द॥

वह कहता है—ससार के वे लोग अज्ञानी हैं जो मरने से डरते हैं। मेरे हृदय मे तो उसके आगमन की अपार खुशी है क्योकि मरने पर ही तो मैं पूर्ण और परमानन्द को प्राप्त कर सकूंगा।

तो विवेकी तथा अपनी आत्मा के स्वरूप को समझने वाला तथा अपनी आत्म-शक्ति पर विश्वास करने वाला व्यक्ति मृत्यु से तनिक भी नही डरता और अपने आपको इस ससार मे एक अभिनेता मानकर जिस तरह स्टेज से अभिनेता अभिनय करके सहर्ष उतर जाता है उसी प्रकार विवेकी व्यक्ति भी इस ससार को स्टेज मानकर अपने सम्पूर्ण जीवन को ही अभिनय जानकर मृत्यु के बहाने इसे छोड जाता है।

श्री भर्तृहरि ने यही बात अपने एक श्लोक मे बडे सुन्दर ढग से कही है। श्लोक इस प्रकार है —

क्षण बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिक।
क्षण वित्तैर्हीन. क्षणमपि च सम्पूर्णविभव॥
जराजीर्णैरगैर्नट इव वली-मण्डित तनु—
र्नर. ससारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम्॥

अर्थात् मनुष्य नाटक के अभिनेता के समान है, जो क्षण भर मे बालक, क्षणभर मे युवा और कामी रसिया बन जाता है तथा क्षणभर मे दरिद्र और क्षण मे धन व ऐश्वर्य से पूर्ण हो जाता है। उसके पश्चात् अन्त मे बुढापे से जीर्ण और सिकुडी हुई खाल का रूप दिखाकर, यमराज के नगररूपी पर्दे की ओट मे छिप जाता है।

इस प्रकार बधुओ, यह ससार एक नाट्यशाला है और प्राणी इसमे अभिनय करने वाले अभिनेता। जो भव्य पुरुष इस सत्य को समझ लेते है वे इसे यथार्थ मानकर इसमे आसक्त नहीं होते तथा प्रतिक्षण अपने अभिनय को समाप्त करने के लिए तैयार रहते है।

किन्तु ऐसी शक्ति मानव मे कब आती है? जब वह सच्चे कलाकार के

समान धर्म को अपने जीवन मे उतार लेता है, तथा अपने शरीर, दिमाग और अन्त करण से काम लेता है। जो त्याग और नियमो को अपनाता है तथा उन पर पूर्णतया दृढ रहता है। एक वार किसी भी वस्तु का तथा विषय-भोगो का त्याग करने के पश्चात् उनकी ओर फिरकर भी नही देखता। त्यागे हुए भोगो को वमन के समान समझता है और उनसे पूर्णतया नफरत रखता हुआ अपने आत्म-साधना के पथ पर अविचलित कदमो से वढता जाता है। ऐसा व्यक्ति ही अपने सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा करके अनन्त एव अक्षय सुखो की प्राप्ति करके ससार-भ्रमण से मुक्त हो जाता है।

●

२४

रुको मत, किनारा समीप है

र्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आज का विपय मैं श्री उत्तराध्ययन सूत्र की एक गाथा से प्रारम्भ कर रहा हूँ। गाथा इस प्रकार है —

> तिण्णो हु सि अण्णव मह,
> कि पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
> अभितुर पार गमित्तए,
> समय गोयम ! मा पमायए ॥
>
> —उत्तराध्ययन सूत्र १०—३४

इस गाथा मे भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया है—हे गौतम ! तू अति विस्तृत ससार समुद्र को तैर गया है, फिर तीर को प्राप्त करके अब क्यो खडा है ? पार जाने के लिये शीघ्रता कर। इस विपय मे समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

कहने का आशय यही है कि जीव चारो गतियो मे जो चौरासी लाख योनियाँ हैं उनमे अनत काल से जन्म-मरण करता चला आ रहा है और अब असख्य पुण्यो के फलस्वरूप उसे मानव-पर्याय प्राप्त हुई है। दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है चार गति और चौरासी लाख योनियो रूपी यह जो असीम ससार-सागर है इसमे अब मानव-जन्म रूपी किनारे पर आ गया है। यह मानव-जन्म ऐसा जन्म है कि अब यह चाहे तो शीघ्र ही इसके किनारे तक पहुँचकर शिवपुर को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मानव-जन्म के अलावा और कोई पर्याय ऐसी नही है, जिसमे रहकर जीव आत्मा के कल्याण के लिये प्रयत्न कर सके। स्वर्ग के देवता भी अपार सुखो का भोग करते है, शक्तिशाली और ज्ञानवान भी होते हैं किन्तु वे भी आत्म-मुक्ति के

लिये साधना करने मे समर्थ नही हो पाते। वे केवल पूर्वकृत पुण्यों का उपभोग ही करते हैं तथा मानव जन्म पाने के लिये तरसते है क्योकि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अगर विचार किया जाय तो सर्वज्ञ प्रभु के कथनानुसार चरम सीमा का आध्यात्मिक विकास केवल मनुष्य ही कर सकता है। सासारिक सुखो के लिहाज से यद्यपि देवताओ को मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त है किन्तु आत्म-साधना की दृष्टि से देवता नगण्य साबित होते हैं। वे अधिक से अधिक चार गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं किन्तु मानव चौदह गुण स्थानो को ही पार करके परमात्म पद को पा सकते हैं।

इसीलिये मानव जन्म को अत्यन्त महिमामय तथा ससार-सागर का किनारा माना जाता है। यो तो ससार मे अनन्त प्राणी हैं किन्तु मनुष्य के पास विवेक, बुद्धि और अन्त करण है विचार करने की ओर वाणी के द्वारा व्यक्त करने की अनुपम शक्ति है। इसी के कारण वह जीव-जगत का शिरोमणि और ससार-सागर का किनारा कहलाता है। मानव अपने जीवन का उद्देश्य लोक-परलोक, पाप और पुण्य तथा नरक निगोदादि के दु खो का ज्ञान करता हुआ अपने हृदय मे शुभ भावनाएँ रखता हुआ आत्म-मुक्ति के लिये प्रयत्न कर सकता है। भव्य प्राणी सदा यह भावना रखता है —

> कब दु खदाता यह आरत तजूंगो दूर,
> कब धन धामतें ही ममत मिटाऊँगो।
> कब विष तुल्य जानी, त्यागूंगो विषय राग,
> कब मैं विषय जीती ज्ञान उर लाऊँगो॥
> कब हों प्रमाद मद छोरिके करूँगो धर्म,
> स्थिर परिणाम करी, भावना सो भाऊँगो।
> कहे अमीरिख मनोरथ यों चितारे भवि,
> धन्य वह दिन घड़ी, सफल कहाऊँगो॥

इस प्रकार जिसे मानव-जन्म रूपी सर्वोत्तम पर्याय और ससार रूपी सागर का किनारा मिल गया है उसे तनिक भी प्रमाद न करके सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा और सम्यक् चारित्र की आराधना करते हुए प्रतिक्षण मन मे यही भावना रखनी चाहिये—'मैं कब आर्त-ध्यान का त्याग करके धन, धान्य, मकान तथा समस्त वैभव से ममत्व हटाऊँगा? मैं कब विषयो को विष के समान समझकर उनका त्याग करूँगा तथा हृदय मे ज्ञान की ज्योति जगाऊँगा? कब मैं प्रमाद एव अहकार का त्याग करके धर्म को हृदय मे

धारण करूँगा तथा अपने परिणामो को स्थिर रखता हुआ शुभ भावनाओ को चित्त मे स्थान दूंगा।

पूज्य-पाद श्री अमीऋषिजी कहते हैं—भव्य प्राणी यही सोचता है कि कब वह शुभ घडी और शुभ दिन आयेगा जबकि मैं अपने मनोरथो की पूर्ति करके अपने जीवन को सफल बनाऊँगा ?

तो बन्धुओ, प्रथम तो अनन्तकाल तक नाना योनियो मे नाना कष्ट सहकर जीव बडी कठिनाई से मनुष्य जीवन को प्राप्त करता है और फिर अगर समस्त सासारिक प्रलोभनो से बचकर तथा समस्त सम्बन्धियो से ममत्व हटाकर पाँच महाव्रत धारण करके साधु बन जाता है तो फिर ससार सागर का किनारा प्राप्त कर लेने मे और क्या कसर रह जाती है ? कुछ भी नही।

इसीलिये, भगवान महावीर गौतमस्वामी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे गौतम ! तुम इस असीम ससार को तैरकर इसके किनारे तक तो आ गये हो अत बिना प्रमाद किये शीघ्र ही बाहर आने का प्रयत्न करो। यही जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। दूसरे शब्दो मे मानव-जीवन का उद्देश्य आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझकर उसे कर्मों से मुक्त करके अव्याबाध शान्ति एव अक्षय सुख प्राप्त करना है और इसलिये इस मानव-जन्म रूपी ससार सागर के किनारे को प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य के समस्त प्रयत्न, पुरुषार्थ तथा साधनाएँ ऐसी होनी चाहिये जो उस अनन्तसुख की प्राप्ति मे सहायक बन सकें।

किस मार्ग पर चलना है ?

प्रश्न उठता है कि आत्म-मुक्ति के लिये मनुष्य को क्या करना चाहिये, कौन-सी क्रियाएँ करनी चाहिये तथा कौन-सा मार्ग अपनाना चाहिये। इस विषय को एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

एक सन्त के आश्रम मे उनके कई शिष्य उनसे विद्याध्ययन किया करते थे। कई वर्ष तक यह क्रम चलता रहा तथा अनेक शिष्य अपने गुरु की अन्तिम परीक्षा मे उत्तीर्ण होकर अपने-अपने घर चले गए।

किन्तु एक शिष्य करीब बारह वर्ष तक उनके आश्रम मे रहकर भी गुरुजी की परीक्षा मे उत्तीर्ण नही हो सका। यह देखकर गुरु को शिष्य पर बडी झुंझलाहट हुई। वे बोले—"तू इतने वर्ष तक मेरे पास रहकर भी ज्यो का त्यो ही है। न शास्त्रीय ज्ञान ही हासिल कर सका है और न ही कुछ भी कण्ठस्थ कर पाया है। आखिर कब तक तू इस प्रकार यहाँ रहेगा।"

शिष्य बडी नम्रता से बोला—"भगवन् ! मेरे अपराध क्षमा कीजिये। मैं आपके पास रहकर कुछ भी ज्ञान प्राप्त नही कर सका, इसका मुझे बडा दु.ख है। पर आप यही समझकर मुझे अपने चरणो मे रहने दीजिये कि आपकी वृद्धावस्था मे सेवा करने के लिये कोई न कोई चाहिये और मैं वही हूँ।" गुरु उसकी नम्रता पर पिघल गए और चुपचाप रहे।

कुछ दिन इसी प्रकार निकल गए। शिष्य बडी लगन से गुरुजी की सेवा करता रहा। एक दिन गुरुजी स्नान कर रहे थे और शिष्य उनकी पीठ को हाथ से ममल-मसल कर धो रहा था। अचानक वह बोल पडा—"मन्दिर तो बडा सुन्दर है पर इसमे भगवान कही दिखाई नही देते।"

गुरु ने ये शब्द सुने तो उन्होने अपने लिये ही यह बात समझी और अपने शिष्य पर अत्यन्त क्रोधित हुए। बोले—"तू कैसा नमकहराम है? मेरे पास वर्षो मे रहकर मेरा ही अपमान कर रहा है? आज ही मेरे आश्रम से निकल जा।" कहने के साथ-साथ ही उन्होंने उसे आश्रम से निकाल दिया।

शिष्य गुरु के द्वारा निकाल दिये जाने पर भी पूर्ववत् मुस्कराता रहा और आश्रम के बाहर ही एक झोपडी बनाकर उसमे रहने लगा। किन्तु वह जब तब आकर अपने गुरु के दर्शन कर जाता था।

इसीप्रकार एक दिन वह गुरुजी के दर्शनार्थ आया। उसने देखा गुरुजी तो अपने सामने कोई ग्रन्थ रखे उसका पाठ कर रहे थे और एक मक्खी खिडकी के काच से बाहर का दृश्य देखती हुई काच से बार-बार अपने सिर को टक्कर मार-मार कर अपने आपको परेशान कर रही है।

क्षण भर शिष्य गुरुजी के पीछे खडा रहा और बोला—"Stop and see back" अर्थात्—ठहरो और पीछे देखो !

गुरुजी अचानक आए हुए शिष्य की बात सुनकर पुन चमत्कृत हुए पर क्रोधित न होकर विचार करने लगे—"आखिर इसने ऐसी बात किस प्रकार कह दी है? क्षण-भर चुप रहकर उन्होंने पूछा—"तूने यह बात कैसे कही?"

शिष्य बोला—"गुरुदेव ! यह मक्खी काच मे से बाहर जाने के लिये परेशान हो रही है पर यह नही जानती कि मेरा मार्ग यह नहीं है, मैं जहाँ से आई हूँ वहीं मुझे लौटना है।"

गुरुजी शिष्य की बात समझ गए और बोले—"वत्स, मैं अब तक भ्रम मे था कि तुमने इतने वर्षो मे भी कुछ सीखा नही। पर मैं समझता हूँ कि तुमने

जो सीख लिया है और जान लिया है वह अब तक और कोई भी मेरा शिष्य नही सीख पाया। तुमने मुझे भी आज सही मार्ग बता दिया है।

बन्धुओ, आप भी समझ गए होगे कि शिष्य की बात मे क्या रहस्य था? वह यही बताना चाहता था कि शास्त्रो के स्वाध्याय और अनेक ग्रन्थो के पठन-पाठन से कुछ नही होने वाला है। कर्मों से छुटकारा तो तभी मिलेगा जबकि इन सबसे मुंह मोडकर आत्मा मे झांका जायेगा या आत्मा मे रमण किया जायेगा। जिस प्रकार अपने ही घर मे पहुंचने के लिये आप बाहर नही निकल जायेगे तो आपका घर दूर से दूर होता जायेगा। इसी प्रकार आत्मा को शुद्ध और निर्मल बनाने के लिये बाह्य-क्रियाएँ करते रहने से कुछ लाभ नही हो सकेगा। आत्मा को ऊँची बढाने के लिये आत्मा मे पहुंचने का मार्ग ही ग्रहण करना होगा।

आज हम देखते हैं कि मनुष्य तीर्थ-यात्रा करता है, मन्दिरो मे जाकर घण्टो पूजा करता है। आप भी स्थानक मे आकर सामायिक, प्रतिक्रमण और पौषध करते हैं, किन्तु क्या यही मार्ग आत्मा को शुद्ध बनाने का है? नही, जब तक हम अपनी आत्मा की ओर नही आएँगे, उसमे भरे हुए विषय-कषाय को नष्ट नही करेंगे, वासनाओ के कचरे को साफ नही करेंगे, सक्षेप मे अपनी आत्मा की कमजोरियाँ और दोषो को दूर न करके औरो के अवगुण देखते रहेगे तथा औरो की निन्दा व आलोचना करते रहेगे, तब तक आत्म-कल्याण होना असम्भव है।

शीशे मे अपना प्रतिबिम्ब देखो!

कहा जाता है कि एक शिष्य ने अपने गुरु से वर्षों तक ज्ञान तो प्राप्त किया ही, साथ ही उनकी इतनी सेवा की कि गुरुजी ने उसे प्रसन्न होकर एक ऐसा दर्पण प्रदान किया जिसके द्वारा वह प्रत्येक व्यक्ति के मन का प्रत्येक भाव उसमे झलक उठता था।

शिष्य दर्पण पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने परीक्षा करने के लिए दर्पण का मुंह अपने गुरुजी की ओर ही कर दिया। पर वह देखता क्या है कि उसके गुरु के मन मे अहकार क्रोध, मोह, लोभ, तथा वासना आदि के कीटाणु अनेक कोनो मे कुलबुला रहे हैं।

शिष्य यह देखकर दग रह गया और सोचने लगा—मेरे गुरुजी के हृदय मे भी यह सब विकार है क्या? पर दर्पण स्पष्ट सब बात बता ही रहा था अत उसका मन गुरुजी से विमुख हो गया और वह उनके पास से चल दिया।

दर्पण उसके पास ही था। अतः अब वह जहाँ-जहाँ जाता प्रत्येक व्यक्ति के समक्ष शीशे का मुंह कर देता और देखता कि किसी भी व्यक्ति का दिल साफ नही है। प्रत्येक के हृदय मे ईर्ष्या, द्वेष अहकार, छल, कपट और धोखा आदि भरा पड़ा है। यह सब देखकर वह हैरान और परेशान हो गया तथा घबराकर पुन कुछ दिन पश्चात् अपने गुरु के पास आकर बोला—

"गुरुदेव! यह क्या बात है कि ससार के जितने भी व्यक्तियो के मनो को मैंने इस दर्पण से देखा है सभी के दिलो मे नाना प्रकार के दोष भरे पड़े है। किसी का भी तो हृदय साफ और पाप रहित नही है? क्या ससार मे सभी ऐसे हैं? किसी का भी दिल पवित्र नही है?"

गुरुजी शिष्य की बात सुनकर मुस्कुराए और उन्होंने अपने शिष्य का वह हाथ जिसमे दर्पण था पकड़ लिया तथा उस दर्पण का मुह स्वय शिष्य की ओर कर दिया।

शिष्य ने अब प्रथम बार उस दर्पण मे अपने मन का चित्र देखा। पर वह दग रह गया यह देखकर कि स्वय उसके मन का प्रत्येक कोना क्रोध, मान, माया, लोभ, अहकार, राग, द्वेष तथा ईर्ष्या आदि से भरा पड़ा है। वह बहुत ही हैरान होकर बोला—"महाराज! यह क्या बात है? मेरा हृदय तो सभी के हृदयो से ज्यादा बुरा दिखाई देता है?"

गुरु ने सस्नेह शिष्य की ओर देखते हुए कहा—"बेटा, यह दर्पण मैंने तुम्हे दूसरो के मन की बुराइयाँ देखने के लिये नही अपितु अपने मन की बुराइयो और दोषो को देखने के लिए दिया है। अत इसमे तुम अपने मन को देखा करो और उन्हे देख देखकर बुराइयो को दूर करने का प्रयत्न किया करो।"

तो बधुओ, यह उदाहरण हमे यही बताता है कि हमारी दृष्टि केवल अपनी आत्मा की ओर होनी चाहिए। हमे अपने मन के दोषो को देखकर उनका निवारण करना चाहिए तथा आत्मा को अधिक से अधिक निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यही आत्मा की मुक्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है।

जो व्यक्ति अभी बताए गए उदाहरण के अनुसार उस शिष्य की तरह जो दर्पण मे केवल दूसरो के मन की बुराइयो को देखा करता था कभी भी स्वयं अपनी आत्मा से बुराइयों को निकाल नही सकता। वह अपनी समस्त शक्ति औरो की निन्दा, आलोचना करने मे व्यर्थ खर्च कर देता है कि उस सबका त्याग करके अगर वह केवल अपनी ही कमी और बुराइयाँ देखता है तो क्रमश अपनी आत्मा को निर्मल बनाता चला जाता है।

वस्तुत प्रत्येक व्यक्ति मे कोई न कोई दोप होता है किन्तु जो व्यक्ति अपनी कमी को कमी नही मानता वह कभी अपनी आत्मा को निर्मल नही वना सकता पर इसके विपरीत जो अपनी प्रत्येक कमी को वडी मानकर उसे आत्मा से निकालने का प्रयत्न करता है वही आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल सकता है ।

महात्मा कवीर ने तो कहा है—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ।
विन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाव ॥

क्या कहा है ? कहा है कि जिस प्राणी को अपनी आत्मा को शुद्ध करने की लगन हो उसे तो यह चाहिये कि वह अपनी निन्दा करने वाले अथवा अपनी गलतियाँ व दोपो का दिग्दर्शन कराने वाले व्यक्ति को सदा अपने समीप रखना चाहिए ताकि उसके वताते ही वह अपने दोप का परिमार्जन कर सके ।

कवि का कथन सत्य भी है क्योकि जिस व्यक्ति को अपने दुर्गुणो का पता नही चलता वह उन्हें दूर कर भी कैसे सकता है ! अपने शरीर की और वस्त्रो की गदगी का जिन्हे पता नही चले, वह इन्हे साफ कैसे करेगा ? इसीलिए महापुरुप कहते हैं—निन्दा करनी है तो अपने अवगुणो की करो और प्रशसा करनी है तो दूसरो के गुणो की करो । अर्थात् अपने अवगुणो को और दूसरो के गुणो को ही देखो । ऐसा करने पर ही जीवन उन्नत और पवित्र वन सकता है ।

अपनी कमियो का निरीक्षण और उनका सशोधन ही आत्म-शुद्धि के मूल मन्त्र है । जव व्यक्ति मे ये दोनो प्रवृत्तियाँ पनप जाती हैं तभी वह आत्मोत्थान के मार्ग पर वढ सकता है तथा ससार-सागर के इस मनुष्य जन्म रूपी किनारे से तनिक सा आगे वढकर ही शिवपुर पहुँच सकता है ।

आज के मेरे कथन का साराश यही है कि वधुओ, यह मानव जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और अनन्त पुण्यो के उदय से प्राप्त हुआ है । और सवसे वडी वात तो यह है कि यह जन्म ही ऐसा है जिसमे मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप को समझकर उसे कर्म-मुक्त कर सकता है । तथा भली-भाँति समझ सकता है कि सच्चा मोक्ष केवल आत्मा का निर्मल होना है । उसके लिए कही भी वाहर जाने की तथा वाह्य आडम्बर करने की आवश्यकता नही है । कहा भी है—

मुक्तिपुरी तेरे मन मे वावा, ढूंढे कहाँ गगन मे ।
स्वर्ग नरक के आँगन मे वावा, ढूंढे कहाँ गगन मे ?
है विवेक की पहरेदारी पाप नहीं आ पाते ।
द्रोह, मोह, अज्ञान, असंयम; दूर खड़े सकुचाते ।
शुचिता रमी यहाँ कन कन मे—वावा ढूंढे कहाँ गगन मे ?

कितनी सुन्दर और मार्मिक वात है । कवि का कथन है—अरे भोले प्राणी ! जिस मोक्ष की प्राप्ति के लिए तू जमीन आसमान एक कर रहा है तथा सोच रहा है कि वह वहुत ऊपर है, वह तो तेरी ही अपनी आत्मा मे निहित है । आत्मा की पूर्णतया कर्म-रहित अवस्था से अन्य भी कही मुक्तिपुरी है क्या ? तू क्यो भूल जाता है कि स्वय स्वर्ग भी तो तेरे अन्त करण रूपी आँगन मे ही नृत्य कर रहा है । फिर तू स्वर्ग और मोक्ष को कहाँ ढूंढता है ?

अगर तेरा हृदय सरलता, शुद्धता और विषय विकारो से रहित है और उस पर भी सद्विवेक सजग और सतर्क रहकर उसकी पहरेदारी कर रहा है तो पापो का अन्त करण मे प्रवेश होना सभव नही है । हृदय के कण-कण मे जव पवित्रता रम रही है और समस्त अन्त करण निर्मल भावो से भरा हुआ है तो भली-भाँति समझले कि अज्ञान, असंयम, मोह तथा वैर-विरोध सकुचित होकर भय के कारण दूर ही रहेगे तथा तेरे अन्दर प्रवेश करने का साहस नहीं कर पायेंगे ।

कवि ने आगे के पद्य मे सच्चे साधक के अन्त करण को एक व्यवस्थित दरवार के रूप मे चित्रित करते हुए कहा है—'तेरे मन के सुन्दर सिंहासन पर सत्य रूपी राजा एव अहिंसा रूपी महारानी प्रतिष्ठित है तथा स्नेह, सद्-भावना, विरक्ति, सेवा, करुणा, दया आदि अनेक सुन्दर सद्गुण दरवारियों के समान उनकी शोभा वढा रहे हैं। तेरे इस हृदय-दरवार मे अगणित सत्य-धारी, पैगम्वर एव अवतारी भी विराजमान हैं । फिर वता कि तू वन-वन मे किसलिए भटक रहा है ?" अर्थात्—

सत्य अहिंसा राजा रानी; सव सद्गुण दरवारी ।
अगणित सत्यभक्त वैठे हैं, पैगम्वर अवतारी ॥
तू क्यो भटक रहा वन-वन में—वावा ढूंढे कहाँ गगन मे ?

वास्तव मे ही कवि ने निष्पाप और निर्दोष हृदय का वडा सुन्दर चित्र खींचा है कि जीवन की सभी अच्छाइयाँ केवल मनुष्य की अपनी आत्मा मे ही

निहित हैं। उससे अलग रहकर पूजा-पाठ तथा नाना प्रकार के अन्य क्रिया-काड व्यर्थ है और उनसे आत्म-कल्याण सभव नही है।

आत्मा की असाधारण महिमा वताते हुए कवि ने आगे भी कहा है—

सिद्ध शिला है यहीं, यहीं वैकुण्ठ यहीं है जन्नत।
मन की मुक्तिपुरी पर करदे न्योछावर सारे मत॥
वन जा मुक्त इसी जीवन मे, वावा ढूंढे कहाँ गगन मे ?

जव हम इतिहास उठाकर देखते हैं तो मालूम होता है कि धर्म के नाम पर लोगो ने कितना खून-खच्चर किया है तथा किस प्रकार रक्त की नदियाँ वहाई हैं ? और वह सव क्यो हुआ ? केवल इसलिए कि व्यक्तियो ने धर्म को आत्मा के अन्दर नही माना तथा उसे अपने-अपने ढंग से किये जाने वाले ऊपरी क्रिया-काडो मे ही समझ लिया। मन्दिर वालो ने प्रतिमा की पूजा करने मे, स्थानकवासियो ने सत दर्शन तथा सामायिक, प्रतिक्रमण अथवा अन्य क्रियाओ मे, सिखो ने गुरुग्रन्थ का पाठ करने मे, मुसलमानो ने नमाज पढने और कुरान की आयतें कण्ठस्थ करने मे तथा ईसाइयो ने गिरजाघर मे जाकर वाइविल का अध्ययन करने मे धर्म मान लिया।

परिणाम यह हुआ कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय खडे हो गए, धर्म को विभिन्न नामो से पुकारा जाने लगा और उनमे मतो, की मोटी-मोटी दीवारे खडी हो गई हैं। वे नही समझ सके कि—

"वत्थुसहाओ धम्मो।"

अर्थात्—वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।

जिस प्रकार जल का धर्म शीतलता, अग्नि का उष्णता, मिश्री का स्वभाव मीठापन है, इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव या धर्म सत्-चित्-आनन्दमय है! ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रमय है। प्रत्येक जीव की आत्मा अगर अपने सहज स्वभाव एव विशुद्ध रूप मे रह सके तो निश्चय ही वह आत्मा धर्ममय है। स्पष्ट है कि धर्म आत्मा से अलग कही नही है। उसके ज्ञान, दर्शन एव चारित्र ही उसे धर्ममय वनाते हैं।

इसीलिए कवि ने कहा है —"तेरी आत्मा मे ही तो सिद्धशिला, वैकुण्ठ या जन्नत जो कुछ भी कहा जाय सव है। इसलिए समस्त सम्प्रदायो और मतो को तू केवल अपने मन की मुक्तिपुरी पर ही न्योछावर क्यो नहीं कर देता ? जन्नत, वैकुण्ठ और सिद्धशिला सव एक ही स्थिति के नाम ही तो हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा को शुद्ध वनाकर ही तो मुक्ति का अनुभव कर

सकता है। उसके लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का नाम देना मूर्खता नही तो और क्या है ? भेद सब ऊपर से दिखाई देने वाला है अन्दर तो केवल एक ही तत्व निहित होता है। मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा और शिवालय तो एक ही प्रकार के चूने, मिट्टी और पत्थर मे बने हुए होते हैं। कहा भी है—

बनवाओ शिवालय या मसजिद,
है ईंट वही, चूना है वही।
ये मार वही, मजदूर वही,
मिटी है वही, गारा है वही ॥

आशा है आप पद्य का अर्थ समझ गए होंगे। आशय यही है कि ऊपरी वेष-भूषा या क्रिया-काडो को लेकर लडना-झगडना भारी भूल है। परमात्मा का निवास केवल आत्मा मे ही होता है। जिस समय आत्मा समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती है, वह भी परमात्म-स्वरूप बन जाती है। इसीलिए कवि ने कहा है कि तू अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर इसी जीवन मे मुक्त हो जा !

तो बन्धुओ ! हमे ऐसा महिमामय और दुर्लभ मानव-जन्म पाकर इसे व्यर्थ नही खोना है। अगर अनन्तकाल के पश्चात् भी इसे पाकर हमने खो दिया तो समझना चाहिए कि हमारी आत्मा भव-सागर के किनारे तक आकर भी पुन मझधार की ओर मुड गई है तथा उस ओर अग्रसर हो रही है।

इस विराट् विश्व मे जीते तो सभी व्यक्ति हैं किन्तु ऐसे कितने है जो अपने जीवन को सार्थक बनाने के सम्बन्ध मे गभीर विचार करते हैं तथा उस पर अमल कर लेते है ? कितने व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने स्वभाव मे भद्रता रखते हैं, इन्द्रियो पर सयम रखते हैं, शक्ति के अनुसार दान, शील, तप और भाव की आराधना करते है। समस्त प्राणियो के प्रति मैत्री करुणा एव सद्भावना के भाव रखते हुए अपने हृदय को अहकार, ईर्ष्या, द्वेष, पर-निन्दा, काम, क्रोध और मिथ्यात्व से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं।

साराश यही है कि जो भव्य प्राणी पापो से डरता है, पुन चौरासी लाख योनियो मे चक्कर काटने के भय से सदा सजग और सावधान रहता है तथा प्राप्त हुए मानव-जीवन को पूर्णतया सार्थक करना चाहता है वह इस मानव-जन्म रूपी भव-समुद्र के किनारे के करीब आकर पुन उसमे गोते लगाने के कार्य अथवा दुष्कृत्य नही करता। वह सदा अपनी आत्मा मे रमण करता है तथा उसके शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने का प्रयत्न करते हुए एक दिन किनारे पर पहुँच जाता है तथा सदा सर्वदा के लिए जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। ●

२५
काँटों से बचकर चलो

धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

आप जानते है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नत वनाना चाहता है। इतना अवश्य है कि कोई अपने जीवन की सफलता वैभवशाली वनने मे मानता है, कोई यश-प्रतिष्ठा की प्राप्ति मे, कोई सासारिक सुखो को अधिकाधिक भोग सकने मे, जीवन को सफल और उत्तम मानते हैं।

किन्तु जीवन की सफलता इन सव पदार्थों को प्राप्त करने मे नही है। इन सव उपलब्धियो को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियो की दृष्टि मे शरीर मुख्य होता है और आत्मा नगण्य। दूसरे शब्दो मे वे शरीर और आत्मा को भिन्न नही समझते क्योकि उनकी दृष्टि अति सीमित होती है। इस जीवन और इस पृथ्वी को ही वे ससार समझते हैं। पर ज्ञानियो की दृष्टि ऐसी नही होती, वे आत्मा को शाश्वत कल्याण के दृष्टिकोण से गभीर विचार करते हैं तथा भली-भाति समझते हैं कि यह शरीर एक पिजरा है और आत्मा रूपी हम इसमे कैद है।

प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने इस आत्म-हस की कैद का अत्यन्त सुन्दर चित्र खीचा है, कहा है—

हस का जीवित कारागार।
अशुचि का है अक्षय भडार॥
विविध व्याधियो का मदिर तन, रोग शोक का मूल,
इस भव, परभव मे शाश्वत सुख के सदैव प्रतिकूल।
ज्ञानी, करो राग परिहार।
हंस का जीवित कारागार।

इन चद पक्तियो मे कितना रहस्य भरा हुआ है ? कवि ने स्पष्ट वताया है कि अपवित्रता के इन अक्षय-कोष रूपी शरीर मे हमारा शुद्ध स्वरूपी तथा अक्षय सुख एव शान्ति को प्राप्त कराने वाला निष्पाप एव निष्कलुष आत्मा

रूपी हस कैद है। इस शरीर के कारण ही आत्मा को शाश्वत सुख प्राप्त नही हो पाता क्योकि यह असख्य व्याधियो का तथा नाना प्रकार के विषय-विकारो एव मोह तथा शोक का मूल स्थान है। इसी के कारण मनुष्य आर्तध्यान व रौद्रध्यान को ध्याकर आत्मा के लिये अनन्त वेदनाओ का अर्जन करता है। दूसरे शब्दो मे अपने आप ही अपने पैरो मे कुल्हाडी मारता है।

इसीलिए इन पक्तियो के रचयिता ने चेतावनी दी है—हे ज्ञानी जीव ! तुम इस शरीर और ससार के प्रति होने वाले राग का त्याग करके अपने आत्म-हस को पुन -पुन नवीन शरीरो मे कैद होने से बचाओ और इसे मुक्त करो।

भगवान महावीर ने भी अपने प्रिय शिष्य गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा है —

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गाम गए नगरे व सजए,
सन्तीमग्गं च वूहए,
समयं गोयम ! मा पमायए।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०-३६

अर्थात्—"हे गौतम ! प्रबुद्ध व शान्तरूप होकर सयम-मार्ग मे विचरण करो तथा पापो से निवृत्त होकर ग्राम, नगर या अरण्य आदि स्थानो मे रह कर शाति के मार्ग पर बढो। इस काम मे समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।"

कितना सुन्दर एव कल्याणकारी उपदेश दिया गया कि हे जीव ! अगर तुझे अपनी आत्मा रूपी हस को सदा के लिये विभिन्न शरीरो के कारागारो मे कैद होने से बचाना है, अर्थात् इसे सदैव के लिए शरीर-कारागार से मुक्त करना है तो तत्त्वज्ञ बनकर सयम मार्ग मे विचरण कर। कषाय रूप अग्नि मे अपनी आत्मा को झुलसने से बचा तथा शान्त रूप होकर सब पापो से दूर रहते हुए शाश्वत सुख की प्राप्ति का प्रयत्न कर।"

"भले ही तू गांव मे रहे, नगर मे रहे अथवा वनो मे निवास करे पर स्वय कर्मों के उपार्जन से बचे तथा अन्य प्राणियो को सदुपदेश देकर उन्हे भी पाप कर्मो से बचाकर कल्याणकारी मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करे तभी तेरा जीवन स्वय तथा पर को शाति पहुँचाने वाला बन सकता है।"

वास्तव मे ही यह शिक्षा प्रत्येक मुमुक्षु के लिए है जिसे अपने अमूल्य मानव पर्याय को सफल बनाने की आत्मिक छटपटाहट है। भगवान महावीर

के द्वारा फरमाई हुई गाथा मे सर्वप्रथम शब्द आय है – 'बुद्धे' अर्थात् तत्वो को जानने वाले प्रबुद्ध । जो प्रबुद्ध होगे वे ही स्वय अपना और दूसरो का कल्याण कर सकेंगे ।

आप नमोत्थुण पाठ मे बोलते हैं—'बुद्धाण बोहयाणं' यानी भगवान तत्त्व को जानते थे और इसीलिये औरो को भी उपदेश देते थे । अगर स्वय उनके पास ज्ञान नही होता तो वह औरो को क्या उपदेश दे सकते थे ? जिसके पास जैसी वस्तु होती है वही वह औरो को देता है । भगवान के पास केवल ज्ञान और केवलदर्शन था अत उन्होंने दूसरो को भी ज्ञान प्रदान किया । सर्वप्रथम वे तत्वज्ञ बने और उसके पश्चात् औरो को नसीहत दी । कल्याणकारी नसीहत का आत्मोत्थान मे बडा भारी भाग होता है ।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा भी है —

'Good counsel has no price"

—अच्छी नसीहत अमूल्य होती है ।

—मेजिनी

कहने का आशय यही है कि प्रथय तो मुमुक्षु स्वय प्रबुद्ध बने और उसके पश्चात् शान्ति से विचरण करता हुआ औरो को बोध देने का प्रयत्न करे । अगर वह स्वय तत्वज्ञ नही होता तो औरो को बोध देना उसके लिये असभव है । स्वय व्यक्ति ज्ञानी हो और अपने आचरण मे वह ज्ञान को उतारता भी हो, तभी उसके उपदेश का असर औरो पर पडता है ।

उपदेश का सच्चा प्रभाव

एक व्यक्ति अपने पुत्र को एक सत के पास लाया और बोला—"भगवन् ! यह लडका गुड बहुत खाता है कृपा करके इसकी यह आदत छुडवा दीजिये ।"

सत ने उत्तर दिया—"भाई ! इसे एक पक्ष के बाद मेरे पास लाना, तब मैं इसकी गुड खाने की आदत को छुटवाऊँगा ।

पन्द्रह दिन बाद वह व्यक्ति अपने लडके को लेकर पुन महात्मा के पास आया । महात्मा ने बच्चे को बडे प्यार से कहा—"वत्स ! तुम गुड मत खाया करो ।" उस लडके ने उसी दिन से गुड खाना छोड दिया ।

बहुत दिनो बाद एकदिन महात्मा ने उस व्यक्ति से पूछा—"तुम्हारा लडका अब तो गुड नही खाता ?

पिता ने उत्तर दिया—"महात्मा जी ! आपके उपदेश ने बड़ा चमत्कारिक असर किया है। अब मेरा पुत्र कभी भी गुड नही खाता। किन्तु आप कृपया मुझे इस बात का रहस्य समझाइये कि आपने उसे गुड न खाने का उपदेश उसी दिन न देकर पन्द्रह दिन पश्चात् क्यो दिया था ?

संत ने हँसकर कहा "भाई ! उस वक्त तक मैं स्वय ही गुड खाता था अत गुड खाना छोडने के बाद ही मैंने तुम्हारे पुत्र को न खाने के लिये उपदेश दिया था। क्योकि जिन बातो को मनुष्य स्वय आचरण मे न लाए उनके लिये उपदेश देने पर उस उपदेश का कोई असर नही होता। स्वय त्यागवृत्ति अपनाने के बाद ही त्याग का उपदेश दिया जाना चाहिये और वही उपदेश औरो पर असर करता है।

वस्तुत अगर कोई व्यक्ति स्वय तो गलत मार्ग पर चल रहा है पर दूसरे को अन्य सही मार्ग पर चलने के लिये कहेगा तो सुननेवाला बतानेवाले की बात कैसे मानेगा ? वह तभी उस मार्ग को सही समझेगा जबकि बताने वाला स्वय भी उस सच्चे मार्ग पर चल रहा होगा। इसी प्रकार तत्वो को जानने वाला तत्वज्ञ ही औरो को बोध दे सकेगा अज्ञानी, व्यक्ति नही।

उदाहरण स्वरूप एक क्रोधी व्यक्ति अगर औरो से कहे कि तुम क्रोध मत किया करो तो सुनने वाले उसकी बात पर कब ध्यान देंगे ? वे तभी उसकी बात मानेंगे जबकि उपदेश देने वाला व्यक्ति क्रोध तथा अन्य कषायो को जीत लेगा। वह किसी के द्वारा निन्दा किये जाने पर क्रोधित न होगा और स्तुति या प्रशसा करने पर हर्षित न होगा। ऐसी स्थिति आने पर ही उसके उपदेशो का प्रभाव लोगो पर पड सकेगा।

पर ऐसी स्थिति कब आएगी ? तभी, जबकि व्यक्ति सच्चा ज्ञान, संतोष, क्षमता तथा धैर्य का अधिकारी बन जाएगा। आज के युग मे तो थोडा वैभव प्राप्त होते ही अथवा कोई उच्च पदवी प्राप्त करते ही व्यक्ति अपने आपको अधिकारी मान बैठता है। वह यह भूल जाता है कि ऐसा अधिकार कब तक टिकेगा ? जब तक वह पद उसके पास रहेगा तभी तक तो, अथवा जब तक उसकी तिजोरी मे धन रहेगा तभी तक वह अपने आपको अधिकारी मान पाएगा।

दौलत क्या अधिकार का लक्षण है ? आप थोडा सा धन पाकर ही अहकार से भर जाते हैं, अकड कर चलते हैं, पर यह विचार नहीं करते कि यह दौलत कब तक रह सकती है ? दौलत का अर्थ हम दो लतो से भी लगा

सकते हैं। लत यानी आदत। दौलत अथवा लक्ष्मी मे दो लतें होती हैं एक आने की और एक जाने की। क्योकि दौलत या लक्ष्मी चचल होती है, आती और जाती रहती है यह सभी जानते हैं।

तो लक्ष्मी की ये दोनो लतें खराब होती हैं। आप पूछेंगे यह किस प्रकार ? इस प्रकार कि जब यह आती है तो पीठ मे लात मारती है। परिणामस्वरूप आलस्य और प्रमाद के कारण आपकी तोद निकल आती है क्योकि दौलत पाने के पश्चात् आप फिर कोई भी परिश्रम का कार्य तो करते ही नही हैं अत गद्दी पर बैठे-बैठे तोद नही बढेगी तो और क्या होगा ?

अब इस दौलत की दूसरी लत भी आप जान लीजिये ! अभी मैंने इसके आने का परिणाम बताया था अब जाने का परिणाम देखना है। वह यही है कि जब यह जाती है तो पेट मे लात मार कर जाती है जिससे मनुष्य कुबडा हो जाता है। सुनकर आपको आश्चर्य होगा, किन्तु बात सही है। जब लक्ष्मी चली जाती है तो उससे रहित व्यक्ति को पेट भर अन्न भी खाने को नही मिलता तथा पेट भरने के लिए कठिन परिश्रम करते-करते तथा पैसे की प्राप्ति के लिए चिन्ता करते-करते वह युवावस्था मे भी वृद्ध के समान झुक जाता है अर्थात् कुबडे के समान दिखाई देने लगता है। पचतन्त्र मे एक स्थान पर कहा भी है —

"जिनके पास दौलत है वे यदि वृद्ध भी हो चुके हैं तो जवान हैं, और जो दौलत से रहित हैं वे जवान होते हुए भी वृद्ध हैं।"

तो बन्धुओ, इस दौलत या टके की महिमा अवर्णनीय है। जब तक यह पास मे रहती है, तब तक तो सारी दुनिया और सभी सुख व्यक्ति के कदमो मे लौटते हैं सभी उसे मेरा-मेरा कहकर सम्मान देते हैं। कहा भी है —

टका करे कुलहूल, टका मिरदग बजावै।
टका चढै सुखपाल, टका सिर छत्र धरावैं॥
टका माय अरु बाप, टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लडैया॥

वस्तुत जब तक टका पास मे रहता है मनुष्य के सुखो का पार नही रहता और व्यक्ति अभिमान के नशे मे चूर होकर निर्धनो पर अत्याचार करता है, उन पर नाना प्रकार से अपना बडप्पन और अधिकार जमाने के लिए तैयार रहता है। पर ऐसा अधिकार सदा टिकनेवाला नही होता। आप लोगो के लिए ही यह बात नही है। हम लोगो के लिए भी यही नियम है। मान

लीजिये—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक या उपप्रवर्तक कोई भी पदवीधारी मुनि है, अगर वह छोटे सन्तो को दबाना चाहते है तो उनके अधिकार और पदवि ये भी टिक नही सकती।

अधिकार मे चार अक्षर है —अ, धि, का, और र। अगर अधिकार पाकर व्यक्ति मर्यादा मे रहता है तो उसका अधिकार भी कायम रहता है। जैसे राम थे। उन्होने अधिकार प्राप्त किया किन्तु फिर भी मर्यादा मे रहे तो आज भी सारा ससार उनका नाम गौरव से लेता है। सन्त भी अधिकार पाकर अपनी मर्यादा का उल्लघन न करे तो उनका पद पाना सार्थक है। अन्यथापद तो प्राप्त कर लिया और उलटे रास्ते पर चले गये तो क्या होगा ? आप लोग ही कहेगे—"क्या रखा है महाराज मे ?"

कहने का अभिप्राय यही है कि अधिकार पाकर व्यक्ति को उसका सदु-पयोग करना चाहिए तथा उसकी मर्यादा रखनी चाहिए। अन्यथा क्या होगा जानते है ? यही कि अधिकार मे से 'अ' हट जायेगा और केवल धिक्कार ही पल्ले पडेगा।

अगर हम इतिहास उठाकर देखते हैं तो मालूम हो जाता है कि बादशाह औरगजेब को अधिकार मिला, किन्तु उसने अपने अधिकार का उपयोग हिन्दुओ को, जिन्हे काफिर कहता था उन्हें निर्मूल करने के प्रयत्न मे किया। गुरु गोविन्दसिह के दो बालको को भी मुसलमान न बनने के कारण जीते जी दीवाल मे चुनवा दिया। हिटलर को अधिकार मिला तो वह तानाशाह बन गया। परिणाम इस सब का क्या हुआ ? यही कि आज भी लोग ऐसे अधि-कारियो का नाम धिक्कार के साथ लेते हैं। और ऐसे अधिकारियो के उदा-हरणो को लेकर ही शुक्राचार्य ने कहा है —

अधिकारमद पीत्वा को न मुह्यात् पुनश्चिरम्।

अधिकार रूपी मदिरा का पान करके कौन है जो चिरकाल तक उन्मत्त नही बना रहता ?

पर बन्धुओ ! ऐसा होना नही चाहिए। पूर्वकृत पुण्यो के उदय से मानव पर्याय प्राप्त हुई है और लक्ष्मी का भी सयोग मिल गया है। इसलिए इन दोनो का उपयोग इस प्रकार करना चाहिए जिससे इहलोक और परलोक दोनो ही सुधर सके। आपके पास पैसा है तो उसे दीन-दुखी और दरिद्र व्यक्तियो के कष्टो को दूर करने मे खर्च करो, समाज मे अनाथ बालक और निराश्रित विधवा बहनें हैं उनकी सहायता मे लगाओ।

पैसे वाले होने के नाते आप सब के मान-सम्मान के अधिकारी वने हैं, समाज और सघ के शिरोमणि का पद आपको प्राप्त हुए तो प्रत्येक के साथ नम्रता, सद्भावना और सद्व्यवहार रखो। अन्यथा आपका वैभव और आपका सम्मान थोथा वनकर रह जायेगा। जवान से तो फिर भी लोग आपकी प्रशसा कर देंगे किन्तु हृदय से तिरस्कार करना नही छोडेंगे।

हमारे जैन समाज मे चाहे वे दिगम्बर हैं, श्वेताम्बर है, तेरापन्थी या स्थानकवासी हैं अधिकतर व्यवसायी और व्यापारी हैं। सभी जन कमाने मे वडे होशियार हैं। जैनियो को पैसा कमाना खूब आता है पर उसका सही उपयोग करना नही आता। अरे, घन कमा लिया है तो क्या उसका उपयोग आपके केवल अपने और अपने परिवार के सुख-भोग मे ही करना चाहिए? नही, उसे परोपकार मे भी लगाना चाहिए।

हमारे समाज मे परोपकारी और दानी नहीं हैं, ऐसा मैं नही कहता पर यह अवश्य कहता हूँ कि रुपये मे एक आना ऐसे महापुरुष मिलेंगे और पन्द्रह आना केवल अपनी भोग-सामग्रियाँ जुटाने वाले होगे। इसलिए अन्य लोगो की आंखो मे यह समाज खटकता रहता है। वे कहते हैं—"हम तो भूखे मरते हैं और वे जैनी या वनिये गुलछर्रे उडाते हैं।" लोग तो हमे भी आप लोगो के लिए उलाहना देने से नही चूकते।

जव हम महाराष्ट्र मे विचरण कर रहे थे, वहाँ प्रवचन मे मराठे भी काफी तादाद मे आया करते थे। एक वार उनमे से एक व्यक्ति वोला—'महाराज आपके ये भक्त यह केवल लोटा डोरी लेकर आये थे पर आज हवेलियाँ वनाकर रह रहे हैं।"

अव हम उस वात का क्या जवाव देते? कहना पडा—"भाई! इन लोगो ने हवेलियाँ वनवाई हैं अवश्य, किन्तु किस प्रकार ये रहते हैं इस पर तो विचार करो कि ये व्यापारी एक रुपये के पीछे पाव आना, आधा आना एक आना या चार आने भी कमाते होंगे और इस प्रकार लखपति वन गये। पर तुम लोग खेतो मे गिने-चुने दाने डालकर हजारो और करोडो दाने प्राप्त कर लेते हो फिर भी भूखे क्यो मरते हो? और इसका कारण क्या है?"

वह व्यक्ति वोला—'महाराज! आप ही वताइये कि इसका क्या कारण है?'

मैंने कहा—"तुम्हारी फसल अच्छा पानी वरस जाने से ठीक आ जाती है तो तुम लोग उससे प्राप्त पैसे का सयम नही करते। जव तक वह पास में

रहता है, खेल तमाशो मे, शराब पीने मे, मास खाने मे, जुआ खेलने मे और ऐसे ही अनेक व्यसनो मे उडा देते हो। किन्तु ये व्यापारी लोग ऐसा नही करते। ये लोग न शराब पीते हैं, न मास खाते है, न जुआ-चोरी ही करते हैं। किसी भी दुर्व्यसन मे से अपने पैसे को व्यर्थ नही खोते। इसीलिए इनका पैसा सुरक्षित रहता है और उससे ये स्थायी सम्पत्ति खरीदकर या बनवाकर आराम मे रहते हुए भरसक धर्मध्यान मे समय व्यतीत करते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि हमारा समाज यद्यपि इन लोगो के जैसा नही है और उसमे अधिक दुर्व्यसन भी नही हैं और जातियो के समान, फिर भी आज की पीढी के तो अनेक युवक मास, शराब और जुए को भी अपना चुके हैं तथा इनका प्रयोग करके ही अपने आपको सभ्य मानते हैं। कारण इसका यही है कि वे सन्तो के सम्पर्क मे नही आ पाते। प्राचीन काल से जो यह समाज अनेकानेक दुर्गुणो से बचा हुआ है वह सन्तो की सगति और उनके उपदेशो को हृदयगम करने के कारण है।

इसलिए प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वह अपनी सन्तान मे प्रारम्भ से ही उत्तम सस्कार डालें। उनकी रुचि सद्गुरु की सगति और उनके उपदेशो मे बढायें। अन्यथा यह आर्य कुल, आर्यक्षेत्र और आर्य जाति का पाना निरर्थक चला जायेगा।

बहुत से व्यक्ति आकर हमसे कहते हैं—"महाराज !" हमारे समाज मे दहेज की प्रथा दिन दूनी और रात चौगुनी बढ रही है। पैसेवाले व्यक्ति तो लाखो खर्च करके अपनी शोभा बढाते हैं पर मध्यम वर्ग मारा जाता है। वास्तव मे यह हजारो का टीका और दहेज लेना बहुत बुरी बात है। इस कुप्रथा के कारण अनेक गुणवान एव सुशिक्षित कन्याओ को योग्य घर बार नहीं मिल पाता। तथा पैसा दिया जाने पर चाहे जैसी कन्या लक्षाधीशो के यहाँ पहुँच जाती है।

टीका तथा दहेज आदि अधिक से अधिक देकर चार दिन के लिए तो आप यश प्राप्त कर लेते हैं किन्तु उसका कुप्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियो पर कितना पडता है इसका भी आप कभी अन्दाज लगाते हैं क्या ? नही, कितने निर्धनो की आहे आपको लगती हैं यह भी आप सोच नहीं पाते।

कितना अच्छा हो कि आप लोग दहेज तथा अन्य इसी प्रकार के व्यर्थ जाने वाले पैसे को परोपकार मे खर्च करें। पर यह उपदेश आपके हृदय मे

उतरे तभी तो यह सब सम्भव है। अन्यथा तो लोग वोलेंगे ही, चुप क्यो रहेगे ? आप आवश्यकता से अधिक सासारिक सुखो का उपभोग करें और खाये न जा सकें इतने खाद्य पदार्थों का सग्रह करे तथा दूसरी ओर असख्य लोगो को भरपेट रोटी भी नसीव न हो तो वे चुप कैसे रह सकते हैं ? इसीलिए मेरा कहना है कि लोगो का मुंह वन्द रखना है तो वांटकर खाना चाहिए। समाज मे कुरीतियो को प्रश्रय देकर उसे खोखला नही बनाना चाहिए।

आप सन्तो के सम्पर्क मे आते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं, किन्तु उस पर अमल नही करते। फिजूलखर्ची मे प्रतियोगिता के लिए तो आप फौरन तैयार हो जाते है पर जहाँ आत्म-कल्याणकारी क्रियाएँ करने को कहा जाता है, इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं।

यह वात इस प्रकार सच भी है कि चाँदी को खरीदने वाले वहुत मिल जायेगे, सोने को खरीदने वाले गिने चुने और रत्नो को खरीदने वाले तो विरले ही मिलते हैं। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र अमूल्य रत्न है और इन्हे वही ग्रहण करता है जो समग्र ससार से विमुख हो जाता है।

गौतमस्वामी सासारिक प्रलोभनो को जीत चुके थे इसीलिए पाँच महाव्रतो को धारण करके वे श्रमण वन सके। वे जान गये थे कि यह ससार मिथ्या और असार है, माया ने इसमे अपना जाल विछा रखा है और जो इसमे फँस जाता है वह वही का नही रहता। एक कवि ने भी कहा है :—

> इस जाल मे सव उलझाये, दुनिया है गोरखधन्धा।
> डाल रखा है सवने गले मे, लोभ मोह का फन्दा॥
> फिर भी सकल जगत है अन्धा।
> इस दुनिया के सुख भी झूठे, इसका प्यार भी झूठा॥
> सावधान हो इस ठगनीने है वड़ो-वड़ो को लूटा।
> मूरख मत वन इसका वन्दा।

कवि का कथन यथार्थ है। यह जगत वास्तव मे ही गोरखधन्धा है। और जिधर देखो उधर ही व्यक्ति लोभ, मोह, विषय, विकार तथा अन्य नाना प्रकार के जाल मे फँसा हुआ है। माया का प्रलोभन इतना जवर्दस्त है कि उसके कारण उसकी दृष्टि अपने भविष्य की ओर नही जाती तथा परलोक मे क्या होगा, इसका भी उसे खयाल नहीं आता।

किन्तु महापुरुष इसीलिये तो प्राणी को वार-वार चेतावनी देते हैं कि यह

जगत और इससे प्राप्त होने वाले सुख सच्चे नही हैं केवल सुखाभास ही कराते है। इस जगत के समस्त सम्बन्धी जो प्यार जताते हैं, उसमे भी स्वार्थ के अलावा कुछ नही होता। इसलिये हे प्राणी! वडे-वडे राजा महाराजाओ, सेठ-साहूकारो तथा पदवीधारियो को जिस मायामय जगत ने लूट लिया है उससे सावधान रह, मूर्ख वनकर इसके फँदे मे मत फँस अन्यथा यहाँ से विदा होते समय केवल पश्चात्ताप ही तेरे हाथ आएगा।

जो भव्य जीव इस वात को समझ लेते हैं वे चाहे साधु वन जांय या घर मे रहे, इस ससार मे जल कमलवत् निर्लिप्त रहते हैं। इस विषय मे उदाहरण-स्वरूप एक वडा सुन्दर उदाहरण ग्रन्थो मे मिलता है—

मिथिला जलती है तो जलने दो!

एकवार महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा—"तुम राजा जनक के पास जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करो।" शुकदेव पिता की आज्ञानुसार मिथिलानगरी की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर वे राजमहल के द्वार पर जा खडे हुए और द्वारपाल से अपने आने की सूचना राजा जनक के पास भेजी।

राजा ने उत्तर मे कहला भेजा—"द्वार पर ठहरो।" शुकदेव तीन दिन तक राजभवन के द्वार पर खडे रहे किन्तु जनक ने उन्हे भीतर नही वुलवाया। किन्तु इस पर भी शुकदेव को जरा भी क्रोध नही आया। राजा ने भी शुकदेव के क्रोध की परीक्षा लेने के लिये ही उन्हे तीन दिनो तक द्वार पर खडा रखा था।

अन्त में चौथे दिन शुकदेव जी को महल मे वुलाया गया। अन्दर जाकर उन्होंने देखा कि राजा जनक स्वर्णमडित सिंहासन पर आसीन हैं, उनके सामने अनिंद्य सुन्दरी नवयौवनाएँ नृत्य कर रही हैं, कुछ उनकी सेवा मे सलग्न हैं। तात्पर्य यह कि राजा के चारो ओर ऐश-आराम के साधन विखरे हुए थे और यही दिखाई देता था कि राजा जनक भोगो मे रत हैं।

यह सब देखकर शुकदेव जी को वड़ी घृणा हुई और वे मन ही मन विचार करने लगे—"पिताजी ने मुझे किस नरक कुण्ड मे भेज दिया। क्या यही राजा जनक का परम ज्ञान है कि इस प्रकार ससार के भोग-विलासो मे रहा जाय? मेरे पिता कितने भोले है कि इस विलासी राजा को वे परम ज्ञानी मानते है।"

शुकदेव के मन के भाव उनके चेहरे पर भी आए विना नही रह सके। एक कहावत भी है—

"चेहरा, मस्तिष्क और हृदय दोनो का प्रतिबिम्ब है।"

तो शुकदेव के हृदय मे राजा जनक के प्रति जो नफरत भरे विचार आए वे उनके चेहरे से भी झलकने लगे। राजा जनक ने उन्हें ताड लिया और वे कुछ कहने को उत्सुक ही हुए थे कि सयोगवश मिथिलापुरी मे वडे जोरो से आग लग गई। वाहर से कर्मचारी दौडे हुए आये और व्यग्र होकर वोले—"महाराज! नगर मे आग लग गई है और वह राजभवन तक भी पहुँचने वाली है।"

शुकदेव ने ज्योही यह वात सुनी सोचने लगे—"अरे मेरा दण्ड कमण्डल तो वाहर ही रखा है कही वह न जल जाय।" यह विचारकर ज्योही वे वाहर जाने के लिये तैयार हुए कि महाराज के वाक्य उनके कानो मे पडे जो वे आग लगने की खवर लाने वाले दूतो से कह रहे थे —

अनन्तश्चास्ति मे वित्त,
मन्ये नास्ति हि किञ्चन।
मिथिलाया प्रदग्धाया,
न मे दह्यति किञ्चन॥

अर्थात्—मेरा आत्मरूप धन अनन्त है। उसका अन्त कदापि नही हो सकता। इस मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नही जल सकता।

राजा जनक के यह वचन सुनते ही शुकदेव को वोध हो गया कि वास्तव मे जनक सच्चे ज्ञानी है, जिन्हे किसी भी सासारिक पदार्थ मे आसक्ति नही है। और जो व्यक्ति ऐसे-आराम के सावनो का उपभोग करते हुए भी राजा जनक के समान ससार से अनासक्त रहता है, वही ज्ञानी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। उन्हे अपने आप मे भी लज्जा महसूस हुई कि जहाँ राजा जनक मिथिला के जल जाने से भी व्यग्र नही हुए, वहाँ मैं अपने दण्ड-कमण्डल के जल जाने की सम्भावना से ही विकल हो उठा था। अव उन्हे जनक से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही थी अत वे वहाँ से उलटे पैरो लौट आए।

उदाहरण से स्पष्ट है कि ममता और आसक्ति ही समस्त दुखो का कारण है। जिस भव्य प्राणी को किसी भी पदार्थ मे ममता नहीं होती, वह चाहे साधु हो या गृहस्थ, अवश्य ही मुक्ति का अधिकारी वन सकता है। परन्तु जो व्यक्ति घर छोडकर सन्यासी का वेश धारण कर लेता है पर मन से अपनी वस्तु पर

जगत और इससे प्राप्त होने वाले सुख सच्चे नही है केवल सुखाभास ही कराते है। इस जगत के समस्त सम्बन्धी जो प्यार जताते हैं, उसमे भी स्वार्थ के अलावा कुछ नही होता। इसलिये हे प्राणी! बडे-बडे राजा महाराजाओ, सेठ-साहूकारो तथा पदवीधारियो को जिस मायामय जगत ने लूट लिया है उससे सावधान रह, मूर्ख बनकर इसके फँदे मे मत फँस अन्यथा यहाँ से विदा होते समय केवल पश्चात्ताप ही तेरे हाथ आएगा।

जो भव्य जीव इस बात को समझ लेते हैं वे चाहे साधु बन जाँय या घर मे रहें, इस ससार मे जल कमलवत् निर्लिप्त रहते हैं। इस विषय मे उदाहरण-स्वरूप एक बडा सुन्दर उदाहरण ग्रन्थो मे मिलता है—

मिथिला जलती है तो जलने दो!

एकबार महर्षि व्यास ने अपने पुत्र शुकदेव से कहा—"तुम राजा जनक के पास जाकर उनसे उपदेश ग्रहण करो।" शुकदेव पिता की आज्ञानुसार मिथिलानगरी की ओर चल दिये। वहाँ पहुंचकर वे राजमहल के द्वार पर जा खडे हुए और द्वारपाल से अपने आने की सूचना राजा जनक के पास भेजी।

राजा ने उत्तर मे कहला भेजा—"द्वार पर ठहरो।" शुकदेव तीन दिन तक राजभवन के द्वार पर खडे रहे किन्तु जनक ने उन्हे भीतर नही बुलवाया। किन्तु इस पर भी शुकदेव को जरा भी क्रोध नहीं आया। राजा ने भी शुकदेव के क्रोध की परीक्षा लेने के लिये ही उन्हें तीन दिनो तक द्वार पर खड़ा रखा था।

अन्त मे चौथे दिन शुकदेव जी को महल मे बुलाया गया। अन्दर जाकर उन्होंने देखा कि राजा जनक स्वर्णमडित सिंहासन पर आसीन हैं, उनके सामने अनिंद्य सुन्दरी नवयौवनाएँ नृत्य कर रही हैं, कुछ उनकी सेवा मे सलग्न हैं। तात्पर्य यह कि राजा के चारो ओर ऐश-आराम के साधन बिखरे हुए थे और यही दिखाई देता था कि राजा जनक भोगो मे रत हैं।

यह सब देखकर शुकदेव जी को बडी घृणा हुई और वे मन ही मन विचार करने लगे—"पिताजी ने मुझे किस नरक कुण्ड मे भेज दिया। क्या यही राजा जनक का परम ज्ञान है कि इस प्रकार ससार के भोग-विलासो मे रहा जाय? मेरे पिता कितने भोले है कि इस विलासी राजा को वे परम ज्ञानी मानते हैं।"

शुकदेव के मन के भाव उनके चेहरे पर भी आए बिना नही रह सके। एक कहावत भी है—

"चेहरा, मस्तिष्क और हृदय दोनो का प्रतिविम्व है।"

तो शुकदेव के हृदय मे राजा जनक के प्रति जो नफरत भरे विचार आए वे उनके चेहरे से भी झलकने लगे। राजा जनक ने उन्हे ताड लिया और वे कुछ कहने को उत्सुक ही हुए थे कि सयोगवश मिथिलापुरी मे वडे जोरो से आग लग गई। वाहर से कर्मचारी दौडे हुए आये और व्यग्र होकर वोले—"महाराज ! नगर मे आग लग गई है और वह राजभवन तक भी पहुंचने वाली है।"

शुकदेव ने ज्योही यह वात सुनी सोचने लगे—"अरे मेरा दण्ड कमण्डल तो वाहर ही रखा है कही वह न जल जाय।" यह विचारकर ज्योही वे वाहर जाने के लिये तैयार हुए कि महाराज के वाक्य उनके कानो मे पडे जो वे आग लगने की खवर लाने वाले दूतो से कह रहे थे —

अनन्तश्चास्ति मे वित्त,
मन्ये नास्ति हि किञ्चन।
मिथिलाया प्रदग्धाया,
न मे दह्यति किञ्चन॥

अर्थात्—मेरा आत्मरूप धन अनन्त है। उसका अन्त कदापि नही हो सकता। इस मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नही जल सकता।

राजा जनक के यह वचन सुनते ही शुकदेव को वोध हो गया कि वास्तव मे जनक सच्चे ज्ञानी है, जिन्हे किसी भी सासारिक पदार्थ मे आसक्ति नहीं है। और जो व्यक्ति ऐसे-आराम के साधनो का उपभोग करते हुए भी राजा जनक के समान ससार से अनासक्त रहता है, वही ज्ञानी मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। उन्हे अपने आप मे भी लज्जा महसूस हुई कि जहाँ राजा जनक मिथिला के जल जाने से भी व्यग्र नही हुए, वहाँ मैं अपने दण्ड-कमण्डल के जल जाने की सम्भावना से ही विकल हो उठा था। अव उन्हे जनक से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रही थी अत वे वहाँ से उलटे पैरो लौट आए।

उदाहरण से स्पष्ट है कि ममता और आसक्ति ही समस्त दुखो का कारण है। जिस भव्य प्राणी की किसी भी पदार्थ मे ममता नही होती, वह चाहे साधु हो या गृहस्थ, अवश्य ही मुक्ति का अधिकारी वन सकता है। परन्तु जो व्यक्ति घर छोडकर सन्यासी का वेश धारण कर लेता है पर मन मे अपनी वस्तु पर

से उसका मोह समाप्त नही होता, वह सन्यासी का बाना पहनकर भी कभी अपनी आत्मा का कल्याण नही कर सकता। उसके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र कुछ भी मूल्य नही रखते। न वह उन्हे प्राप्त ही कर सकता है और न उन्हे जीवन मे उतार सकता है।

इसलिये बधुओ, सर्वप्रथम हमे सासारिक प्रलोभनो को ही जीतना है उन पर से ममता हटने पर ही हम ससार को जीत सकेंगे। एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी कहा है —

'Every moment of resistance to temptation is a victory"

—प्रलोभन के अवरोध का प्रत्येक क्षण विजय है। —फेवर

अगर व्यक्ति सासारिक पदार्थों से ममत्व नही हटाएगा तो वह कदापि आत्म साधना के मार्ग पर नही चल सकेगा। क्योंकि इस मायामय ससार मे कदम-कदम पर प्रलोभन के काँटे बिछे हुए हैं और उनमे उलझ-उलझ कर राही या तो भटक जाएगा अथवा निराश होकर अपना मार्ग छोड बैठेगा।

एक कवि ने यही बात कही है —

सभल सभल कर चलना रे जग मे।
कटक बिछे पड़े पग-पग मे॥

कहते है—अरे चेतन! अगर तू अपनी आत्मा को शुद्ध, बुद्ध और अरिहत बनाना चाहता है तो बहुत सोच-विचार कर तथा सभल सभल कर चल। त्याग और तपस्यामय इस आत्मसाधना के मार्ग मे समस्त सासारिक सुख रूपी काँटे जो कि आगे चलकर असह्य पीडा पहुँचाने वाले होते हैं, बिछे हुए हैं। अत बहुत सोच विचारकर तथा सजग होकर इस पर चल। अन्यथा अगर ये चुभ गए तो जन्म-जन्मान्तर तक पाप कर्म बनकर आत्मा मे चुभते रहेंगे। इस स्थूल पृथ्वी पर कुछ देर चलने के लिये भी कहा गया है।—

"उपानत् मुखभंगो वा, दूरतो वा विवर्जनम्।"

उपानत् कहते है जूती को। भूमि पर चलने के लिये आप या तो जूती पहनकर अपने पैरो की रक्षा कर सकते है, अथवा काँटो भरा मार्ग छोड़कर अन्य रास्ते पर गमन करके भी अपने पैरो का बचाव कर सकते हैं।

तो मोक्ष प्राप्ति के लिये भी इसी प्रकार सावधानी से चलना पडेगा। या तो घर मे रहकर सुख-भोग भोगते हुए भी उनके प्रति आसक्ति और

प्रलोभन रूपी कांटो से वचे रहना पडेगा अथवा इस मार्ग को छोडकर त्याग, तपस्या, नियम तथा इन्द्रिय-सयम रूपी साधना का मार्ग अपनाना होगा। इस मार्ग पर चलने से कांटो का भय नही रहेगा तथा प्रत्येक व्यक्ति निर्भय होकर अपने लक्ष्य की ओर बढ सकेगा।

हम साधुओ को यही मार्ग अपनाना पडता है। गौतमस्वामी भी ममस्त सासारिक भोग-रूप कांटो से वचने के लिये सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र से युक्त होकर इस मार्ग पर चल पडे थे। फिर भी भगवान ने उन्हे पुन-पुन आदेश दिया कि—हे गौतम ! प्रवुद्ध होकर सयम मार्ग पर चलो तथा पापों से वचते हुए गांव, नगर या वन मे जहाँ चाहो शाति से विचरण करो।

गांव और नगरो मे जो प्रवुद्ध व्यक्ति विचरण करता है वह स्वय तो शान्ति और सयमपूर्वक अपने आत्म-साधना के मार्ग पर चलता ही है, साथ ही सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्तियो को भी सही मार्ग सुझाता है तथा उन्हे समझा देता है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है।

प्रवुद्ध व्यक्ति अज्ञानियो को वता देता है कि ससार के प्रत्येक जीव की आत्मा मे समान शक्ति है और प्रत्येक मे परमात्मा वनने की क्षमता है। अलग से उसे मन्दिरो, मसजिदो, गिरजाघरो या अन्य धर्मस्थानो मे खोजना वृथा है। ये सव तो मार्ग हैं जो एक ही स्थान पर जिसे हम मोक्ष कहते हैं, पहुँचा सकते हैं। किसी शायर ने भी कितनी सुन्दर व सही वात कही है —

काबे जाना भी तो वुतखाने से होकर जाहिद।
दूर इस राह से अल्लाह का घर कुछ भी नहीं।

कहा है—अरे भक्त ! अगर कावा जाना हो तो जाओ, पर मन्दिर से होकर भी एक मार्ग उधर को ही जाता है। अल्लाह का घर वहाँ से भी दूर नही है।

तो वन्धुओ, आप समझ गए होंगे कि मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर या गुरुद्वारा कही से भी जाया जाय, उसमे कोई हर्ज नही है शर्त केवल यही है कि पाप कर्म रूपी कांटो से आत्मा को वचाते हुए चला जाय। अगर ऐसा नही किया जाएगा तो कोई भी मार्ग मजिल तक पहुँचाने मे समर्थ नही हो सकेगा। इसलिये अगर हमे अपनी मजिल को पाना है, अपनी आत्मा को परमात्मा वनाना है तो पग-पग पर विछे हुए इन कांटो को वचाकर समय मात्र का भी प्रमाद किये विना चलते रहना है। तभी हमारी लक्ष्य पूर्ति हो सकेगी।

२६
सुनकर हृदयगम करो
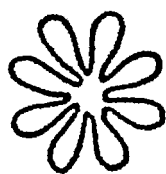
धर्मप्रेमी वन्धुओ, माताओ एव वहनो !

कई दिनो से हमारा विषय श्री उत्तराध्ययन सूत्र की उन गाथाओ को लेकर चल रहा है जिनमे भगवान महावीर ने अपने सबसे बडे शिष्य गौतम स्वामी को अमूल्य शिक्षाएँ प्रदान की हैं। इससे यह सावित नही होता है कि गौतम अज्ञानी थे या वे उन बातो को जानते नही थे, किन्तु बडो का फर्ज ही यह होता है कि वे छोटो को सदा सावधान और सतर्क करते रहे। आप जानते ही हैं कि आपका पुत्र पढने के लिये विदेश जाता है और विदेश जाने वाला स्वय ही समझदार तथा होशियार होता है। फिर भी आप लोग ट्रेन मे बैठते-बैठते भी उसे कहते हैं रास्ते मे सावधानी से रहना, खाने-पीने का ध्यान रखना, फिजूल खर्च मत करना और किसी बुरे व्यक्ति की सगति मत करना, आदि आदि।

इसीप्रकार भगवान ने अपने चौदहपूर्व का ज्ञान रखने वाले शिष्य गौतम को भी पुन पुन आत्म-कल्याणकारी शिक्षाएँ दी हैं जिनमे से कुछ के विषय मे हम कई दिनो से जानते आ रहे हैं। आज हम इस शास्त्र के दसवें अध्याय की अन्तिम गाथा को देखेंगे जिसमे रचयिता ने स्वय अपना मतव्य प्रगट किया है। कहा है —

बुद्धस्स निसम्म भासियं,
सुकहियमट्ठ पओवसोहिय
रागं दोसं च छिंदिया
सिद्धिगइ गए गोयमे।
त्ति वेमि।

—उत्तराध्ययन सूत्र १०—३७

कहा है—"सुन्दर अर्थ एव पदो से सुशोभित—बुद्ध (तत्त्वज्ञ) भगवान

महावीर स्वामी की उत्तमोत्तम शिक्षाओ मे निहित तत्वो का गौतम स्वामी पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे सम्पूर्ण राग और द्वेष का नाश करके सिद्धि को प्राप्त हो गए यही मैं कह रहा हूँ।"

इस गाथा मे सर्वप्रथम बुद्ध शब्द आया है। इस शब्द का अर्थ आपको बौद्ध धर्म के प्रचारक बुद्ध से नही, अपितु भगवान महावीर से ही लेना है। बुद्ध किसे कहते है और महावीर के लिये इसका प्रयोग क्यो किया गया है इस विषय मे कहा है—

"बुद्धस्य-केवलालोकावलोकित समस्त वस्तुतत्वस्य प्रक्रमाच्छ्रीमन्-महावीरस्य।"

अर्थात्—जिसने केवल ज्ञान के द्वारा समस्त लोक के पदार्थों को जान लिया है वह बुद्ध होता है अत भगवान महावीर के लिये ही बुद्ध विशेषण आया है।

भगवान महावीर का दिया हुआ सदुपदेश अगर मुमुक्षु ग्रहण करे तो वह निश्चय ही परम शान्त और किसी भी प्रकार के दु ख से रहित अनन्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। पर ग्रहण करना ही तो महा कठिन है। वीतराग के वचनो को इस कान से सुनकर इस कान से निकाल दिया जाय तो उन्हे सुनने से क्या लाभ हो सकता है? लाभ तभी हासिल हो सकता है जब कि शास्त्रो की वाणी को कान से सुनकर हृदय मे उतारी जाय। अन्यथा सुना नही सुना सम न है, लाभ कुछ नही। आप कहेगे—"हमने गँवाया क्या?" अरे भाई! सर्वप्रथम तो आपने वर्तमान समय ही गँवाया और आचरण नही किया तो भविष्य के लिये कुछ इकट्ठा नही किया। फिर दोनो ही तरफ से गये या नही? किसी बात को सुनकर हृदयगम करने से कितना लाभ होता है और व्यक्ति का कितना महत्व बढ जाता है यह एक उदाहरण मे स्पष्ट हो जाता है। आपने भी उसे समय-समय पर सुना ही होगा।

लाख रुपये की मूर्ति

एक शिल्पकार तीन मूर्तियाँ बनाकर किसी राजा के दरबार मे लाया। मूर्तियाँ तीनो ही अत्यन्त सुन्दर थी और देखने मे हूबहू एक ही जैसी दिखाई देती थी। राजा को वे बडी पसन्द आई और उन्होने कलाकार से उनका मूल्य पूछा।

कलाकार ने एक-एक मूर्ति की ओर इगित करते हुए उत्तर दिया—

"महाराज ! इस मूर्ति का मूल्य एक कौडी है, इसका एक रुपया और इस तीसरी का मूल्य एक लाख रुपया है।

राजा कलाकार की बात सुनकर दग रह गए और आँखे फाड-फाडकर पुन उन मूर्तियो की ओर बारी-बारी से देखने लगे। बहुत ध्यान से देखने पर भी उन्हे उनमे कोई अन्तर दिखाई नही दिया। एक-सा रग, एक-सा रूप, एक-सी बनावट और एकसी नक्काशी उन्हे तीनो मे दिखाई दे रही थी। सोचने लगे आखिर एक कोडी, एक रुपया और एक लाख रुपये जैसा अन्तर इन समान मूर्तियो मे किस प्रकार है ? जब उनकी समझ मे किसी भी तरह यह अन्तर नही मालूम हुआ तो कलाकार से ही यह फर्क बताने के लिये कहा।

कलाकार ने कहा– "महाराज ! एक डोरा मँगवा दीजिये, मैं अभी आपको इनमे रहा हुआ अन्तर बताए देता हूँ।" इशारा करते ही डोरा आ गया। अब कलाकार ने तीनों सुन्दर मूर्तियाँ राजा के सामने रखी और एक मूर्ति के कान मे डोरा डाला। डोरे का अगला हिस्सा मूर्ति के दूसरे कान मे से निकल गया। यह दिखाकर कलाकार बोला—महाराज ! यह मूर्ति केवल एक कौडी के मूल्य की है। वह इस प्रकार कि यह मूर्ति उस व्यक्ति के समान है जो हित शिक्षा या सदुपदेश को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देता है।

अब दूसरी मूर्ति की परीक्षा करने की बारी आई। कलाकार ने उस मूर्ति के कान मे भी डोरा डाला। उस दूसरी मूर्ति के कान मे डाला हुआ डोरा मूर्ति के मुँह से बाहर निकला। यह दिखाकर शिल्पी बोला—महाराज ! यह मूर्ति एक रुपये के कीमत की है, क्योकि यह ऐसे मनुष्यो का प्रतिनिधित्व करती है जो उत्तम बातो को सुनकर दूसरे कान मे तो नही निकालते पर जबान से कहकर भूल जाते है। राजा मूर्तियो के गुण जानकर चकित और प्रसन्न हो रहे थे। अब उनकी उत्सुकता तीसरी मूर्ति का गुण जानने मे बढी कि इस एक लाख रुपये के मूल्य की मूर्ति मे ऐसा कौनसा गुण है ? उन्होंने कलाकार से शीघ्रतापूर्वक उस मूर्ति का गुण बताने के लिये कहा।

शिल्पकार ने पुन डोरा उठाया और तीसरे नम्बर की मूर्ति के कान मे डाला राजा और समस्त दरबारी बडी व्यग्रता के साथ मूर्ति पर दृष्टि गडाए हुए थे कि क्या रहस्य अब सामने आनेवाला है ? सबने देखा—कलाकार के द्वारा मूर्ति के कान मे डाले हुए डोरे का मुँह कही से भी बाहर नही निकला। राजा ने इसका कारण पूछा।

कलाकार ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—महाराज! इस मूर्ति के कान में डाला हुआ डोरा न कान से बाहर निकलता है और न मुँह से। यह सीधा इसके पेट में उतर गया है। इसीलिये इसका मूल्य एक लाख रुपया है। यह मूर्ति बताती है कि अगर मनुष्य सुने हुए उपदेशों को, महापुरुषों की शिक्षाओं को और शास्त्रों के वचनों को कान से सुनकर हृदय में उतार ले तो अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर मोक्ष को पा सकता है। ऐसा गुण रखने वाला व्यक्ति ही लाख रुपये का या मारवाडी भाषा मे 'लाखीणा' पुरुष कहलाता है।

संस्कृत भाषा मे भी वीतराग-वाणी को हृदय मे धारण करने वाले तथा उन पर चिन्तन-मनन करने वाले व्यक्ति को ही आँख वाला कहते हैं। श्लोक इस प्रकार है—

चक्षुष्मंतस्त एव, ये श्रुतज्ञान चक्षुषा।
सम्यक् सदैव पश्यंति, भावान् हेयेतरान्नराः॥

कहते हैं—आँख अलग है और आँखवाले अलग हैं। गाडी अलग है और गाडी वाला अलग है। अपने पास आँख हैं पर उसका उपयोग नहीं किया जाय तो आँख के होने से क्या लाभ है? आँख होकर भी अगर व्यक्ति आँख मूँदकर चले तथा रास्ते मे ठोकरें खाता जाय तो उसे आप मूर्ख ही कहेंगे।

कवि ने श्लोक मे आँख को श्रुत ज्ञान की उपमा दी है। श्रुत ज्ञान रूपी आँख खुली होने पर व्यक्ति भली-भाँति जान सकता है कि शास्त्र क्या कहते हैं? सम्यक दर्शन, ज्ञान और चरित्र क्या है तथा वे किस प्रकार आत्मा को उन्नत और निष्पाप बनाते हैं? मनुष्य के लिये हेय, ज्ञेय तथा उपादेय अर्थात छोडने, जानने और ग्रहण करने लायक क्या है? श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु से ही मानव विषय-विकारो से अर्जित होनेवाले पापो का तथा सत्य, अहिंसा अचौर्य आदि सद्गुणो से होने वाले लाभो का ज्ञान कर सकता है।

हितोपदेश मे कहा गया है :—

सर्वस्य लोचन शास्त्रं यस्य नास्त्यंघ एव स।

शास्त्र सबके लिये नेत्र के समान है। जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं वह अन्धा है।

वस्तुत शास्त्रों का ज्ञान किये बिना नहीं जाना जा सकता कि श्रावक के कर्तव्य क्या हैं और साधुओं के क्या हैं? वीतरागो की वाणी स्पष्टतः दोनों

के अपने-अपने कर्तव्य और अपनी-अपनी चर्चा के विषय मे बताती है किन्तु अगर श्रावक उसके अनुसार न चले तो उनकी भूल है और साधु भी अपनी चर्या का शास्त्रानुसार पालन न करे तो उनकी महा भयकर गलती है। भगवान किसी को भी राखी नही बाँधते अर्थात् वे किसी का भी पक्षपात नही करते। श्रावक हो या साधु सब अपनी-अपनी करनी का ही फल प्राप्त करते हैं। 'जो जैसा करेगा वैसा ही भरेगा' यह कहावत यथार्थ है। न उत्तम और शुभ करनी के बिना श्रावक का कल्याण होगा और न ही उपयुक्त करनी के बिना साधु का ही उद्धार हो सकेगा।

इसलिये शास्त्र-श्रवण करके उसे हृदयगम करना तथा आचरणो मे उतारना अनिवार्य है। अन्यथा सुनना, नही सुनना बराबर है। जिस प्रकार आँख होते हुए भी बिना उनका उपयोग किये अन्धे के समान चलना। जो श्रुतज्ञान रूपी आँख को पाकर भी उसका सदुपयोग नही करते उनकी आत्मा उन्नत होने के बजाय पतन की ओर ही अग्रसर होती है।

एक सुभाषित मे पतन के तीन कारण बताए गए हैं। कहा है—

> विहितस्याननुष्ठाना-न्निन्दितस्य च सेवनात्।
> अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां, नर पतनमृच्छति ॥

पतन के तीन कारणो मे से पहला कारण है विहित यानी जो कहा गया है। ससार के प्रत्येक क्षेत्र मे अपने-अपने नियम होते है। आपके समाज मे कुछ सामाजिक नियम होते हैं, जिनका पालन न करने पर आप समाज से बहिष्कृत किये जा सकते हैं। राजनीति के भी अनेकानेक नियम होते हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति को पालन करना पडता है। अगर राज्य के नियमो के विरुद्ध कोई कार्य करता है तो वह अपराध माना जाता है तथा राज्य उसे सजा दिया करता है।

आपके बीच मे एस० डी० एम० साहब बैठे है इन्होने सरकार को अपनी अमूल्य सेवाएँ दी हैं। अब तो उन कार्यो मे रिटायर हो गए हैं। लेकिन अपने कार्य-काल मे अगर आप राजनीति के अनुसार नही चलते, उनका यथाविधि पालन नही करते तो इस ऊँचे पद पर कैसे पहुँचते? कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति राज्य के नियमो का पालन नही करता उसकी आत्मा पतन की ओर बढती है तथा वह नाना प्रकार के गैर-कानूनी कार्य करके कैद खाने मे सडता है।

समाजनीति और राजनीति के अनुसार ही धर्मनीति के भी अनेक नियम

हैं जिनका श्रावको और साधुओ को पालन करना चाहिए । पर आमतौर, पर हम देखते हैं कि ऐसा होता नही है । धर्मनीति का अथवा धर्म के नियमो का पालन करने मे व्यक्ति उपेक्षा और प्रमाद करता है ।

इसका सबसे बडा कारण यही है कि समाज के और राज्य के नियमो का पालन न करने पर आपको उसकी सजा प्रत्यक्ष रूप से भोगनी पडती है और धर्म के नियमो के पालन न करने पर प्रत्यक्ष रूप मे कोई फल नही भोगना पडता । पर बधुओ, यह याद रखो कि समाज और राज्य के नियम तोडने पर तो आपको केवल इस जन्म मे ही सजा भोगकर छुटकारा मिल जाता है । पर धर्म के नियमो का पालन न करने पर उनके लिए अनेक जन्मो तक सजा भोगनी पडती है । सत्य बोलना, अहिसा का पालन करना, चोरी न करना, तथा दान, शील, तप व भाव की आराधना न करना धर्म के नियमो का तोडना ही कहलाता है जिनके कारण ऐसे पाप कर्म बँध जाते हैं जो जन्म-जन्मान्तर तक भी आत्मा को सजा देते रहते है तथा उसे इस ससार की चौरासी लाख योनियो मे पुन-पुन जन्म-मरण कराया करते हैं । इसीलिए श्लोक मे कहा गया है कि विहित नियमो का पालन न करने पर आत्मा का पतन होता है ।

पतन का दूसरा कारण सुभाषित मे कहा गया है—निंदित कार्यों का करना । जिन कार्यों की निन्दा की गई है, तिरस्कार किया गया है उनका सेवन करने से भी आदमी पतित होता है । प्रश्न होता है कि वे निंदित कार्य व आचरण कौन-कौन से है जिनकी शास्त्रो मे निंदा की गई है । उत्तर मे कहा जा सकता है—क्रोध, मान, माया, लोभ तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि निंदनीय विकार हैं । जिनका नाश करना आवश्यक है अन्यथा ये आत्मा को कभी भी कर्म-मुक्त नही होने देंगे । कहा भी है —

कोह च माण च तहेव माय,
लोभ चउत्थ अज्झत्तदोसा ।
ऐयाणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥

भगवान ने इन चार कषायो का वमन किया है, छोड दिया है तभी वे वदनीय बने । अन्यथा वे भी हमारे समान ही साधारण व्यक्ति थे । किन्तु कषायो का त्याग करने से उनके घनघाती कर्म नष्ट हो गये ।

अभी मैंने कहा कि भगवान् ने चारो कषायो का वमन किया । वमन के

स्थान पर त्याग करना भी कहा जा सकता है। पर त्याग करने की वजाय वमन करना यह कहना अधिक उपयुक्त है। क्योकि छोडी हुई या त्याग की हुई वस्तु तो पुन ग्रहण की भी जा सकती जिस प्रकार नदीपेण मुनि ने मुनि धर्म त्यागकर वारह वर्ष तक एक वेश्या के यहाँ निवास किया था।

शास्त्रो मे उल्लेख है कि जिस समय नदीपेण ने दीक्षा ग्रहण की उस समय आकाशवाणी हुई थी कि अभी तुम्हारे भोगावली वाकी है। किन्तु नदिपेण ने नही माना और सयम अगीकार कर लिया।

सयमी वनने के पश्चात् एक वार वे विचरण करते हुए वेश्याओ के मुहल्ले मे जा पहुँचे। ऊपर की ओर देखा तो दिखाई दिया कि झरोखो मे से दो वेश्याएँ झाँक रही है। एक ने मुनि से कहा—"मुनि जी, आप इधर आए तो है किन्तु कुछ धन भी आपके पास है या नही?"

इतने मे दूसरी वोल पडी—"इनके पास धन कहाँ पडा है? देखती नही है स्वय ही तो झोली मे काठ के वर्तन लेकर भिक्षा माँगते हुए फिर रहे हैं।"

नदिपेण मुनि ने यह वात सुनी तो उन्हे क्रोध आ गया और उसी समय अपनी लब्धि का प्रयोग करके उन्होंने वारह करोड सोनैयो की वर्षा वेश्या के आँगन मे करवादी। तथा उन्हे लेने के लिए वेश्या को कह दिया।

किन्तु वेश्या वोली—"महाराज मैं मुफ्त का पैसा नही ले सकती। अगर आपको मुझे इन्हें देना है तो आपको मेरे यहाँ रहना पडेगा।" और मुनि नदिपेण को वहाँ रहना पडा। किन्तु इतने पर भी उनका नियम था कि वे प्रतिदिन दस व्यक्तियो को प्रतिवोध देने के पश्चात् ही अपने मुँह मे अन्न व जल डालते थे।

धीरे-धीरे नदिपेण को वेश्या के यहाँ रहते हुए वारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन वे नौ व्यक्तियो को ही प्रतिवोध दे पाए थे कि दिन वहुत चढ गया और वे भोजन नही कर पाए क्योकि दसवाँ व्यक्ति उन्हे प्रतिवोध देने के लिये मिला ही नही।

यह देखकर वेश्या जो कि यह समझने लगी थी कि अव ये मुझे छोडकर कहाँ जा सकते हैं, ताना देती हुई वोली—मुनि जी! प्रतिवोध देने के लिये दसवाँ कोई अन्य व्यक्ति नही मिलता तो तुम स्वय ही दसवें क्यो नही वन जाते? वेश्या का यह कहना ही था कि नदिपेण उसी क्षण उठ खड़े हुए और यह कहते हुए चल दिये—"हाँ, यही वात ठीक है।"

कहने का आशय यही है कि त्यागे हुए पदार्थों को तो फिर ग्रहण किया जा सकता है किन्तु उत्तम से उत्तम पदार्थ का भी वमन करने के पश्चात् उसे कोई ग्रहण नही करता। भगवान के लिये इसीलिये कहा गया है कि उन्होने चारो कषायो का जो कि निंदनीय है, वमन कर दिया था। और वमन कर देने के पश्चात कदापि उनका सेवन नही किया अत वे ससार-सागर को पार कर गए।

पतन का तीसरा कारण बताया है—इन्द्रियो के विषय मे आसक्त रहना। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त नही कर पाता है उसका नाना प्रकार से पतन होता है जो अनन्त वेदनाओ का कारण बनता है। कहा भी है —

"आपदाम् प्रथित. पथा इन्द्रियाणामसयमः।"

—इन्द्रियो का असयम अर्थात् विषयो का सेवन ही आपत्तियो के आने का मार्ग कहा गया है।

आज के युग मे लोग कुछ तो समय के प्रभाव से और कुछ पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा के प्रभाव से विलासिता की ओर बढते जा रहे हैं। वे अधिक से अधिक भोग-विलास कर लेने मे ही जीवन की सार्थकता मानते है। हमारे भारत की प्राचीन सस्कृति और विचारधारा की ओर उनकी उपेक्षा है, उसे हेय कहने मे भी वे नही चूकते। इसका कारण यही है कि उन्हे सच्चे आनन्द की परिभाषा ही मालूम नही है।

महात्मा गाँधी का कथन है —

"सुख-दुख देने वाली बाहरी चीजो पर आनन्द का आधार नही है। आनन्द सुख से भिन्न वस्तु है। मुझे धन मिले और मैं उसमे सुख मानूं यह मोह है। मैं भिखारी होऊँ, खाने का दुख हो, फिर भी मेरे इस चोरी या किन्ही दूसरे प्रलोभनो मे न पडने मे जो बात मौजूद है वह मुझे आनन्द प्रदान करती है।"

गाँधी जी के कथन से स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख, सुख नही अपितु सुखाभास मात्र है। आनन्द का सच्चा स्रोत तो अपने अन्दर ही है अत उसे अन्दर से ही खोज कर निकालना होगा। आध्यात्मिकता का परित्याग करके कोरी भौतिकता का आश्रय लेने पर आनन्द की प्राप्ति होना कदापि समव नही है।

इस ससार मे सदा से दो प्रकार की भावनाएँ मनुष्यो के अन्दर रहती आ रही हैं। एक को हम आसुरी भावनाएँ कहते हैं और दूसरी को दैवी। जो व्यक्ति सासारिक सफलताओ की प्राप्ति मे अर्थात् इन्द्रिय सुखो के सम्पूर्ण साधन जुटा लेने मे और उनका भोग करने मे ही प्रयत्नशील रहते हैं, धन सम्मान और पदवियो के अभिलाषी बने रहते हैं वे अपने इन भौतिक प्रयासो के कारण आत्मा और आत्मा के लाभ को सर्वथा भुला बैठते है। उन्हे हम आसुरी भावनाओ के स्वामी कह सकते हैं।

वे भूल जाते हैं कि हम चाहे जितने भोग भोगें मगर उनका अन्त न कभी आया है और न ही आएगा किन्तु हमारी उम्र इस तृष्णा का गड्ढा भरते-भरते ही पूरी हो जाएगी। अथात् हम भोगो को शान्त नही पायेंगे और ये भोग शरीर व इन्द्रियो के नष्ट होते ही हमे छोड देंगे।

मुस्लिम शायर जोक ने कहा है —

> **दुनिया से जौक रिश्तये-उल्फत को तोड दे।**
> **जिस सर का ये वाल उसी सर में जोड दे॥**
> **पर जौक नहीं छोडेगा इस पीरा जाल को।**
> **यह पीरा जाल गर तुझे चाहे तो छोड दे॥**

कवि का कहना है कि मनुष्य को चाहिए तो यह कि वह ससार के प्रति मोह को समाप्त कर दे तथा यह आत्मा जिस परमात्मा का अश है उसी मे उसे मिलादे किन्तु जौक का कथन है कि लोग दुनिया को नही छोडते चाहे दुनिया ही उन्हे निकम्मा करके त्याग देती है। और अपनी इस आसुरीवृत्ति के कारण वे ऐसे निविड पाप कर्मों का वधन कर लेते हैं कि सच्चे आनन्द का अनन्तकाल तक भी अनुभव नही कर पाते।

किन्तु दैवी भावनाएँ रखने वाले भव्य पुरुष महापुरुपो के उपदेश सुनकर तथा शास्त्र श्रवण करके अपने आत्मा की पहचान कर लेते हैं तथा उसमे रहे हुए सद्‌गुणो को एव उसमे रही हुई अनन्तशक्ति व चमत्कारिक कलाओ को जगा लेते है। भगवान के उपदेशो को सुनकर वे सचेत हो जाते हैं और दैवी भावनाओ के स्वामी वनकर जान लेते हैं कि इन समस्त भौतिक सुखो से परे भी कोई सुख व आनन्द है जिसकी तुलना मे ससार के सम्पूर्ण सुख तुच्छ हैं। वे धीर वीर और सयमी पुरुष जीवन के रहस्य, उसके लाभ और उसकी अद्‌भुत शक्ति को जानकर आशा और तृष्णा पर सदैव के लिए विजय प्राप्त कर लेते हैं। ससार के प्रति मोह को त्याग कर आत्मा से नाता जोडते हैं।

वे महापुरुष स्वय तो जागृत हो ही जाते हैं, ससार के अन्य प्राणियो को भी जगाने के लिए कहते हैं—

तस्मादनन्तमजर परम विकासी।
तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पै ॥
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य—
भोगादय' कृपण लोकमता भवन्ति ॥

—भर्तृहरि

कहते है—हे प्राणियो ! तुम तो अजर, अमर अविनाशी एव शान्तिपूर्ण परब्रह्म परमात्मा का ध्यान करो। ससार के मिथ्या जजालो मे कुछ भी नही है। ये सब अनित्य और असार है अत उस अभूतपूर्व परमानन्द की प्राप्ति का प्रयत्न करो जिसके समक्ष पृथ्वी पति महाराजाओ का आनन्द भी सर्वथा तुच्छ दिखाई देता है।

मतलब यही है कि ससार के भोग-विलासो मे तनिक भी आनन्द नही है, उनमे तुम जो आनन्द मानते हो वह क्षणिक है। सच्चा आनन्द कही वाहर प्राप्त नही हो सकता वह तो अपनी आत्मा से ही प्राप्त हो सकता है।

महात्मा कवीर ने भी कहा है —

ज्यो नयनन मे पूतली, त्यो मालिक घट माहि।
मूरख नर जाने नहीं, बाहर ढूंढ़न जाहिं ॥
कस्तूरी कुण्डल वसे मृग ढूढ़े वन माहिं।
ऐसे घट-घट ब्रह्म है, दुनिया जाने नाहिं ॥

जिस प्रकार आंखो मे पुतलियाँ हैं, उसी तरह हृदय मे परमात्मा है किन्तु मूर्ख व्यक्ति उसे ढूंढने के लिए वाहर भागते फिरते हैं।

दूसरा उदाहरण मृग का दिया गया है। कहा है–कस्तूरी हिरण की अपनी नाभि मे ही होती है किन्तु वह उसे खोजने के लिए वन-वन मे भटकता है।

आशय कहने का यही है कि सच्चा आनन्द एव मोक्ष प्राप्ति का स्थान तो मानव की अपनी आत्मा ही है पर दुर्वुद्धि के कारण वह उस आनन्द को ससार के भोगो मे पाना चाहता है और कुछ व्यक्ति अगर भोगो से विरक्त हो जाते हैं तो साधु सन्यासी का भेष धारण करके मन्दिर मस्जिद, गुरुद्वारा आदि स्थानो मे या तीर्थ स्थानो मे भगवान को खोजते फिरते हैं। दोनो ही

प्रकार के व्यक्ति अज्ञान मे रहते है। न उन्हे आनन्द ही प्राप्त हो पाता है और न भगवान ही। इसका कारण कवि सुन्दरदास जी वताते है —

कोउक जात प्रयाग बनारस कोउ गया जगन्नाथहि धावै।
कोउ मथुरा बदरी हरिद्वार सु कोउ गगा कुरुक्षेत्र नहावै॥
कोउक पुष्कर ह्वै पच तीरथ दौरहि दौरिजु द्वारिका आवै।
सुन्दर वित्त गड्यो घर मांहि सु बाहर ढूंढ़त क्यो करि पावै॥

सरल और सीधी-साधी भाषा मे कवि ने कितनी रहस्यपूर्ण वात कह दी है कि जिस प्रकार घर मे गडा हुआ धन बाहर ढूंढने से नही मिल सकता, उसी प्रकार जो परमात्मा अपनी आत्मा मे ही निहित है वह प्रयाग, काशी, गया, पुरी, मथुरा, कुरुक्षेत्र और पुष्कर आदि तीर्थों मे कैसे मिल सकता है ?

तो वन्धुओ, मैं आपको यह वता रहा था कि जो ज्ञानी पुरुप होते हैं उनके हृदय का नाता अविच्छिन्न रूप से प्रभु से जुडा रहता है। उनका चित्त दुनियादारी की झझटो से मुक्त और निर्मल भावनाएँ शुद्ध और क्रियाएँ निष्कपट होती हैं। प्राणी मात्र के प्रति उनकी अपार करुणा और स्नेह की भावना होती है। उनके श्रुत, ज्ञान-रूपी, नेत्र सदा खुले रहते हैं और इसी-लिए वे कभी कोई निंदित कर्म नही करते और अपनी आत्मा को पतन के रास्ते पर नही जाने देते। वे भली-भांति जान लेते हैं कि कर्म-वन्धनो के मूल कारण राग और द्वेप ही हैं, जब तक इन्हे नही जीत लिया जाता, स्वर्ग और मुक्ति की कामना निरर्थक है।

साधारण पुरुपो की तो वात ही क्या है भगवान महावीर के शिष्य स्वय गौतमस्वामी को भी भगवान के प्रति जब तक राग भाव रहा, वे केवल ज्ञान की प्राप्ति नही कर सके। यद्यपि उनका भगवान के प्रति प्रशस्त राग था। देव, गुरु और धर्म के प्रति जो राग होता है वह प्रशस्त कहलाता है तथा ससार के अन्य पदार्थों के प्रति रहा हुआ राग अप्रशस्त की कोटि मे आता है।

तो अपने गुरु के प्रति भी गौतम स्वामी का प्रशस्त राग था किन्तु उसके कारण भी उन्हे केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकी। कई वार इसके लिए उनके मन मे वडा ख्याल आया और—

एक दिन गौतम मन चितवे जी,
मने क्यो न उपजे केवल ज्ञान ?
खेद पाम्या प्रभु देखने,
वुलाया श्री वर्धमान जी।

अर्थात् एक दिन गौतम स्वामी वडे दु ख पूर्वक विचार करने लगे कि मेरे अनेक गुरु भाई केवल ज्ञान की प्राप्ति करते जा रहे हैं किन्तु मुझे वह क्यो नही प्राप्त होता ?

उनकी इस विचारधारा को सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया और उन्हें अपने समीप बुलाकर परम स्नेह से कहा—

थारे ने म्हारे गोयमा, घणा काल नी प्रीत।
आगे ही आपाँ भेला रह्या, वलि लोड वडाई नी रीत जी।
मोह कर्म ने लीजो जीत जी, केवल आडी छे याही भीत जी।

क्या कहा भगवान ने ? कहा था—हे गौतम ! तुम्हारा और मेरा वहुत समय यानी वहुत जन्मो से स्नेह चला आ रहा है। वडे छोटे वनते हुए इसी प्रकार हम पहले भी साथ रहे है। पर अव तुम मेरे प्रति रहे हुए मोह को जीतो। क्योकि तुम्हे केवलज्ञान प्राप्त होने मे मात्र यही एक रुकावट है।

इसीप्रकार मस्तक पर मडराता हुआ केवलज्ञान गौतमस्वामी को प्राप्त नही हो सका था, जव तक उनका भगवान के प्रति प्रशस्त या विशुद्ध राग रहा। जब उनका चिन्तन इसके विपरीत चला और उन्होने विचारा कि आत्मा का कोई नही है सव अपने-अपने कर्मो का फल भोगते हैं किसी पर भी राग रखना निरर्थक है, तो क्षण भर मे उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। राग दशा से ऊपर आते ही उनके लक्ष्य की पूर्ति हुई और सिद्ध वने।

तो हमारा विषय आज यही चल रहा है कि हमे वीतराग के वचनो पर विश्वास करना चाहिए तथा उन्हे हृदयगम करते हुए आचरण मे उतारना चाहिए। अगर हमारे श्रुतज्ञान रूपी चक्षु उघडे रहेंगे तो हमारा मन कभी भी निन्दित कर्मो को करके कर्मों का वन्धन नही करेगा। उलटे प्रतिक्षण यह विचार करेगा कि जीवन के अमूल्य क्षण एक-एक करते निकले जा रहे हैं और जीवन का कुछ भी लाभ नही मिल पा रहा है। ऐसी ही विचारधारा वाले किसी कवि ने कहा है—

वे ही निसि वे ही दिवस, वे ही तिथि वे बार।
वे उद्यम वे ही क्रिया, वे ही विषय विकार॥
वे ही विषय विकार, सुनत देखत अरु सूँघत।
वे ही भोजन भोग जागि सोवत अरु ऊँघत॥
महा निलज यह जीव, भोग मे भयौ विदेही।
अजहूँ पलटत नाहि, कढ़त गुण वे के वे ही॥

कवि ने अपनी कुण्डलिया मे मन के सच्चे पश्चाताप का कितना सुन्दर चित्र खीचा है ? कहा है—पूर्व की तरह ही दिन, रात, तिथि, वार, नक्षत्र मास, और वर्ष आते है तथा जाते हैं। उसी तरह हम खाते-पीते सोते-जागते तथा काम-धन्धे करते है। कोई भी परिवर्तन दिखाई नही देता। जिन निरर्थक कार्यों को पहले करते थे अव भी उन्हे ही वारम्वार किये जा रहे हैं। यद्यपि हम देखते हैं कि इन्हे करने से भी हमारी इन्द्रियो की कभी तृप्ति नही हो पाती, हमारी लालसा कभी समाप्त नही होती फिर भी महान आश्चर्य है कि हम इस असार और मिथ्या ससार से मोह नही त्यागते।

वन्धुओ, जो व्यक्ति ऐसा सोचते हैं वे शनै-शनै अवश्य ही अपने आपको वदल लेते हैं। उनका पश्चाताप निरर्थक नही जाता और सुवह का भूला हुआ जिस प्रकार शाम को घर आ जाता है, उसी प्रकार वे भी अपने आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेते है। चाहिए मनुष्य मे आत्म-कल्याण की सच्ची लगन और सच्चा पुरुषार्थ। इन दोनो के सहारे वे अनन्त कर्मों की निर्जरा करके भी अन्त मे मुक्ति प्राप्त करने मे सफल हो जाते हैं। ●
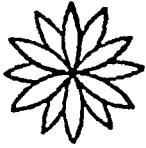
२७
जीवन को नियत्रण में रखो

धर्मप्रेमी वधुओ माताओ एव वहनो !

भगवान महावीर ने मनुष्य जीवन को सार्थक करने के दो कारण वताए हैं। एक श्रावकधर्म और दूसरा साधुधर्म।

यहाँ एक वात आपको ध्यान मे रखनी चाहिए कि श्रावकधर्म और गृहस्थधर्म मे वडा भारी अन्तर है। कहने मे हम आप सभी को श्रावक कहते हैं, किन्तु वास्तव मे आप सव श्रावक नही कहला सकते। श्रावक आप तभी कहला सकते हैं, जव कि श्रावक धर्म के लिए वनाए हुए नियम या व्रत अगीकार करें। जव तक व्रत अगीकार नही किये जाते और अगीकार कर लेने पर उनका पालन नही किया जाता, तव तक अनेकानेक अनर्थ जीवन मे घटने की आशका वनी रहती है।

टेढ़ी खीर

आप सोचते होंगे कि श्रावक के व्रतो का पालन करना कौनसा कठिन काम है ? आखिर तो श्रावक भी हमारे जैसे गृहस्थ ही होते हैं। किन्तु ऐसा नही है, श्रावक धर्म का पालन करना भी टेढी खीर है। कभी-कभी तो ऐसे प्रसग आते हैं कि श्रावक को अपने प्राणो का वलिदान भी देना पडता है। सुदर्शन सेठ श्रावक थे किन्तु एकपत्नी व्रत के धारी होने के कारण उन्हे सूली की सजा दी गई थी। यह तो उनके धर्म का प्रभाव था कि सूली भी सिंहासन वन गई। अरणक भी श्रावक थे, पर देवता के द्वारा धर्म-त्याग का कहने पर भी उनके इन्कार करने से उन्हे जहाज समेत जल मे डूवने की नौवत आई। सती सुभद्रा भी श्राविका थी और उसके अपने धर्म और व्रतो का पूर्णतया पालन किये जाने से घर-घर मे गाई जाने वाली कलक की कहानी भी यश प्राप्ति का कारण वनी।

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रावकधर्म का फल तो प्राणी को महान्

यश और पुण्य के रूप मे मिलता ही है किन्तु उनका पालन करने मे कभी-कभी वडी विपत्तियाँ भी झेलनी पडती हैं।

जव तक आप व्रत ग्रहण नही करते आपको कही कोई दिक्कत महसूस नही होती और आप खुले रहते हैं, किन्तु व्रत ग्रहण करने के पश्चात् आपको मर्यादा मे रहना पडता है। रात्रि-भोजन का आप त्याग करते हैं तो समय पर खाना पडेगा। दिशा की मर्यादा की है तो उससे आगे नही जा सकते। धन की सीमा निश्चित कर ली है तो सीमा से अधिक नही रख सकते। अहिंसा सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का भी पालन करना होगा। इस प्रकार जितना त्याग किया जाय उसका पालन भी चाहे जितनी परेशानियाँ क्यो न सामने आएँ, करना तो पडेगा ही। व्रतो का ग्रहण करना अपने आपको एक सीमा मे वाँध लेना होता है जिसका आपको उल्लघन नही करना चाहिए। ऐसा करने पर ही आप सच्चे श्रावक कहला सकते है। और आपका जीवन मर्यादित सन्तुलित और सुन्दर वन सकता है। नदी जव तक अपने दोनों किनारो के वीच मे वहती है, तभी तक उसकी महत्ता है। अगर वह अपनी सीमा अर्थात् अपने किनारो को तोडकर वह निकलती है तो लोग उससे भयभीत होकर यत्र-तत्र भागने लगते हैं।

इसी प्रकार श्रावक धर्म का पालन करना भी सहज नही है काफी कठिनाइयो से भरा हुआ है किन्तु हमारा साधु धर्म तो और भी कडक है उसमे कोई सीमा या छूट नही है। पाँच महाव्रतो का पूर्णतया पालन करना पडता है।

आपको जानने की जिज्ञासा होगी कि यह सव तकलीफें और परीषह किसलिए सहन करना ? उत्तर यही है कि विना त्याग और तप के जीवन विशुद्ध नही वन सकता। त्याग के अभाव मे इन्द्रियाँ भोगो की ओर वेतहाशा दौडती हैं उन पर सयम नही रखा जा सकता। मनुष्य जीवन-भर भोगो को भोगकर भी तृप्त नही होता भले ही वृद्धावस्था क्यो न आ जाय।

इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है —

अवश्य यातारश्चिरतर मुषित्वाऽपि विषया।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥
व्रजन्त. स्वातन्त्र्यादतुल परितापाय मनस।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शम-सुखमनन्त विदधति॥

विषयो को हम चाहे जितने दिनो तक क्यो न भोगे, एक दिन वे निश्चय ही हमे छोडकर अलग हो जाएँगे। ऐसी स्थिति मे मनुष्य उन्हे स्वय अपनी

इच्छा से ही क्यो न छोड दे क्योकि इस जुदाई मे फर्क ही क्या है कि मनुष्य उन्हे नही छोडेगा तो वे मनुष्य को छोड देगे। और उस स्थिति मे उसे बडा दु ख और क्लेश होगा। पर अगर मनुष्य अपनी इच्छा से उन्हे छोड दे तो उसे इस जीवन मे सतोप और उसके वाद अनन्त सुख और शान्ति प्राप्त होगी।

वस्तुत जो लोग विपयो को स्वेच्छा से त्याग देते हैं उन्हे वडा आत्म-सतोप प्राप्त होता है। किन्तु जिन्हे जीवन के अन्त मे जवरन त्यागना होता है उनका अन्त अति विकलता से होता है। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानवान को समय रहते ही समस्त धन-दौलत और स्त्री पुत्रादि से मोह ममत्व को हटा लेना चाहिए। तथा इच्छा पूर्वक त्याग करने के पश्चात् पुन उन्हे ग्रहण करने की स्वप्न मे भी कामना नही करनी चाहिए। त्याग करके पुन ग्रहण करना और दान देकर भी पुन उसे लेना किसी वस्तु का वमन करके उसे फिर से ग्रहण करने के समान है। इसी कारण राजा इपुकार की रानी कमलावती ने राजा को प्रतिवोध देकर स्वय भी सयम मार्ग को अपनाया था।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौदहवें अध्याय मे इस पर विशद वर्णन है। सक्षेप मे कथा इस प्रकार है—भृगु पुरोहित उसकी पत्नी तथा उनके दो पुत्र इन चारो ने एक साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। भृगु राज्य पुरोहित थे अत उनके यहाँ अपार सम्पत्ति थी। जब चारो घर से निकल गए तो राज्य के नियमानुसार कि वारिस न होने पर धन राज्य कोष मे आता है, पुरोहित का धन गाडियो मे भरभरकर राजमहल की ओर आने लगा।

रानी कमलावती ने झरोखे से यह देखा तो राजा से पूछा—"यह धन कहाँ आ रहा है।"

राजा ने बताया—"भृगु पुरोहित ने सपरिवार दीक्षा ले ली है और उनके धन का अब कोई वारिस नही है अत यह सव राज्यकोष मे जमा किया जा रहा है।"

रानी को यह जानकर अत्यन्त दुख हुआ और उसने राजा इपुकार से कहा—

वंतासी पुरिसो राय, न सो होइ पससिओ।
माहणेण परिच्चत्त, धणं आयाउमिच्छसि॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-३८

अर्थात्—हे राजन्! वमन किये हुए को पुन खानेवाला कभी प्रशसा

का पात्र नही होता और आप तो ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं।

रानी के कहने का तात्पर्य यही था कि राज्य के पुरोहित का आपने ही तो समय-समय पर सकल्प करके विपुल दान दिया है और अव वे लोग दीक्षित हो गए तो क्या हुआ ? धन तो आपका दिया हुआ वही है। फिर आप कैसे इसे ग्रहण कर रहे हैं ? इसके अलावा एक वार आपने इसे त्यागा और अव ब्राह्मण ने इसे त्याग दिया तो यह तो दो वार वमन किया जा चुका है। अत आप जैसे महाराजा को ऐसा हेय पदार्थ कभी भी पुन स्वीकार नही करना चाहिए। ऐसा करने पर आप वान्ताशी कहलाएँगे और ससार मे प्रशसा के योग्य नही बनेंगे उलटे तिरस्कार के पात्र बन जाएँगे।

राजा इक्षुकार रानी की वात पर हँस पडते हैं तथा कहते—"रानी ! राज्यकार्य को तुम क्या जानो ? हम राजा हैं, ससार मे रहते हैं। और फिर पुरोहित जब घर मे रहते थे तव तक तो धन हमने लिया नही। अव तो वे उसे छोड ही गए हैं फिर उस अपार धन राशि से राज्यकोष क्यो न भरा जाय ?

रानी कमलावती के गले से यह बात नही उतरी। उसने पुन अपनी बात को दोहराते हुए राजा की तृष्णा को लक्ष्य करके कहा—

सव्वं जग जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्व पि ते अपज्जत्त, नेव ताणाय त तव ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-३६

क्या कहा रानी ने ? यही कि महाराज ! यदि सारा जगत आपका हो जाय, समस्त धनादि पदार्थ भी आपके हो जाय अर्थात् विश्व का सब कुछ आपका हो जाय तो भी वह आपकी तृष्णा को पूरा करने मे समर्थ नही हो पाएगा। उस पर भी यह सव मृत्यु आदि के कष्टो के समय तनिक भी सहायता नही करेगा न ही उससे रक्षा कर सकेगा। सव यों ही और यही पडा रह जाएगा।

राजा इषुकार को रानी की ऐसी वातो से वडी झुंझलाहट हुई और वे वोले—"जव तुम इतना ज्ञान रखती हो तो स्वय ही दीक्षा क्यो नही ले लेती ?"

पति की वात सुनकर कमलावती ने तुरन्त उत्तर दिया—"महाराज ! मैं तो ससार छोडने के लिए इसी क्षण तैयार हूँ। मेरी आत्मा तो पिंजरे मे पडे

हुए पक्षी के समान छटपटा ही रही है, केवल आपकी आज्ञा की ही देर है। किन्तु मैं यह चाहती हूँ—

इमे य बद्धा फन्दन्ति, मम हत्थज्जमागया।
वय च सत्ता कामेसु, भविस्सामो जहा इमे ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-४५

देवी कमलावती का कथन है—हे आर्य! मैं तो सयम ग्रहण करना चाहती ही हूँ पर साथ ही यह भी चाहती हूँ कि ये काम-भोग आदि जो नाना प्रकार से सुरक्षा करने पर भी अस्थिर हैं, पर हमारे हस्तगत हैं और जिनमे हम आसक्त हैं इन सब को जिस प्रकार भृगुपुरोहित छोडकर चले गए हैं, इसी प्रकार हम दोनो भी इनका परित्याग करके सयम मार्ग पर चलें।

रानी की शुद्ध व आतरिक भावना मे बडी शक्ति थी और इसीलिए उसने अनेक उदाहरण देते हुए राजा को वैराग्य की ओर प्रवृत्त कर लिया। परिणाम स्वरूप राजा इषुकार और रानी कमलावती दोनो ने ही सयम ग्रहण करके अपनी आत्मा का उद्धार किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्रतो को अगीकार करना तथा जीवन मे त्यागवृत्ति को अपनाना बडा कठिन है। ऐसा वे ही महापुरुष कर सकते हैं जो दैवी शक्ति से अलकृत होते हैं। जिनके हृदय मे वैर, विरोध, राग और द्वेष को स्थान नही होता, जो कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, धर्म, अधर्म, न्याय और अन्याय का विचार करते हैं और जो सम्पूर्ण जगत से निस्पृही बनकर रहते हैं।

सस्कृत मे एक श्लोक है —

उदारस्य तृण वित्त, शूरस्य मरण तृणम्।
विरक्तस्य तृण भार्या, निस्पृहस्य तृणं जगत् ॥

जो व्यक्ति उदार होता है, उसके लिए धन तिनके के समान होता है। उनकी दृष्टि मे मिट्टी और सोना बराबर होता है। ऐसे उदार व्यक्ति विरले ही होते है पर पृथ्वी किसी भी काल मे ऐसे महापुरुषो से शून्य नही रहती। अपने बम्बई चातुर्मास के समय मैंने सुना था कि एक पारसी बन्धु ने एक ही वक्त मे पैंतीस लाख रुपये दान मे दे दिये थे। परोपकारी व्यक्ति तो अपना सर्वस्व भी दान देने मे नही हिचकिचाते। इसीलिए कहा गया है—

परोपकारः कर्तव्य प्राणैरपि धनैरपि।
परोपकारज पुण्य न स्यात् क्रतु शतैरपि ॥

का पात्र नही होता और आप तो ब्राह्मण द्वारा त्यागे हुए धन को ग्रहण करने की इच्छा रखते हैं।

रानी के कहने का तात्पर्य यही था कि राज्य के पुरोहित को आपने ही तो समय-समय पर सकल्प करके विपुल दान दिया है और अब वे लोग दीक्षित हो गए तो क्या हुआ ? धन तो आपका दिया हुआ वही है। फिर आप कैसे इसे ग्रहण कर रहे हैं ? इसके अलावा एक बार आपने इसे त्यागा और अब ब्राह्मण ने इसे त्याग दिया तो यह तो दो बार वमन किया जा चुका है। अत आप जैसे महाराजा को ऐसा हेय पदार्थ कभी भी पुन स्वीकार नही करना चाहिए। ऐसा करने पर आप वान्ताशी कहलाएँगे और ससार मे प्रशसा के योग्य नही बनेंगे उलटे तिरस्कार के पात्र बन जाएँगे।

राजा इक्षुकार रानी की बात पर हँस पडते हैं तथा कहते—"रानी! राज्यकार्य को तुम क्या जानो ? हम राजा हैं, ससार मे रहते है। और फिर पुरोहित जब घर मे रहते थे तब तक तो धन हमने लिया नही। अब तो वे उसे छोड ही गए हैं फिर उस अपार धन राशि से राज्यकोष क्यो न भरा जाय ?

रानी कमलावती के गले से यह बात नही उतरी। उसने पुन अपनी बात को दोहराते हुए राजा की तृष्णा को लक्ष्य करके कहा—

सव्व जगं जइ तुह, सव्वं वावि धणं भवे।
सव्व पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १४-३९

क्या कहा रानी ने ? यही कि महाराज! यदि सारा जगत आपका हो जाय, समस्त धनादि पदार्थ भी आपके हो जाय अर्थात् विश्व का सब कुछ आपका हो जाय तो भी वह आपकी तृष्णा को पूरा करने मे समर्थ नही हो पाएगा। उस पर भी यह सब मृत्यु आदि के कष्टो के समय तनिक भी सहायता नही करेगा न ही उससे रक्षा कर सकेगा। सब यो ही और यही पडा रह जाएगा।

राजा इषुकार को रानी की ऐसी बातो से बडी झुंझलाहट हुई और वे बोले—"जब तुम इतना ज्ञान रखती हो तो स्वयं ही दीक्षा क्यो नही ले लेती ?"

पति की बात सुनकर कमलावती ने तुरन्त उत्तर दिया—"महाराज! मैं तो ससार छोडने के लिए इसी क्षण तैयार हूँ। मेरी आत्मा तो पिंजरे मे पडे

साराश यही है कि ससार मे उदारता के समान और कोई गुण नही है तथा जो उदार होता है वह अपने धन को या जो कुछ भी उसका अपना कहलाता है उसे तृण के समान समझता है ।

श्लोक मे दूसरी बात कही गई है—"शूरस्य मरण तृणम् ।" यानी शूरवीर के लिये मरना तिनके के समान है ।

जो पुरुष सच्चे शूरवीर या बहादुर होते है वे मृत्यु की रचमात्र भी परवाह नही करते । हमारे यहाँ एक मेजर साहब जो अपने ही समाज के व्यक्ति है, प्राय दर्शनार्थ आया करते हैं । एक दिन मैंने उनसे पूछा—"आप कहाँ रहते हैं ?" वे बोले—"महाराज ! मुझे बॉर्डर पर रहना पडता है । और वहाँ हमारी जान हथेली पर रहती है । किन्तु देश की सेवा करने मे मुझे इतनी प्रसन्नता होती है कि मरने का तनिक भी भय नही लगता किसी भी क्षण मरने के लिये तैयार रहता हूँ ।"

इतिहास उठाकर देखने पर भी हमे ज्ञात होता है कि सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव जैसे अनेकानेक देशभक्तो ने हँसते-हँसते अपने प्राणो का बलिदान किया है । इसके अलावा केवल देश के लिये ही नही, धर्म और परोपकार के लिये भी अनेको वीरो ने अपने प्राणो को उत्सर्ग करने मे रचमात्र भी हिचकिचाहट नही की । हमारे धर्म-शास्त्र बताते हैं कि आप ही के जैसे अनेको श्रावको ने अपने धर्म को न त्यागने मे मरणातक उपसर्ग सहन् किये हैं तथा अपने धर्म की रक्षा की है । अनेक राजाओ ने तो शरणागत की रक्षा करने के लिये भी अपने प्राणो की आहुतियाँ दी हैं । तो श्लोक यही कहता है कि जो शूरवीर होते है उनके लिये इस देह से आत्मा का पृथक् हो जाना एक तिनका टूट जाने से अधिक महत्त्व नही रखता ।

श्लोक की तीसरी बात है—विरक्त पुरुष के लिये स्त्री तृण के समान है ।'

इस कथन का यही आशय है कि जो व्यक्ति काम-विकारो के प्रलोभनो को जीत लेता है उसके लिये भोगविलास और नारी तृण के समान महत्त्वहीन साबित होते हैं । देखा जाय तो ससार मे चारो ओर नाना-प्रकार के प्रलोभनो का जाल बिछा हुआ है । किन्तु सृष्टि के समस्त प्रलोभनो मे सबसे बडा प्रलोभन है काम-विकार । यह प्रलोभन इतना जबर्दस्त और व्यापक होता है कि प्रत्येक प्राणी इसके चगुल मे फँसा रहता है ।

—धन और प्राण सभी से परोपकार करना चाहिये, क्योकि परोपकार के पुण्य के बरावर सौ यज्ञो का भी पुण्य नही होता ।

सर्वोत्तम फल

एक सेठ वडा धर्मात्मा था । उसने अनेक यज्ञ करवाए और अपना करोडो का धन उनमे खर्च कर दिया । परिणाम यह हुआ कि वह स्वय निर्धन हो गया । तव एक दिन उसकी सेठानी ने सलाह दी कि तुम अपने दो-चार यज्ञो का फल राजा को देकर उनसे धन ले आओ ताकि हमारा जीवन-यापन हो सके । सेठ राजी हो गया ।

रवाना होते समय सेठानी ने सेठ को राह मे खाने के लिये कुछ रोटियाँ वनाकर रख दी । सेठ चलते-चलते एक वन मे पहुँचा और भूख लग जाने के कारण एक पेड के नीचे रोटियाँ खाने वैठा । किन्तु ज्योही वह रोटी मे से ग्रास तोडने वैठा उसने देखा कि पेड की कोटर मे एक कुतिया व्याई हुई मरणासन्न अवस्था मे पडी है । कई दिनो से तेज वर्षा होने के कारण वह खाने की तलाश मे जा नही सकी थी ।

सेठ ने जव यह देखा तो अपनी समस्त रोटियाँ उस कुतिया को खिला दी तथा आप भूखा-प्यासा राजा के समक्ष पहुँचा । राजा ने सम्मान से सेठ को विठाया और वहाँ आने का कारण पूछा । सेठजी ने अपनी सारी हालत राजा को वता दी और अपने आने का कारण भी वताया कि वह उनके पास कुछ यज्ञो का फल वेचने आया है ।

राजा के दरवार मे एक महा विद्वान ज्योतिषी था, अत. राजा ने उससे पूछा—"इन सेठजी के कौन से यज्ञ का फल सर्वोत्तम है ?"

ज्योतिषी ने सोच विचार कर कहा—"महाराज ! इन्होने जितने भी यज्ञ किये हैं उन सव के फलो मे सर्वाधिक उत्तम फल इनके उस परोपकार का है जो कि अपनी समस्त रोटियाँ राह मे कुतिया को खिलाकर किया है । आप उस फल को खरीद लीजिये ।"

राजा ने सेठजी से इस विषय मे पूछा । किन्तु सेठजी अपने उस एकमात्र परोपकार के पुण्य-फल को देने के लिये तैयार नही हुए और वैसे ही विना कुछ लिये लौटने को तत्पर हो गए ।

किन्तु राजा भी वडे उदार थे अत उन्होने सेठ के यज्ञो का या उनके परोपकार का, किसी का भी फल न खरीदते हुए उन्हें विपुल धन देकर ससम्मान विदा किया ।

कई वर्ष व्यतीत हो गए और वासवदत्ता अपने दुराचरण के कारण भयकर रोगो का शिकार वन गई। उसका गगनचुम्बी भवन और अपार सम्पत्ति, सभी कुछ उससे अलग हो गए और वह स्वय आश्रय रहित होकर सडक के एक किनारे पर पडी थी। शरीर पर मैले-कुचैले और फटे कपडे थे तथा शरीर पर अनेक घाव थे जिनसे दुर्गन्ध निकल रही थी।

एकाएक भिक्षु उपगुप्त उधर से आ निकले और वासवदत्ता को पहचान लेने के कारण शीघ्र उसके पास आकर वोले—"वासवदत्ता! इधर देखो, मैं आ गया हूँ।"

रोगिणी नर्तकी ने वडी कठिनाई से अपनी आँखें खोली और भिक्षु को पहचान कर वोली—"कौन, भिक्षु उपगुप्त तुम अव आए हो? अव मेरे पास क्या रखा है? मेरा यौवन, सौन्दर्य, धन आदि सभी कुछ तो नष्ट हो गया।" कहती हुई नर्तकी रो पडी।

"पर मेरे आने का समय भी अभी हुआ है वासवदत्ता", कहते हुए भिक्षु उपगुप्त ने शान्ति से उसके समीप वैठकर उसके घावो को धोना शुरू किया। कुछ दिनो मे औषधोपचार से वासवदत्ता का सौन्दर्य पूर्ववत् आकर्षक हुआ। तव भिक्षु उपगुप्त ने कहा कि, अब परमात्मा के बताए हुए मार्ग पर चलो अर्थात् ब्रह्मचारिणी वनकर तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर जो आत्माएँ विचलित हुई थी, उनको सन्मार्ग पर लगावो और उनके जीवन को सार्थक वनावो। वासवदत्ता ने भी उस भिक्षु के वचनो को शिरोधार्य किया व उस कार्य मे सफल वनी।

इस प्रकार ससार मे अनेक नरपुगव ऐसे होते हैं जो काम-विकारो को सर्वथा जीत लेते हैं और भोग-लालसा का त्याग करके अपनी आत्मा को उन्नत वनाते हुए साधना के मार्ग पर वढते हैं।

अव श्लोक का अन्तिम चरण सामने आता है —

निस्पृहस्य तृण जगत्। यानी जो निस्पृही मानव होता है उसके लिये समग्र ससार ही तिनके के समान मूल्यरहित भावित होता है।

जिसके हृदय मे जगत के प्रति सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो जाता है वह सदा मध्यस्थभाव मे रमण करने लगता है। उसे न कोई पदार्थ प्रिय लगता है और न अप्रिय। न किसी भी वस्तु पर उसका राग होता है और न किसी व्यक्ति से द्वेष। राग और द्वेष ही ससार-भ्रमण कराने वाले होते हैं :—

राजा भर्तृहरि ने तो यहाँ तक कह दिया है —

आससार त्रिभुवनमिद, चिन्वता तात तादृड् ।
नैवास्याक नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा ।
योऽय धत्ते विषयकरिणी गाढरूढाभिमान—
क्षीवस्यान्तःकरणकरिणः सयमालान-लीलाम् ।।

कहते हैं—"भाई ! मैं सारे ससार मे घूमा और तीनो भुवनो मे खोज कर ली, किन्तु ऐसा कोई मनुष्य मैंने न देखा और न ही सुना, जो अपनी कामेच्छापूर्ण करने के लिये हथिनी के पीछे दौडते हुए मदोन्मत्त हाथी के समान मन को वश मे रख सकता है ।'

तो वन्धुओ, इनके भी कहने का आशय यह है कि विपय-विकार वडे शक्तिशाली होते है और इन्हे जीतना वडा कठिन है । किन्तु ये जीते ही नही जा सकते यह कहना भी उचित नही है । अगर इन काम-भोगो को जीता नही जाता तो हमारे तीर्थंकर एव अवतारी पुरुप आज किस प्रकार हमारी श्रद्धा और पूजा के पात्र वनते ? आज भी अनेक साधु और साध्वियाँ वाल-ब्रह्मचारी मिलते है तथा अन्य सव भी सयमी जीवन अपना लेने के वाद पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते है ।

समय पर आया हूँ

वासवदत्ता मथुरा की अपूर्व सुन्दरी एव सर्वश्रेष्ठ नर्तकी थी । हजारो व्यक्ति उसकी एक-एक मुसकान के लिये तरसते थे । एक दिन उसने अपने वातायन से देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर एव युवा भिक्षु पीला वस्त्र ओढे तथा भिक्षा-पात्र हाथ मे लिये मार्ग से गुजर रहा है ।

वासवदत्ता उस भिक्ष को देखकर अत्यन्त मोहित हुई और शीघ्रतापूर्वक नीचे आकर पुकार उठी - "भन्ते !"

भिक्षु समीप आया और नर्तकी के सामने खडे होकर उसने अपना भिक्षा का पात्र आगे वढा दिया । किन्तु नर्तकी बोली—"आप ऊपर चलिये ! यह मेरा महल, मेरी सम्पत्ति और मैं स्वय आपकी होना चाहती हूँ । आप मुझे स्वीकार कीजिये ।"

भिक्षु ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारे पास फिर कभी आऊँगा ।"

उत्सुकता से वासवदत्ता ने पूछा—"कव पधारेंगे आप ?"

"जव वक्त आएगा ।" कहते हुए भिक्षु उपगुप्त वहाँ से आगे चल दिये ।

२८

विजयादसमी को धर्ममय बनाओ !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एव बहनो !

आज विजयादशमी का विशिष्ट दिन है। वैसे तो प्रत्येक तिथि एक महीने मे दो बार आती है, दसमी भी उसी प्रकार आती जाती रहती है। किन्तु आज की इस तिथि से पहले 'विजय' शब्द लगाया जाता है और इस विशेष शब्द का प्रयोग एक वर्ष मे एक बार ही इस तिथि के लिये किया जाता है। इसका कारण आप सभी जानते हैं कि आज के दिन धर्मावतार रामचन्द्रजी ने रावण पर विजय प्राप्त की थी।

यद्यपि रावण के पास अपार दौलत, असीम शक्ति तथा बडा भारी सैन्य-बल था तथा रामचन्द्रजी से मुकाबला करने के लिये अनेक प्रकार के साधन मौजूद थे। राम के पास यह सब कुछ नही था किन्तु धर्म, न्याय, नीति और मर्यादा पालन की भावना का जबर्दस्त बल था। उस बल के कारण ही राम ने वनवासी होते हुए भी सोने की लका के स्वामी महाबली रावण पर इसी विजयादशमी को विजय प्राप्त की थी।

आध्यात्मिक दृष्टि से विजयादशमी कैसे मनाई जाय ?

महर्षि वाल्मीकि ने और महाकवि सन्त तुलसीदासजी ने विशाल रामायण की रचना की है, जो आज ससार के महत्वपूर्ण ग्रन्थो मे गिनी जाती है तथा घर-घर मे उसका प्रतिदिन पाठ किया जाता है। प्रत्येक मानव उस ग्रन्थ से चाहे तो अनेक शिक्षाएँ ले सकता है। महापुरुषो का सम्पूर्ण जीवन ही शिक्षाप्रद होता है।

हमारे कविकुल भूषण पूज्यपाद श्रीतिलोक ऋषि जी महाराज ने भी अपने दस वाक्यों मे रामायण से लिये जाने वाले ज्ञान को गागर मे सागरवत् भर दिया है। सर्वप्रथम उन्होंने कहा है —

विजयादसमी दिन विजय करो—
तुम ज्ञान दृष्टि कर नर नारी।

"रागो य दोसोऽवि य कम्म बीयं"

—राग और द्वेष ही समस्त कर्मों के वीज हैं।

इन्ही दो दोषो के कारण आत्मा अपने स्वरूप से अलग हो जाता है तथा उसकी भयकर दुर्गति होती है। इस ससार मे जितने भी कष्ट, सकट और वेदनाएँ भुगतनी पडती हैं उनका कारण यही राग और द्वेष की ही जोडी है। यही आत्मा के विवेक पर पर्दा डालकर बुद्धि को भी भ्रष्ट करती है।

किन्तु जो भव्य प्राणी अपनी आत्मा को सम्पूर्ण कष्टो और सम्पूर्ण उपाधियो से मुक्त करना चाहते हैं वे सर्वप्रथम किसी भी पदार्थ और प्राणी को न प्रिय मानते हैं, न अप्रिय। अपितु सवके प्रति उपेक्षणीय भाव रखते हैं। वे भली-भाँति जान लेते हैं कि जव तक इन समस्त दु खो की जड राग और द्वेप को पराजित नही किया जाएगा, तव तक आत्मा को वास्तविक सुख की प्राप्ति नही हो सकेगी और न ही उसे अपने शुद्ध स्वरूप की उपलव्धि ही होगी।

इसीलिये मुमुक्षु जीव सासारिक प्रलोभनो को जीतने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रतो या महाव्रतो को धारण करके त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करते हैं। आत्म-साधना के इस मार्ग पर अगर वे दृढतापूर्वक चलते हैं तो राग-द्वेप का नाश होकर वीतराग-दशा की प्राप्ति होती है और फिर उस आत्मा को सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी होने मे देर नही लगती।

अतएव वन्धुओ, अगर हमे भी अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो यथाशक्ति व्रत-नियमो को अपनाना चाहिये ताकि हमारा जीवन सयमित वन सके तथा दिन-दिन हमारी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर हो सके। ●

हुई है। यानी लालच ही लका है। लका मे रावण का पिता रत्नश्रवा राक्षस राज्य करता था। आध्यात्मिक दृष्टि से इस लालच रूपी लका मे महामोह रूपी रत्नश्रवा-राक्षस रहता है। रत्नश्रवा की पत्नी या रावण की माता केकसी थी, और यहाँ महामोह रूपी राक्षस की रानी क्लेश है। जहाँ महामोह रहेगा वहाँ क्लेश तो रहेगा ही। मोहका दूसरा नाम अज्ञान भी है और जहाँ अज्ञान होगा वहाँ क्लेश न हो यह सभव नही है। क्योकि अज्ञानी कभी सही मार्ग पर नही चलता और सही मार्ग पर न चलनेवाला समाज के व्यक्तियो की हानि करके क्लेश का कारण बनता है।

किसी ने कहा भी है—

निपट अबुध समझै कहाँ, बुध-जन वचन-विलास।
कबहू भेक न जानहीं, अमल कमल की बास॥

जो व्यक्ति महामूर्ख होता है वह विद्वानो के वचनो की उपयोगिता और सुन्दरता को नही समझ सकता जिस प्रकार मेढक निर्मल कमल की वास को (सुगध को)।

तो जहाँ महामोह अथवा अज्ञान होता है वहाँ धर्म, नीति तथा न्याय आदि नही रह पाते और इनके विरोधियो के कारण क्लेश का साम्राज्य बना रहता है।

कवि ने अपने आगे के पद्य मे बताया है कि महामोह राजा के तीन पुत्र हैं, जिस प्रकार रावण, विभीषण और कुंभकर्ण तीन पुत्र रत्नश्रवा राक्षम के थे।

पद्य इस प्रकार है—

मिथ्यामोहनी उसका फर्जंद, दस मिथ्या दस आनन है।
बीस आश्रव की भुजा हैं उसके, कपट विद्या की खानन है।
सम्यक्त्व मोहनी विभीषण दूजा, नदन सो कुछ है न्यायी।
मिश्र मोहनी कुभकर्ण ए, लचपिच बात मे अधिकाई।
महामोह के ए तिहूँ नदन, समझो सुगुणा नर नारी—
धर्म दशहरा··· ॥ २ ॥

कवि ने रत्नश्रवा के रावण, विभीपण और कुंभकर्ण जैसे पुत्रो की महामोह के मिथ्या मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एव मिश्र मोहनीय से बडी सुन्दर उपमा दी है। बताया है—

धर्म दशहरा करलो उमंग से,
मिथ्या मोह—रावण मारी ॥ टेर ॥

कवि ने मुमुक्षु को प्रेरणा दी है—इस विजयादसमी के दिन तुम भी विजय प्राप्त करो, यशस्वी वनो ! पर कैसे यशस्वी वनना और किस प्रकार विजय प्राप्त करना ? उत्तर भी पद्य मे ही है कि इस दशहरे को तुम मिथ्यात्व रूपी रावण को मारकर धर्म दशहरे के रूप मे मनाओ।

यद्यपि वाह्य शत्रुओ को मारना भी सहज नही है उसके लिये भी साहस और शक्ति की आवश्यकता है किन्तु आन्तरिक शत्रु तो इतने जवर्दस्त होते हैं कि उन्हे जीतना अत्यन्त ही कठिन है तथा उसके लिये महान् आध्यात्मिक वल और साधना की आवश्यकता है। तो सम्यक्त्व की प्राप्ति करना, अपनी श्रद्धा मजवूत वनाना तथा मोह एव मिथ्यात्व रूपी रावण का जीतना ही मुक्ति के इच्छुक के लिये सच्ची विजयादसमी मनाना है।

कवि ने आगे कहा है

ए संसार सागर के अन्दर कर्म रूप अव थव पानी।
भर्म रूप पड़े भँवर इसी में, डूव जात जहाँ जग प्राणी ॥
तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप हैं, लालच लंका वंक वणी।
महामोह रत्नश्रवा नामक राक्षस राजा इसमे धणी ॥
क्लेस केकसी राणी है उसकी अकलदार समझो जहारी।
धर्म दशहरा ··· ॥ १ ॥

इस ससार रूपी समुद्र मे कर्म-जल लवालव भरा हुआ है। प्रत्येक प्राणी कर्मों के इस जल मे डूवता उतराता रहता है। कोई जिज्ञासु प्रश्न करेगा—समुद्र मे तो भँवर होते है, फिर इस ससार-सागर मे भँवर कौन से हैं ? उत्तर है—इस ससार समुद्र मे भर्म रूपी भँवर वडे जवर्दस्त हैं। स्वर्ग कही है या नही ? नरक भी वास्तव मे है या यो ही व्यक्ति डरते रहते हैं इसी भ्रम में पडे हुए व्यक्ति भँवर मे फँस जाते हैं तथा पतन की ओर अग्रसर होते हुए पूर्णतया डूव जाते हैं।

पद्य मे आगे कहा है—'तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप है।' कौन से दण्ड और त्रिकूट ? मन, वचन और काया ये तीन दण्ड हैं। किसी जीव को काया योग है, किसी को मन योग और किसी को वचन योग है। यही तीन त्रिकूट आध्यात्मिक दृष्टि मे कहे जाते हैं।

अव पूछा लंका कौन सी है ? उत्तर दिया है—लालचरूपी लका वनी

हुई है । यानी लालच ही लका है । लका मे रावण का पिता रत्नश्रवा राक्षस राज्य करता था । आध्यात्मिक दृष्टि से इस लालच रूपी लका मे महामोह रूपी रत्नश्रवा-राक्षस रहता है । रत्नश्रवा की पत्नी या रावण की माता केकसी थी, और यहाँ महामोह रूपी राक्षस की रानी क्लेश है । जहाँ महामोह रहेगा वहाँ क्लेश तो रहेगा ही । मोहका दूसरा नाम अज्ञान भी है और जहाँ अज्ञान होगा वहाँ क्लेश न हो यह समव नही है । क्योकि अज्ञानी कभी सही मार्ग पर नही चलता और सही मार्ग पर न चलनेवाला समाज के व्यक्तियो की हानि करके क्लेश का कारण वनता है ।

किसी ने कहा भी है—

निपट अबुध समझै कहाँ, बुध-जन वचन-विलास ।
कबहू भेक न जानहीं, अमल कमल की बास ॥

जो व्यक्ति महामूर्ख होता है वह विद्वानो के वचनो की उपयोगिता और सुन्दरता को नही समझ सकता जिस प्रकार मेढक निर्मल कमल की बास को (सुगध को) ।

तो जहाँ महामोह अथवा अज्ञान होता है वहाँ धर्म, नीति तथा न्याय आदि नही रह पाते और इनके विरोधियो के कारण क्लेश का साम्राज्य वना रहता है ।

कवि ने अपने आगे के पद्य मे वताया है कि महामोह राजा के तीन पुत्र हैं, जिस प्रकार रावण, विभीपण और कुंभकर्ण तीन पुत्र रत्नश्रवा राक्षस के थे ।

पद्य इस प्रकार है—

मिथ्यामोहनी उसका फर्जंद, दस मिथ्या दस आनन है ।
बीस आश्रव की भुजा हैं उसके, कपट विद्या की खानन है ।
सम्यक्त्व मोहनी विभीषण दूजा, नदन सो कुछ है न्यायी ।
मिश्र मोहनी कुभकर्ण ए, लचपिच बात मे अधिकाई ।
महामोह के ए तिहँ नदन, समझो सुगुणा नर नारी—
धर्म दशहरा··· ॥ २ ॥

कवि ने रत्नश्रवा के रावण, विभीपण और कुंभकर्ण जैसे पुत्रो की महामोह के मिथ्या मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय एव मिश्र मोहनीय से वडी सुन्दर उपमा दी है । वताया है—

धर्म दशहरा करलो उमंग से,
मिथ्या मोह—रावण मारी ॥ टेर ॥

कवि ने मुमुक्षु को प्रेरणा दी है—इस विजयादसमी के दिन तुम भी विजय प्राप्त करो, यशस्वी वनो ! पर कैसे यशस्वी वनना और किस प्रकार विजय प्राप्त करना ? उत्तर भी पद्य मे ही है कि इस दशहरे को तुम मिथ्यात्व रूपी रावण को मारकर धर्म दशहरे के रूप मे मनाओ ।

यद्यपि वाह्य शत्रुओ को मारना भी सहज नही है उसके लिये भी साहस और शक्ति की आवश्यकता है किन्तु आन्तरिक शत्रु तो इतने जवर्दस्त होते हैं कि उन्हे जीतना अत्यन्त ही कठिन है तथा उसके लिये महान् आध्यात्मिक वल और साधना की आवश्यकता है। तो सम्यक्त्व की प्राप्ति करना, अपनी श्रद्धा मजवूत वनाना तथा मोह एव मिथ्यात्व रूपी रावण का जीतना ही मुक्ति के इच्छुक के लिये सच्ची विजयादसमी मनाना है ।

कवि ने आगे कहा है

ए संसार सागर के अन्दर कर्म रूप अव थव पानी ।
भर्म रूप पडे भँवर इसी में, डूब जात जहाँ जग प्राणी ॥
तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप है, लालच लका वक वणी ।
महामोह रत्नश्रवा नामक राक्षस राजा इसमे धणी ॥
क्लेस केकसी राणी है उसकी अकलदार समझो जहारी ।
धर्म दशहरा ॥ १ ॥

इस ससार रूपी समुद्र मे कर्म-जल लवालव भरा हुआ है। प्रत्येक प्राणी कर्मों के इस जल मे डूवता उतराता रहता है। कोई जिज्ञासु प्रश्न करेगा—समुद्र मे तो भँवर होते हैं, फिर इस ससार-सागर मे भँवर कौन से हैं ? उत्तर है—इस ससार समुद्र मे भर्म रूपी भँवर वडे जवर्दस्त हैं। स्वर्ग कही है या नही ? नरक भी वास्तव मे है या यो ही व्यक्ति डरते रहते हैं इसी भ्रम मे पडे हुए व्यक्ति भँवर मे फँस जाते है तथा पतन की ओर अग्रसर होते हुए पूर्णतया डूव जाते है ।

पद्य मे आगे कहा है—'तीन दण्ड त्रिकूट द्वीप है ।' कौन से दण्ड और त्रिकूट ? मन, वचन और काया ये तीन दण्ड हैं। किसी जीव को काया योग है, किसी को मन योग और किसी को वचन योग है। यही तीन त्रिकूट आध्यात्मिक दृष्टि से कहे जाते हैं ।

अव पूछा लका कौन सी है ? उत्तर दिया है—लालचरूपी लका वनी

रावण की पत्नी मदोदरी थी और यहाँ मिथ्यामोहनीय रावण की पत्नी परपच या माया कहलाती है। अब प्रश्न है—रावण के लडके कौन ? रावण को वडा घमड था कि मेरा वडा पुत्र इन्द्रजीत है जिसने इन्द्र को भी जीत लिया था तथा दूसरा पुत्र मेघवाहन है जो मेघ के समान शत्रु-समूह मे गर्जना करने वाला है।

यहाँ भी मिथ्यामोहनीय रूपी रावण के दो पुत्र बताए गए हैं—पहला विषय और दूसरा अहकार। इन्द्रजीत के समान विषय भी अत्यन्त शक्तिशाली हैं। इन्हें जीतना भी वडा कठिन है। कहा भी है—

> भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवार
> शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ॥
> वस्त्र च जीर्ण-शतखण्डमलीन कन्था।
> हा हा तथाऽपि विषया न परित्यजन्ति।
>
> —भर्तृहरि

ऐसा व्यक्ति जो कि भीख माँग-माँगकर एक ही वक्त नीरस और अलोना खाता है, जिसे ओढने-बिछाने के लिए भी वस्त्र न होने और पलग तकिया न होने के कारण धरती पर सोना पडता है, जिसका कोई भी सगा सम्बन्धी नही होता केवल उसकी देह के अलावा, जिसके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण बने रहते हैं तथा ओढनेवाली कथडी मे सैकडो चीथडे लटकते हैं। खेद है कि ऐसे लोग भी विषयो को नही त्यागते फिर वैभवशाली और धनिक व्यक्तियो का तो कहना ही क्या है ? वे विषयो को कैसे जीत सकते हैं।

इसलिए विषयो को मिथ्यामोह रूपी रावण के शक्तिशाली पुत्र इन्द्रजीत की उपमा दी है। इस मिथ्या मोह का दूसरा पुत्र अहकार बताया है। रावण का दूसरा पुत्र मेघवाहन जिस प्रकार गर्व के कारण गर्जना करता था इसी प्रकार अहकार के नशे मे चूर व्यक्ति दुनिया के किसी प्राणी की परवाह नही करता। वह भूल जाता है कि मेरे गर्व का परिणाम क्या होगा ? केवल यही कि उसका पतन होना अनिवार्य हो जाएगा।

इसीलिए कबीर ने कहा है—

> धन अरु यौवन को गरब कबहूँ करिये नाहि।
> देखत ही मिट जात है, ज्यो बादर की छाहि।

अर्थात्—धन अथवा यौवन किसी का भी मनुष्य को गर्व नही करना

महामोह का सबसे बडा पुत्र है—'मिथ्या मोहनीय।' रावण के दस मुखो के समान मिथ्यात्व मोहनीय के भी दस मुख हैं। वे क्या हैं ? दस प्रकार के मिथ्यात्व, यथाजीव को अजीव माने और अजीव को जीव माने, धर्म को अधर्म माने और अधर्म को धर्म माने, अमुक्त को मुक्त और मुक्त को अमुक्त तथा साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना आदि दस प्रकार के मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व मोहनीयरूपी रावण के दस मुँह हैं।

अब आप कहेगे—रावण के तो बीस भुजाएँ थी, मिथ्यात्व मोहनीय के बीस भुजाएँ कौन-कौन सी है ? उत्तर यही है कि जहाँ मिथ्यात्व रहेगा वहाँ आश्रव भी रहेगे। आश्रव यानी पाप आने के रास्ते। बीस प्रकार के आश्रव ही उसकी बीस भुजाओ के समान हैं। इसके अलावा रावण जैसा धोखेबाज और कपटी था उसी प्रकार 'मिथ्यात्व मोहनीय' भी कपट विद्या की खान ही है।

अब रावण के दूसरे भाई विभीषण का नम्बर आता है। विभीषण ने बार-बार अपने भाई को समझाया था—"सीता को वापिस कर दो क्योकि दूसरे की वस्तु चुरा लाना और अपने पास रखना अधर्म है।"

तात्पर्य यह है कि विभीषण न्याय मार्ग पर चलता था और इसी प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय भी होता है जो मानव को प्रशस्त मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

अब तीसरा भाई मिश्र मोहनीय है जो कभी इधर और कभी उधर विचारो की तरगें बहाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कुँभकर्ण था जो रावण के समीप जाता तो रावण की हाँ मे हाँ मिलाता था और जब विभीषण के पास जाता था उसे भी प्रसन्न रखने की कोशिश करता था। आप यह कहावत भी कहा करते हैं—

'गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास।

इसी प्रकार मिश्र मोहनीय की प्रकृति है जो ढुलमुल बनी रहती है। अब कवि आगे कहते हैं।

परपंच नाम मदोदरी नामे, मिथ्यामोह रावण रानी।
विषय इन्द्रजीत अरु मेघवाहन मिथ्या रावण के सुखदानी ॥
कुमति नाम चन्द्रनखा बहन है, कठिन क्रोध खर के ब्याही।
दूषण दूषण तीन शल्य त्रिशिरा, ए दोनु ही उसके भाई ॥
सज्वलतिक चन्द्रनखा शबुक कद्य एक आयो हुशियारी—
धर्म दशहरा ' ' ॥ ३ ॥

रावण की पत्नी मदोदरी थी और यहाँ मिथ्यामोहनीय रावण की पत्नी परपच या माया कहलाती है। अब प्रश्न है—रावण के लडके कौन ? रावण को वडा घमड था कि मेरा वडा पुत्र इन्द्रजीत है जिसने इन्द्र को भी जीत लिया था तथा दूसरा पुत्र मेघवाहन है जो मेघ के समान शत्रु-समूह मे गर्जना करने वाला है।

यहाँ भी मिथ्यामोहनीय रूपी रावण के दो पुत्र वताए गए हैं—पहला विषय और दूसरा अहकार। इन्द्रजीत के समान विषय भी अत्यन्त शक्तिशाली हैं। इन्हे जीतना भी वडा कठिन है। कहा भी है—

> भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवार
> शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ॥
> वस्त्र च जीर्ण-शतखण्डमलीन कन्था।
> हा हा तथाऽपि विषया न परित्यजन्ति।
>
> —भर्तृहरि

ऐसा व्यक्ति जो कि भीख माँग-माँगकर एक ही वक्त नीरस और अलोना खाता है, जिसे ओढ़ने-विछाने के लिए भी वस्त्र न होने और पलग तकिया न होने के कारण धरती पर सोना पडता है, जिसका कोई भी सगा सम्वन्धी नही होता केवल उसकी देह के अलावा, जिसके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण बने रहते हैं तथा ओढनेवाली कथडी मे सैकडो चीथडे लटकते हैं। खेद है कि ऐसे लोग भी विषयो को नही त्यागते फिर वैभवशाली और धनिक व्यक्तियो का तो कहना ही क्या है ? वे विषयो को कैसे जीत सकते हैं।

इसलिए विषयो को मिथ्यामोह रूपी रावण के शक्तिशाली पुत्र इन्द्रजीत की उपमा दी है। इस मिथ्या मोह का दूसरा पुत्र अहकार वताया है। रावण का दूसरा पुत्र मेघवाहन जिस प्रकार गर्व के कारण गर्जना करता था इसी प्रकार अहकार के नशे मे चूर व्यक्ति दुनिया के किसी प्राणी की परवाह नही करता। वह भूल जाता है कि मेरे गर्व का परिणाम क्या होगा ? केवल यही कि उसका पतन होना अनिवार्य हो जाएगा।

इसीलिए कबीर ने कहा है—

> धन अरु यौवन को गरब कबहूँ करिये नाहि।
> देखत ही मिट जात है, ज्यो बादर की छाहि।

अर्थात्—धन अथवा यौवन किसी का भी मनुष्य को गर्व नही करना

चाहिए क्योकि जिस प्रकार बादल की छाया हवा से हट जाते ही मिट जाती है, उसी प्रकार धन व यौवन भी अल्पकाल मे ही विलीन हो जाते हैं।

तो गर्व अथवा अहकार मिथ्या मोहनीय का दूसरा पुत्र है जो अपने समय मे तो किसी को भी कुछ नही समझता तथा गर्दन टेढी करके ही चलता है किन्तु अल्पकाल मे ही उसका गर्व चूर-चूर हो जाता है।

रावण की एक बहन थी, जिसका नाम चन्द्रनखा था किन्तु सूप के समान बडे-बडे नाखून होने के कारण उसे शूर्पनखा भी कहते थे। शूर्पणखा ने ही अपने भाई रावण को कुबुद्धि प्रदान की थी यह कहकर कि—"तुम्हारे अन्त पुर मे इतनी रानियाँ है पर आज मैं जिसे देखकर आई हूँ उसके सामने ये सब कुछ भी नही हैं।" बहन के कथन के कारण ही रावण ने सीता का हरण किया और उसे निर्वंश हो जाना पडा।

इसी प्रकार मिथ्या मोह की बहन कुबुद्धि है जो प्राणी को कुमार्ग पर चला कर कुगति प्रदान करवाती है। कुबुद्धि ऐसा क्यो करती है ? क्योकि उसका विवाह क्रोध-रूपी खर के साथ हो जाता है। दोनो का सयोग मिलने से ही भयकर घटनाएँ घटती है।

खर के दो भाई थे—दूषण और त्रिशिरा। क्रोध रूपी खर के भी दो भाई हैं—पहला दूषण अर्थात् अवगुण और दूसरा त्रिशिरा रूप तीन शल्य—माया शल्य यानी कपट, नियाणशल्य यानी निदान करना कि मेरी अमुक करनी का अमुक फल मिले। तीसरा मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् गलत श्रद्धा रखना।

खर के एक पुत्र था शबूक। एक बार वह अपने मामा रावण के यहाँ गया तो वहाँ पर उसने सूर्यहस खड्ग को देखा। देखकर उसके हृदय मे अमिट इच्छा हुई कि मुझे भी सूर्यहस खड्ग प्राप्त करना है। कवि ने उसके विचारो को अपने पद्य मे लिखा है—

> ज्ञान रूप सूर्य हस खड्ग कूं साधन की दिल मे आई।
> मात-पिता का हुक्म न माना, रह्या वो उपशम वन माँई ॥
> उसी वखत मे रामराज गृहि दश लक्षण दशरथ राया।
> सवर भावना राणी कौशल्या धर्म राम पुत्र जाया ॥
> समकित सुमित्रा रानी दूसरी, सत लक्ष्मण की महतारी।
> धर्म दशहरा ॥४॥

शबूक के हृदय मे सूर्यहस खड्ग को प्राप्त करने की बलवती इच्छा हुई

और उसने अपने माता-पिता से यह बात कही । माता-पिता ने इसके लिए इन्कार किया क्योकि उसे प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष तक ओंधे लटके रहकर साधना करनी आवश्यक थी । पर शबूक माना नही और उसने खड्ग की साधना के लिए एक झाडी मे ओधे लटककर साधना प्रारम्भ कर दी । प्रतिदिन उसकी माता शूर्पनखा उसे आहार देकर आती है और शबूक जगल मे ही रहता है । यहाँ जगल कौन-सा ? 'उपशम' यानी ऊपर की शाति ।

तो शबूक उधर तपस्या कर रहा है और इधर राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी को वनवास होता है । आध्यात्मिक दृष्टि से दशरथ, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस लक्षणो वाले धर्म को कहा गया है । जहाँ धर्मावतार राम का जन्म होगा वहाँ माता-पिता भी शुद्ध और सर्वोत्तम होने चाहिए । तो पिता दस लक्षणयुत धर्म और माता मानी गई है सवर भावना ! जिसे कौशल्या माता कहा जा सकता है । पाप क्रियाओ के रुकने पर सवर भावना आती है, दूसरे शब्दो मे पाप-रूपी जल को रोकने के लिए पाल के समान काम करने वाली भावना सवर भावना कहलाती है । वह वही रहेगी जहाँ धर्म रहेगा ।

दशरथ की दूसरी रानी सुमित्रा थी । सुमित्रा यहाँ हम किसे कहेगे ? सम्यक्त्व यानी श्रद्धा को । तो इस श्रद्धारूप सुमित्रा ने सत्य-रूप लक्ष्मण को जन्म दिया । जहाँ श्रद्धा होगी सत्य अवश्य होगा । यहाँ ध्यान मे रखने की बात है कि जहाँ धर्म होगा वहाँ सत्य होगा और जहाँ सत्य रहेगा वहाँ धर्म अनिवार्य है । सत्य को छोडकर धर्म नही रहता और धर्म को छोडकर सत्य नही रह सकता । इसीलिए धर्म रूप राम के साथ ही सत्य-रूपी लक्ष्मण भी वनवास मे साथ गये और साथ ही रहे ।

एक बात और बताने की जो रह गई कि रामचन्द्रजी का विवाह सीता से हुआ था और यहाँ धर्मरूपी राम का विवाह किस के साथ हुआ । यह बात अगला पद्य बता रहा है—

> सुमति सीता से धर्म राम का बहुत ठाट से विवाह भया ।
> एक दिवस वो पिता हुक्म से तीनो ही सयम वन मे गया ॥
> सत्य लक्ष्मण वो खड्ग पकड़कर सजल सबुक का सिर धाया ।
> कुमति चन्द्रनखा कही पति सु, खर दूषण त्रिशिरा धाया ॥
> सत्य लक्ष्मण तब चढ़े सामने, उन तीनू कु लिया मारी —
> धर्म दशहरा ॥५॥

धर्म रूपी राम का सुमति रूपी सीता के साथ विवाह बडे ठाट-बाट से

चाहिए क्योकि जिस प्रकार बादल की छाया हवा से हट जाते ही मिट जाती है, उसी प्रकार धन व यौवन भी अल्पकाल मे ही विलीन हो जाते हैं।

तो गर्व अथवा अहकार मिथ्या मोहनीय का दूसरा पुत्र है जो अपने समय मे तो किसी को भी कुछ नही समझता तथा गर्दन टेढी करके ही चलता है किन्तु अल्पकाल मे ही उसका गर्व चूर-चूर हो जाता है।

रावण की एक बहन थी, जिसका नाम चन्द्रनखा था किन्तु सूप के समान बडे-बडे नाखून होने के कारण उसे शूर्पनखा भी कहते थे। शूर्पणखा ने ही अपने भाई रावण को कुबुद्धि प्रदान की थी यह कहकर कि—"तुम्हारे अन्त पुर मे इतनी रानियाँ हैं पर आज मैं जिसे देखकर आई हूँ उसके सामने ये सब कुछ भी नही हैं।" बहन के कथन के कारण ही रावण ने सीता का हरण किया और उसे निर्वश हो जाना पडा।

इसी प्रकार मिथ्या मोह की बहन कुबुद्धि है जो प्राणी को कुमार्ग पर चला कर कुगति प्रदान करवाती है। कुबुद्धि ऐसा क्यो करती है? क्योकि उसका विवाह क्रोध-रूपी खर के साथ हो जाता है। दोनो का सयोग मिलने से ही भयकर घटनाएँ घटती हैं।

खर के दो भाई थे—दूषण और त्रिशिरा। क्रोध रूपी खर के भी दो भाई हैं—पहला दूषण अर्थात् अवगुण और दूसरा त्रिशिरा रूप तीन शल्य—माया शल्य यानी कपट, नियाणशल्य यानी निदान करना कि मेरी अमुक करनी का अमुक फल मिले। तीसरा मिथ्यादर्शन शल्य अर्थात् गलत श्रद्धा रखना।

खर के एक पुत्र था शबूक। एक बार वह अपने मामा रावण के यहाँ गया तो वहाँ पर उसने सूर्यहस खड्ग को देखा। देखकर उसके हृदय मे अमिट इच्छा हुई कि मुझे भी सूर्यहस खड्ग प्राप्त करना है। कवि ने उसके विचारो को अपने पद्य मे लिखा है—

> ज्ञान रूप सूर्य हस खड्ग कू साधन की दिल मे आई।
> मात-पिता का हुक्म न माना, रह्या वो उपशम बन माँई॥
> उसी वखत में रामराज गृहि दश लक्षण दशरथ राया।
> सवर भावना राणी कौशल्या धर्म राम पुत्र जाया॥
> समकित सुमित्रा रानी दूसरी, सत लक्ष्मण की महतारी।
> धर्म दशहरा ॥४॥

शबूक के हृदय मे सूर्यहस खड्ग को प्राप्त करने की बलवती इच्छा हुई

और उसने अपने माता-पिता से यह बात कही। माता-पिता ने इसके लिए इन्कार किया क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष तक औंधे लटके रहकर साधना करनी आवश्यक थी। पर शबूक माना नही और उसने खड्ग की साधना के लिए एक झाडी मे औंधे लटककर साधना प्रारम्भ कर दी। प्रतिदिन उसकी माता शूर्पनखा उसे आहार देकर आती है और शंबूक जगल मे ही रहता है। यहाँ जगल कौन-सा ? 'उपशम' यानी ऊपर की शाति।

तो शबूक उधर तपस्या कर रहा है और इधर राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्रजी को वनवास होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से दशरथ, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दस लक्षणो वाले धर्म को कहा गया है। जहाँ धर्मावतार राम का जन्म होगा वहाँ माता-पिता भी शुद्ध और सर्वोत्तम होने चाहिए। तो पिता दस लक्षणयुत धर्म और माता मानी गई है सवर भावना ! जिसे कौशल्या माता कहा जा सकता है। पाप क्रियाओ के रुकने पर सवर भावना आती है, दूसरे शब्दो मे पाप-रूपी जल को रोकने के लिए पाल के समान काम करने वाली भावना सवर भावना कहलाती है। वह वही रहेगी जहाँ धर्म रहेगा।

दशरथ की दूसरी रानी सुमित्रा थी। सुमित्रा यहाँ हम किसे कहेंगे ? सम्यक्त्व यानी श्रद्धा को। तो इस श्रद्धारूप सुमित्रा ने सत्य-रूप लक्ष्मण को जन्म दिया। जहाँ श्रद्धा होगी सत्य अवश्य होगा। यहाँ ध्यान मे रखने की बात है कि जहाँ धर्म होगा वहाँ सत्य होगा और जहाँ सत्य रहेगा वहाँ धर्म अनिवार्य है। सत्य को छोडकर धर्म नही रहता और धर्म को छोडकर सत्य नही रह सकता। इसीलिए धर्म रूप राम के साथ ही सत्य-रूपी लक्ष्मण भी वनवास मे साथ गये और साथ ही रहे।

एक बात और बताने की जो रह गई कि रामचन्द्रजी का विवाह सीता से हुआ था और यहाँ धर्मरूपी राम का विवाह किस के साथ हुआ। यह बात अगला पद्य बता रहा है—

> सुमति सीता से धर्म राम का बहुत ठाट से विवाह भया।
> एक दिवस वो पिता हुक्म से तीनों ही संयम वन में गया ॥
> सत्य लक्ष्मण वो खड्ग पकडकर सजल सबुक का सिर धाया।
> कुमति चन्द्रनखा कहो पति सु, खर दूषण त्रिशिरा धाया ॥
> सत्य लक्ष्मण तब चढे सामने, उन तीनू कुं लिया मारी —
> धर्म दशहरा ॥५॥

धर्म रूपी राम का सुमति रूपी सीता के साथ विवाह बडे ठाट-बाट से

हुआ। पर कैकेयी के वरदानो को देने के लिए वचनवद्ध होने के कारण एक दिन धर्म-रूपी राम, सत्य-रूपी लक्ष्मण और सुमति रूपी सीता तीनो ही वन मे चले गये। वन हम कौन-सा लेंगे ? सयम, रूपी, अर्थात् सयम रूपी वन मे धर्म, सत्य और सुमति तीनो गये।

एक वार उस वन मे विचरण करते समय लक्ष्मण की दृष्टि उस सूर्यहस खड्ग पर पडी जो साधनारत शवुक की साधना के वल पर उसी समय उसके लिए आया था।

खड्ग को देखते ही लक्ष्मण के चित्त मे कौतूहल उपजा कि यहाँ ऐसी कौन-सी चमकदार वस्तु पडी हुई है उन्होने उसे उठाने के लिए हाथ वढाया और लक्ष्मण स्वय भी वासुदेव के अवतार थे अत हाथ बढाते ही खड्ग उनके हाथ मे आ गया। सयोग की वात थी कि उस अमूल्य वस्तु के लिए वारह वर्ष से साधना तो शवूक कर रहा था पर वह हाथ लगा लक्ष्मण के।

खड्ग ज्योही लक्ष्मण के हाथ मे आया उन्होने सोचा—है तो यह सुन्दर खड्ग ही पर कुछ कार्य भी करता है या नही ? यह देख तो लूं। अर्थात् कही यह केवल गरजने वाले वादल के समान ही तो नही है कि चमकदार होते हुए भी इसमे धार ही न हो। इस भाव से उन्होने सहज भाव से उस खड्ग को उसी झाडी पर चला दिया जिसके अन्दर शवूक ओंधे मुँह लटका हुआ था। पैर ऊपर थे और सिर नीचे। खड्ग चला और उससे झाडी समेत पल भर मे शवूक का मस्तक भी कट गया।

मस्तक के धड से अलग होते ही लक्ष्मण की दृष्टि उस ओर गई कि उनके हाथ से यहाँ अनर्थ हो गया है अर्थात् एक पुरुप मारा गया है तो उन्हे अपार खेद हुआ और अनजान स्थिति मे मारे जानेवाले व्यक्ति की पहचान का प्रयत्न करने लगे कि यह कौन है ? इतने मे ही शूर्पनखा पुत्र के लिए खाना लेकर आई पर उसको मृत देखते ही विलाप करने लगी तथा लक्ष्मण को नाना प्रकार से उपालम्भ देने लगी। लक्ष्मण ने अपने अज्ञान दशा मे किये गये अपराध के लिए शूर्पनखा से वारम्वार क्षमायाचना की तथा आन्तरिक-खेद प्रकट किया।

किन्तु पुत्र-शोक से विह्वल शूर्पनखा महाक्रोध से भी भर गई और अविलम्व घर जाकर अपने पति व देवर से वोली—"कैसा राज्य करते हो तुम ? तुम्हारे राज्य मे ही मेरे निरपराध पुत्र को लक्ष्मण ने मार डाला। धिक्कार है तुम्हे।"

शूर्पनखा के शब्द सुनकर खर, दूषण और त्रिशिरा तीनो भाई लक्ष्मण को मार डालने के लिए आये किन्तु वासुदेव लक्ष्मण का वे क्या बिगाड पाते ? वे तीनो स्वय ही मारे गये ।

अब जरा मन की गति का चमत्कार देखिये ! शूर्पनखा का पुत्र मारा गया तथा पति और देवर भी समाप्त हुए । किन्तु मन का चमत्कार था कि शूर्पनखा लक्ष्मण का देव रूप सौन्दर्य देखकर मोहित हो गई और उनसे बोली—"लक्ष्मण ! तुम मुझे बहुत अच्छे लगे हो और मैं पूर्णतया तुम पर अनुरक्त हो गई हूँ अत मुझे स्वीकार करो ।"

किन्तु वासुदेव के अवतार तथा उत्तम पुरुष लक्ष्मण भला किस प्रकार ऐसा अनाचार कर सकते थे ? उन्होंने उत्तर दिया—"तुम मेरे लिए माता और भाभी के समान हो । क्योकि प्रथमत मेरे ज्येष्ठ बन्धु श्री रामचन्द्रजी के समीप आपने प्रार्थना की है अतः मैं तुमसे कैसे विवाह कर सकता हूँ ? यह कदापि सम्भव नही है ।"

लक्ष्मण का यह उत्तर सुनकर शूर्पनखा जो कि कुमति का रूप थी उसकी मति फिर बदल गई । मन के विषय मे सत्य ही कहा है—

कबहूँ मन गगना चढे, कबहूँ गिरे पताल ।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जावै चाल ॥
मन के तो बहु रंग हैं, छिन-छिन बदले सोय ।
एक रंग मे जो रहे, ऐसा बिरला होय ॥

वस्तुत मन कभी तो ऊपर की ओर अर्थात् उत्तम विचारो की ओर अग्रसर होता है और कभी नीचे की ओर यानी अधमता की ओर गिरता है । इस प्रकार इसके अनेक रग हैं जिन्हे वह क्षण-क्षण मे बदल सकता है ।

शूर्पनखा के मन की भी ऐसी ही गति हुई । पुत्र के मर जाने पर पहले शोक विह्वल, फिर प्रार्थना का स्वीकार नही होने पर क्रोध से लाल-पीली हो गई । और पति तथा देवर आदि के मारे जाने पर लक्ष्मण को देखकर काम-विकार के चगुल मे जा फँसी पर उसमे भी सफल न होने से वैर की आग मे जलने लगी तथा किस प्रकार अपने तिरस्कार का बदला लूं यह विचारती हुई अपने भाई महाशक्तिशाली रावण के पास पहुँची । और वहाँ जाकर क्या किया यह अगले पद्य मे बताया जा रहा है—

मिथ्यामोह रावण के पास वो सुमति सीता की करी वड़ाई ।
सुना वहुत तव लालचवश वहाँ चल आया लंका साई ॥
छल विद्या का नाद सुनाकर, सुमति सीता किवी है चोरी ।
राम लक्ष्मण जव जाना भेद ए, सोचे अव लानी है दोरी ॥
झूठ साहस गति दृष्टि है उसकी सत लक्ष्मण की कारी स्वारी ।
धर्म दशहरा ॥६॥

अव कुमति रूपी शूर्पनखा अपने भाई मिथ्यामोह रूप रावण के समीप आई और उसके समक्ष धर्म रूपी राम की सुमति रूपी पत्नी सीता के सौन्दर्य की अत्यधिक प्रशसा करने लगी । एक कहावत है 'करेला और नीम चढा ।' रावण वैसे ही महाधृ अहकारी और अपनी शक्ति के नशे मे चूर रहने वाला था । सोचने लगा—'ससार की सर्वोत्तम वस्तुएँ मेरे पास ही होनी चाहिए ।' अगर सीता इतनी रूपवती है तो उसे मेरे ही अन्त.पुर की शोभा वढानी होगी।

प्रत्यक्ष मे वहन से वोला—"ऐसी वात है तो मैं सीता को वात की वात मे ले आता हूँ ।"

कहने के अनुसार उसने किया भी । पर राम व लक्ष्मण वासुदेव तथा वलदेव के अवतार थे, अत महान शक्तिशाली होने पर भी उसकी दाल उनके समक्ष नही गल सकती थी । अत उसने वनावटी शखनाद क्रिया और राम लक्ष्मण के दूर चले जाने पर पीछे से सीता को उठाकर ले गया ।

जव रामचन्द्रजी और लक्ष्मण लौटे तथा सीता को अपनी कुटिया मे न पाया तो भारी शोक और चिन्ता मे डूव गये तथा सीता की खोज करने लगे । खोज के दरम्यान घायल जटायु पक्षी के द्वारा पता चला कि सीता को रावण उठाकर ले गया है । इसके अलावा एक और भी वडी वात यह हुई कि मार्ग मे नकली सुग्रीव और असली सुग्रीव की लडाई हो रही है तथा असली सुग्रीव पर जादती की जा रही है । तो राम ने लक्ष्मण को इशारा किया और लक्ष्मण ने नकली सुग्रीव को मारकर असली सुग्रीव को सभी प्रकार की परेशानियो से मुक्त कर दिया ।

अव देखिये कि उसका क्या परिणाम हुआ ?—

सन्तोष सुग्रीव जव भया पक्ष पर वहोत भूप उसकी सगे ।
जाम, जांवुवाहन नील नलादिक सुमन मान हनुमत अंगे ॥
खवर लाया वो सुमति सीता को वहुत जोरावर दुनिया मे ।

दान शियल तप भाव की सेना लेके गये लका ठामे ॥
मिथ्या रावण सुनी बात ए कि वी आपकी हूशियारी ।
धर्म दशहरा ॥७॥

जब नकली सुग्रीव को समाप्त कर दिया तो असली सुग्रीव सन्तुष्ट हो गया । सन्तोप रूपी सुग्रीव जब रामचन्द्रजी के पक्ष मे हो गया तो उसके साथ और भी बहुत से राजा उनके साथ हो गये । महाव्रत रूपी जम्बुवाहन, नील, नल तथा सुमन हनुमान राम के पक्ष मे हो जाने पर सीता की खोज और उसे वापिस लाने की आशा बँध गई । हनुमान ने लका मे जाकर सीता को राम का सन्देश दिया और लौटकर राम को सीता की दशा के विषय में बताया ।

अब केवल एक लक्ष्य ही सामने था—रावण के चगुल से सीता को छुडाना । किन्तु मिथ्यामोह रूपी रावण को परास्त करना सरल बात नही थी उसके लिए भी तो सैन्य बल चाहिए था । पर उनके पास सेना कौन-सी थी ? केवल दान, शील, तप और भाव की चतुरगिणी सेना लेकर वे लका पहुँचे ।

जब रावण को इस बात का पता चला तो उसने भी भारी सैन्य तैयार कर लिया । पर उसकी सेना कौन-सी थी—

चार कषाय राक्षस दल भारी, कुध्यान ध्वजा के फर्रावे ।
अपकीर्ति का बजे नगारा, विकथा का कडखा गावे ॥
कुशील रथ मे बैठा हुशियारी, सात-व्यसन शस्त्रा धारे ।
राग-द्वेष उमराव जोरावर, सहेज सुभट से नहि हारे ॥
नय-नेजा सभाय घोष दे राम आय चढ तिणवारी ।
धर्म दशहरा ॥८॥

रावण की सेना के विषय मे बताया है—क्रोध, मान, माया तथा लोभ आदि चार कषाय रूपी राक्षसो की उसकी सेना है तथा सेना के आगे कुध्यान अर्थात् आर्तध्यान रौद्रध्यान रूपी ध्वजा फहराती है । रणागण मे लोग कडखे गाते हैं तथा नगारे बजाते हैं । रावण की सेना मे भी विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा) रूपी कडखे गाये जाने लगे और अपकीर्ति के नगारे बज उठे ।

रावण कुशील रूपी रथ मे बडी हुशियारी से बैठा है और सात व्यसन रूपी शस्त्रो से लैस हो गया है । राग और द्वेष उसके जोरावर उमराव हैं तथा इन सब के बल पर वह राम से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया है ।

इधर राम भी जैसा कि मैंने अभी बताया था, दान, शील, तप और भाव की चतुरंगिणी सेना के आगे नीति की ध्वजा फहराते हुए तथा स्वाध्याय के नगारे बजाते हुए युद्ध भूमि मे पहुंच गये।

सत लक्ष्मण तव धीरज धनुष ले बैठे शील रथ के माई।
अरू वरू जब मिले आनकर, मिथ्या रावण कूं रीस आई ॥
अज्ञान चक्र भेजा लक्ष्मण पर, जोर चला नहीं लीगारे।
ज्ञान चक्र जब भेजा हरि ने, एकदम मे रावण मारे ॥
राम लक्ष्मण की जीत भई जब जग मे भया जस भारी।
धर्म दशहरा ॥९॥

सत्य रूपी लक्ष्मण अपने धैर्य रूपी धनुष को धारण करके शील रूपी रथ मे सवार होकर आगे बढे। उधर से रावण भी सामने आ गया। दोनो का आमना-सामना हुआ। सत्य रूपी लक्ष्मण को देखकर मिथ्यामोह रूपी रावण क्रोध से भर गया और उसने अपना अज्ञान रूपी चक्र लक्ष्मण पर चला दिया। किन्तु अज्ञान-चक्र सत्य-रूप लक्ष्मण का क्या विगाड सकता था? उसका कोई जोर नही चला और वह लक्ष्मण जी की प्रदक्षिणा करने लगा। रावण ने पुन उसे अपने हाथ मे लेना चाहा पर वह लौटकर नही आया।

शास्त्रो मे वर्णन है—अरिहन्त भगवान, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव को कोई मार नही सकता। वे अपना समय आने पर ही चोला बदलते हैं। लक्ष्मण भी वासुदेव के अवतार थे अत चक्र उनका कुछ भी नही विगाड सका और उलटे उन्ही के हाथ मे आ गया। तारीफ की बात तो यह है कि वही अज्ञान चक्र वासुदेव लक्ष्मण के हाथ मे आकर ज्ञान चक्र बन गया और फिर उसी से स्वय रावण मारा गया। इस प्रकार राम व लक्ष्मण की जीत हुई और चारो तरफ उनका जय-जयकार होने लगा।

उसके पश्चात् क्या हुआ?—

सुमति सीता कू लेकर आए, मुक्ति अयोध्या राज्य करे।
जन्म मरण भय दुःख मिटे, जहाँ राम राजा सो जग मे खरे ॥
सम्वत उगणीसे साल अडतिस का पेठ आंबोरी दक्षिण माई।
विजयादसमी दिन कीवि लावणी, समझदार के दिल माई ॥
तिलोक रिख कहे सत्य रामायण धर्म पर्व यो सुखकारी।
धर्म दशहरा ॥१०॥

सुमति रूपी सीता को मर्यादा पुरुषोत्तम धर्म रूपी राम ने पुन प्राप्त कर लिया । अब सवाल है—धर्म राजा राज्य कहाँ करेगा ? वही जहाँ मुक्ति रूपी अयोध्या है । और जहाँ धर्म राजा राज्य करते हैं वहाँ जन्म-मरण का समस्त दु ख मिट जाता है । राम के पास सच्चाई थी, नीति थी, न्याय था और धर्म था इसलिए आज भी हम उन्हें याद करते हैं जबकि लाखो वर्ष व्यतीत हो गये हैं । पर रावण ने अधर्म और अनीति से काम लिया था जिसके कारण आज तक लोग नफरत से उसका नाम लेते हैं और बनावटी पुतला बनाकर जलाते हैं ।

वन्धुओ, अगर आप इस रामायण का आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो आपके आत्मा का भी कल्याण होगा । धर्म की सदा जय होती है और अधर्म की पराजय । आपको भी धर्म का पक्ष लेना है, धर्म की आराधना करनी है । अगर धर्म पर आप पूर्ण श्रद्धा रखते हैं तो यह रामायण आपकी आत्मा को उन्नत बनाने मे सहायक बनेगी ।